सस्ता साहित्य मंडल : उनसठवां ग्रंथ

रोटीका सवाल

[प्रिंस क्रोपाटकिनकी 'Conquest of Bread' का अनुवाद]

संशोधित संस्करण

सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

विषय-सूची

भूमिका

साम्यवाद और सभी प्रकारके समाजवादपर जो बहुतसे आक्षेप किये जाते हैं उनमेंसे एक यह है कि यह कल्पना इतनी पुरानी है, फिर भी अभीतक कहीं कार्य-रूप नहीं प्राप्त कर सकी। प्राचीन यूनानके तत्त्ववेत्ताओंने आदर्श राज्यकी योजनाएं बनायीं। उसके बाद आरंभिक कालके ईसाइयोंने साम्यवादी समूह स्थापित किये। इसके कई सौ साल बाद जब यूरोपमें धर्म-सुधार आंदोलन आरंभ हुआ तो बड़े बड़े साम्यवादी भ्रातृ-मंडल बन गये। फिर इंगलैंड और फ्रांसकी महान राज्य-क्रांतियोंके समय इन्हीं आदर्शोंका पुनरुद्धार हुआ। अंतमें सन् १८४८ ई०में फ्रांसमें फिर जो राज्य-क्रांति हुई उसके प्रेरक भी बहुत-कुछ समाजवादी आदर्श ही थे। पर आलोचक कहते हैं—"फिर भी तुम्हारी योजनाओंके कार्य-रूप पानेकी दिल्ली अभी कितनी दूर है? क्या इससे तुम यह नहीं सोचते कि तुम्हारे मानव-स्वभाव और उसकी आवश्यकताओंके समझनेमें कोई मौलिक त्रुटि है?"

पहली निगाहमें तो यह एतराज बहुत वजनदार मालूम होता है। किंतु मानव-इतिहासपर थोड़ा गहराईमें उतरकर विचार करनेसे इसमें कुछ दम नहीं दिखाई देता। पहले तो हम देखते हैं कि करोड़ों मनुष्योंने अपनी ग्राम-पंचायतोंमें समाजवादके एक प्रधान तत्त्वको कई सौ सालतक बनाये रक्खा। उसका रूप यह था कि उत्पादनका मुख्य साधन जमीन सबकी सम्मिलित संपत्ति मानी जाती थी और भिन्न-भिन्न कुटुंबोंकी श्रम-शक्तिके अनुसार उनमें बांट दी जाती थी। हम यह भी देखते हैं कि पश्चिमी यूरोपमें भूमिके सार्वजनिक स्वामित्वका नाश किसी भीतरी दोषसे नहीं हुआ, बल्कि बाहरी कारणसे—राज्यके सरदारों और मध्यम श्रेणीवालोंको जमीनका इजारा दे देनेसे हुआ। हमें यह भी मालूम होता है कि मध्यकालीन नगर अपने यहां लगातार कई शताब्दियोंतक उत्पादन और व्यापारका एक प्रकारका समाजवादी संगठन बनाये रहे; और यही वह काल था जिसमें विद्या-कला, शिल्प, उद्योग सबकी उन्नति तीव्र गतिसे हुई। इन साम्यवादी संघोंका ह्रास मुख्यतः इसी दोषसे हुआ कि

लोगोंमें शहर और गांव, किसान और नागरिकको मिला देनेकी योग्यता नहीं थी, जिससे वे मिलकर सेनावादी राज्योंकी वृद्धिका सामना कर सकते। इन राज्योंने ही उन स्वाधीन नगरोंका नाश किया।

इस दृष्टिसे देखनेपर मानव-इतिहासमे साम्यवादके विरुद्ध दलील नहीं मिलती, बल्कि यह दिखाई देता है कि किसी-न-किसी प्रकारका साम्यवादी संगठन स्थापित करनेका प्रयत्न बराबर होता रहा और इन प्रयत्नोको जहां-तहां थोड़ी-बहुत सफलता भी मिलती रही। इससे हम अधिक-से-अधिक यही नतीजा निकाल सकते है कि मनुष्य-जातिको अभीतक साम्यवादी सिद्धांतोके आधारपर कृषिका द्रुतगतिसे बढ़ते हुए उद्योग-धंधों और अंतर्राष्ट्रीय व्यापारके साथ मेल बैठा देनेकी विधि मालूम नहीं हो पायी है। व्यापार इसमें विशेष रूपसे बाधक होता दिखाई देता है, क्योंकि अब दूर-देशोके साथ किये जानेवाले और निर्यातके व्यापारसे केवल व्यक्ति ही करोड़पती नहीं बनते बल्कि समूचा राष्ट्र उन देशोको चूस कर मोटे होते है जो औद्योगिक उन्नतिमें पिछड़े हुए है।

यह अवस्था अठारहवीं सदीके अंतसे आरंभ हुई। पर इसका पूरा विकास हुआ नेपोलियनकी लड़ाइयां खतम हो जानेपर उन्नीसवीं सदीमें ही। आधुनिक साम्यवादको इस बातका ध्यान रखना ही पड़ता है।

अब यह स्पष्ट हो गया है कि फ्रांसकी क्रांतिका राजनैतिक महत्त्व तो था ही, साथ ही सन् १७९३ और १७९४ में वह फ्रांसकी जनताका समाजवादसे कमोबेश मिलती-जुलती तीन भिन्न-भिन्न दिशाओंमें आगे बढ़नेका यत्न भी था। पहला यत्न तो था धनके समान बटवारे का। इसके लिए क्रमशः बढ़नेवाले आय-कर और उत्तराधिकार-कर लगाये गये, जमीन को किसानोंमें थोड़ी-थोड़ी बांट देनेके लिए उसकी जब्ती की गयी, और केवल धनिकोंपर भारी-भारी युद्ध-कर लगाये गये। दूसरा था जीवनके लिए सबसे अधिक आवश्यक वस्तुओंके विषयमें एक तरहके म्युनिसिपल साम्यवादकी स्थापनाका। म्युनिसिपलिटियां ऐसी चीजोंको खरीद लेतीं और लागतके दामपर लोगोंके हाथ बेच देतीं। तीसरा यत्न था सब पदार्थोंके वाजिब भाव नियत कर देनेकी विस्तृत देशव्यापी व्यवस्था,

जिसमें उत्पत्तिकी असली लागत और व्यापारके उचित नफेका ध्यान रखा जाता था। क्रांतिकारी राष्ट्रसभा (नैशनल कंवेंशन) ने इस योजनाको कार्यान्वित करनेके लिए बड़ी कोशिश की, और अपना काम करीब-करीब पूरा कर चुकी थी जब प्रतिक्रिया प्रबल हो उठी।

इसी असाधारण महत्त्ववाले आंदोलनके बीच, जिसका उचित रूपसे अध्ययन अबतक नहीं किया गया, आधुनिक साम्यवादका जन्म हुआ। लीओंमें लॉंज (L'Ange)ने फूरिये-मत चलाया, और बोनारोती, बावफ (Babuf) और उनके साथियोंने सत्तावादी साम्यवादका प्रवर्तन किया। उस महान राज्य-क्रांतिके बाद कुछ ही दिनोंमें आधुनिक समाजवादके सिद्धांतोंके तीन महान जन्म-दाता—फूरिये (Fourier), सेंट साइमन और राबर्ट ओवेन तथा गाडविन प्रकट हुए। और बोनारोती तथा बावफसे आरंभ होनेवाली गुप्त समाजवादी समितियोंने अगले पचास बरसोंके लिए उग्र सत्तावादी समाजवादपर अपनी छाप लगा दी।

इसलिए सच तो यह है कि आधुनिक साम्यवाद अभी सौ वर्षका भी नहीं हो पाया है, और इस सौ सालमेंसे आधे समयतक तो इसके विकासमें केवल दो राष्ट्र—ब्रिटेन और फ्रांस ही भाग लेते रहे, क्योंकि यही दोनों उद्योग-धंधोंमें सबसे आगे थे। साथ ही ये दोनों देश नेपोलियनके पंद्रह वर्षके युद्धोंसे बुरी तरह तबाह हो रहे थे और पूर्वसे आनेवाली यूरोपियन प्रतिक्रियाकी बाढ़में फंस रहे थे।

वस्तुतः, जब फ्रांसमें १८३० की क्रांतिने और इंगलैंडमें १८३०-३२ के सुधार-आंदोलनने इस भयंकर प्रतिक्रियाको पीछे ढकेलना शुरू किया तभी, १८४८ की फ्रेंच क्रांतिके कुछ बरस पहले, साम्यवादपर बहस-विचार होना संभव हुआ। उन्हीं वर्षोंमें फूरिये, सेंट साइमन और राबर्ट ओवेनके अनुयायियोंने अपने नेताओंके आदर्शोंको निश्चित सिद्धांतोंका रूप दिया और तभी आजकल पाये जानेवाले विविध साम्यवादी मतोंकी व्याख्याएं हुईं।

ब्रिटेनमें राबर्ट ओवेन और उनके अनुयायियोंने ऐसे समाजवादी ग्राम बसानेकी योजनाएं बनायीं जिनमें खेती भी हो और उद्योग-धंधे भी चलते रहें। बड़े-बड़े सहयोग-संघ स्थापित किये गये जिसमें उनके मुनाफेसे

और भी समाजवादी बस्तियां बसायी जायं। 'ग्रेट कंसालिडेटेड ट्रेड यूनियन' (संयुक्त श्रमिक-महासंघ) स्थापित किया गया। उसीसे आगे चलकर आजकलके मजदूर दलों और इंटरनेशनल वर्किंग-मेंस एसोसिएशन (अंतर्राष्ट्रीय श्रमिक-संघ) दोनोंकी उत्पत्ति हुई।

फ्रांसमें फूरियेके अनुयायी कांसिदेरां (Consederant) ने अपनी प्रसिद्ध विज्ञप्ति प्रकाशित की। उसमें बड़ी सुंदरतासे पूंजीवादकी वृद्धिकी वह सारी सैद्धांतिक विवेचना दी गयी है जो आजकल 'वैज्ञानिक साम्य-वाद'के नामसे प्रसिद्ध है। प्रूदों (Proudhon) ने अपने राज्यके हस्तक्षेपसे रहित अराजकवाद और अन्योन्याश्रय-वादकी कल्पनाकी व्याख्या की। लुई ब्लांकने अपनी "आरगेनाइजेशन आव लेबर" (श्रमिक संगठन) नामक योजना प्रकाशित की, जो बादमें लासेलका कार्यक्रम ही बन गयी। फ्रांसमें वीदालने और जर्मनीमें लोरेंत्स स्टाइनने क्रमशः १८४६ और १८४७ में दो महत्त्वपूर्ण ग्रंथ प्रकाशित किये और उसमें कांसिदेरांके सिद्धांतोंको और भी विकसित किया। अंतमें वीदालने और विशेषकर पेकरने समष्टिवाद (Collectivism) प्रणालीको ब्यौरे-वार रूप दिया। वीदालकी इच्छा थी कि १८४८ की राष्ट्र-सभा उस प्रणालीको कानूनके रूपमें स्वीकार करले।

जो हो उस समयकी साम्यवादी योजनाओंमें एक सामान्य विशेषता थी जिसे ध्यानमें रखना होगा। उन्नीसवीं शताब्दीके प्रारंभमें साम्यवाद के जिन तीन महान प्रवर्तकोंने लेख या ग्रंथ लिखे वे, जिस सुंदर भविष्य की वह आशा दिलाता था उसकी कल्पनासे, इतने हर्ष-विह्वल हो गये थे कि उसे नया इलहाम समझने और अपनेको एक नये धर्मका प्रवर्तक मानने लगे। साम्यवादने धर्मका पद प्राप्त कर लिया और नये धर्म-संघके अध्यक्ष-रूपमें वे उसकी गतिका नियमन करने लगे। इसके सिवा उन्होंने ऐसे समय लिखा जब फ्रांसमें क्रांतिके बाद प्रतिक्रियाका दौरदौरा था और क्रांतिकी सफलताकी अपेक्षा विफलता ही उन्हें अधिक दिखाई दे रही थी, अतः उनके मनमें साधारण जनतापर विश्वास न रह गया था और जिन परिवर्तनोंको वे आवश्यक मानते थे उनके लिए उन्होंने जनतासे कोई

अपील न की। उनका विश्वास था कि कोई साम्यवादी नेपोलियन, कोई महान शासक ही उनके विचारोंको कार्य-रूप दे सकेगा। वह इस नये ईश्वरादेशको समझेगा। जब वह उनके सामूहिक आवासों (Phalansteries) को सफलतापूर्वक चलते देखेगा तो उसे विश्वास हो जायगा कि नवीन ज्ञान कल्याणकारी है, और अपनी शक्तिसे मनुष्य-जातिको सुख-समृद्धि प्राप्त करानेवाली क्रांतिको शांति-पूर्वक कर डालेगा। सैनिक-विभूति या लोकोत्तर रण-पंडित नेपोलियन कुछ ही पहले यूरोपपर राज्य कर चुका था। फिर ऐसे सामाजिक-विभूतिकी कल्पना भी क्यों न की जाती जो सारे यूरोपका नेता बनकर नयी बाइबिलको वास्तविक जीवनमें कार्यान्वित करदे? इस विश्वासकी जड़ बहुत गहरी थी और उसने बहुत समयतक साम्यवादका रास्ता रोक रखा। उसके अवशेष तो हममें अब भी पाये जाते हैं।

१८४०-४८के बीच जब सब लोगोंको मालूम होने लगा कि क्रांति समीप ही है और जब श्रमिक दलवाले अपने मोर्चोंपर साम्यवादी झंडे उड़ाने लगे, तब कहीं साम्यवादी योजनाएं बनानेवालोंके दिलोंमें जनताका विश्वास फिरसे पैदा होने लगा। एक ओर तो उन्हें प्रजासत्ताक लोकतंत्रमें विश्वास होने लगा, और दूसरी ओर श्रमजीवियोंके बिना किसी दबावके अपने-आप अपना संगठन कर लेनेकी शक्तिमें।

पर इसके बाद फरवरी १८४८ ई० की क्रांति आयी। मध्यमवर्गका प्रजातंत्र स्थापित हुआ और उसके साथ उनकी भग्न आशाएं भी लौटीं। प्रजातंत्रकी घोषणाके चार ही महीने बाद मजदूरोंका विद्रोह हुआ, और वह भारी रक्तपातके बाद कुचल दिया गया। उसके बाद मजदूरोंका कत्लेआम हुआ, बहुतसे लोगोंको देश-निकाला मिला, और अंतमें नेपोलियनका भतीजा लुई नेपोलियन छल-बलसे फ्रांसका सम्राट बन बैठा। साम्यवादियोंका भीषण दमन हुआ और वे इस तरह कुचल दिये गये कि दस-पंद्रह बरसके लिए साम्यवादका नाम-निशानतक मिट गया। उसका साहित्य इस तरह लुप्त हो गया कि १८४८ के पहले जो नाम सबकी जबानपर रहते थे उन्हें लोग एकबारगी भूल गये। प्रचलित साम्यवादी

विचारोंको ऐसी गहरी कब्र दे दी गयी कि बादमें जब हमारी पीढ़ीमें वे प्रकट हुए तो नयी खोज-जैसे मालूम हुए।

परंतु १८६६ के लगभग जब नवीन जागृति हुई और साम्यवाद तथा समष्टिवाद फिर मैदानमें आये तो मालूम हुआ कि इन दोनोंके साधनोंके विषयमें बड़ा विचार-परिवर्तन हो गया है। राजनीतिक लोकतंत्रवादपरसे तो लोगोंका विश्वास उठता जाता था, और जब लंदनमें १८६२ और १८६४ में पेरिसके मजदूरों और ब्रिटिश-ट्रेड-यूनियन वालों तथा राबर्ट ओवेनके अनुयायियोंका सम्मेलन हुआ तो जिस मूल-सिद्धांतपर वे एकमत हुए वह यह था कि "श्रमिकोंको अपना उद्धार स्वयं करना होगा।" वे इस बातपर भी एकमत हो गये कि मजदूर-संघोंको खुद उत्पत्तिके-साधनोंपर कब्जा और उत्पादनका प्रबंध करना होगा। इस प्रकार फूरियेके अनुयायियों और अन्योन्याश्रय-वादियोंकी संघकी फ्रेंच कल्पना राबर्ट ओवेन की 'दि ग्रेट कंसोलिडेटेड ट्रेड्स यूनियन'की, जो अब बढ़कर अंतर्राष्ट्रीय श्रमिक-संघ बन गया है, कल्पनासे मिल गयी।

साम्यवादका यह नव-जागरण भी कुछ ही साल टिका। शीघ्र ही १८७०-७१का जर्मन-फ्रांस युद्ध छिड़ गया और पेरिस-कम्यूनका विप्लव हुआ। इससे फ्रांसमें साम्यवादकी अबाध वृद्धि फिर असंभव हो गयी। पर उधर तो जर्मनीने १८४८ के फ्रांसीसी साम्यवादियोंका साम्यवाद, अर्थात् कांसिदेरां और लुई ब्लांकके सिद्धांत तथा पेकरके समष्टिवादके विचार अपने जर्मन गुरुओं मार्क्स और एंजेल्ससे ग्रहण किये, और इधर फ्रांस एक कदम और आगे बढ़ा।

मार्च १८७१ में पेरिसने यह घोषणा कर दी कि वह अब फ्रांसके पिछड़नेवाले भागोंके लिए न ठहरेगा, और अपनी 'म्युनिसिपल सीमामें ही अपने साम्यवादी विचारोंको कार्यान्वित करेगा।

वह आंदोलन इतने थोड़े दिन टिका कि उससे कोई पक्का नतीजा न निकला। वह स्थानीय स्वतंत्रताका समर्थक मात्र बना रहा। वह कम्यून अथवा प्रदेशोंकी आंतरिक शासनमें पूर्ण स्वतंत्रताका दावा भर करके रह गया। पर पहले 'इन्टरनेशनल' (साम्यवादी अंतर्राष्ट्रीय श्रमिक

सम्मेलन)के श्रमिकोंने उसके ऐतिहासिक महत्त्वको समझ लिया। उन्होंने समझ लिया कि स्वतंत्र कम्यून (स्थानीय सरकार) ही ऐसा साधन है जिसके द्वारा आगे चलकर आधुनिक साम्यवादके विचार कार्यान्वित हो सकेंगे। यह जरूरी नहीं समझा गया कि १८४८ से पहले इंगलैंड और फ्रांसमें उद्योग और कृषि कार्य करनेवाले जिन स्वतंत्र पंचायती ग्रामोंकी इतनी चर्चा थी वे छोटे-छोटे सामूहिक आवास या २००० आदमियोंके समुदाय ही हों। वे तो पेरिस जैसे महानगर या छोटे-छोटे प्रदेश होने चाहियें। कहीं-कहीं यही स्वतंत्र नगर या प्रदेश मिलकर राष्ट्र बन जायंगे और यह आवश्यक नहीं कि वे राष्ट्र आजकलकी राष्ट्रीय सीमाओंके भीतर ही रहें (जैसे कि सिंक बंदरगाह* या हांस-नगर† थे)। इसके साथ-साथ रेल, बंदरगाह आदि अंतर्प्रादेशिक कार्योंके लिए श्रमिकोंके बड़े-बड़े संगठन खड़े हो जायंगे।

कुछ-कुछ इसी प्रकारके विचार १८७१ के बाद विचारशील श्रमिकों के दिमागमें घूमने लगे, विशेषकर लैटिन-भाषी देशों—फ्रांस, स्पेन, इटली आदिमें। उन लोगोंने सोचा कि राज्य सारी औद्योगिक संपत्तिपर कब्जा करे और वही कृषि और उद्योगका अपनी ओरसे प्रबंध करे, इसकी अपेक्षा तो इस तरहके किसी संगठनसे ही साम्यवाद अधिक सरलतासे कार्यान्वित हो सकेगा। उसकी सारी तफसीलें उन सिद्धांतोंके अनुसार जीवन व्यतीत करनेपर अनुभवसे अपने आप तै हो जायंगी।

यही वे विचार हैं जिन्हें न्यूनाधिक निश्चित रूपमें मैंने इस पुस्तकमें प्रकट करनेका यत्न किया है।

इस पुस्तकको लिखे कितने ही वर्ष बीत चुके हैं। उनका सिंहावलोकन करनेपर मैं अंतःकरण-पूर्वक कह सकता हूं कि इसके मुख्य विचार सही थे। राज्य-संचालित समाजवाद (State-Socialism)की सचमुच काफी प्रगति हुई है। राज्यकी रेलें, राज्यके बैंक और राज्यका नशीली चीजोंका व्यवसाय यत्र-तत्र स्थापित हो गये हैं। किंतु इस दिशामें बढ़ाया जानेवाले हरएक कदमसे, चाहे उससे वस्तु-विशेष सस्ती हो गयी हो, मजदूरोंके अपने उद्धारके मार्गमें नयी बाधा उपस्थित हुए बिना नहीं रही। यही कारण

---

* इंगलैंड के कुछ बंदरगाह †इनका परिचय पृष्ठ १२४ के फुटनोट में देखिए।

है कि आज मजदूरोंमें, खासकर पश्चिमी यूरोपमें, यह विचार दृढ़ होता जा रहा है कि रेलवे-जैसी विशाल राष्ट्रीय संपत्तिका संचालन भी राज्यकी अपेक्षा रेलवे मजदूरोंके संयुक्त संघ द्वारा अच्छा हो सकता है।

दूसरी ओर हम देखते हैं कि यूरोप और अमेरिका-भरमें ऐसे असंख्य उद्योग हुए हैं जिनका मुख्य उद्देश्य एक तरफ तो यह है कि उत्पत्तिके बड़े-बड़े विभाग खुद मजदूरोंके हाथोंमें आ जायं, और दूसरी ओर यह कि नगर-वासियोंके हितके जितने कार्य नगर द्वारा किये जाते हैं उनका क्षेत्र सदा अधिकाधिक विस्तीर्ण होता चला जाय। श्रमिक-संघवाद, जिसकी यह प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है कि भिन्न-भिन्न व्यवसायोंका संगठन अंतर्राष्ट्रीय दृष्टि-कोणसे किया जाय, और वे केवल मजदूरोंकी दशा सुधारनेके साधन ही न बनाये जायं बल्कि उन्हें ऐसे संगठनका रूप दिया जाय जो समय आनेपर उत्पत्तिका प्रबंध भी अपने हाथोंमें ले सके; दूसरे उत्पत्ति और वितरणमें तथा उद्योग और कृषिमें भी सहयोगकी स्थापना और आजमाइशी बस्तियोंमें दोनों प्रकारके सहयोगोंको एकमें मिला देनेकी कोशिश; और तीसरा म्युनिसिपल या नागरिक समाजवादका विविधता-भरा मैदान—इधर कुछ बरसोंसे इन्हीं तीन दिशाओंमें रचनात्मक शक्तिका अधिक-से-अधिक विकास हुआ है।

अवश्य ही इनमेंसे कोई भी किसी अंशमें साम्यवाद या समाजवादका भी स्थान नहीं ले सकता। साम्यवाद और समाजवाद दोनोंका अर्थ ही है उत्पत्तिके साधनोंपर सम्मिलित अधिकार। किंतु इन प्रयत्नोंको हमें ऐसे परीक्षण, ऐसे प्रयोग समझना होगा जिनसे मनुष्यकी विचार-शक्ति साम्यवादी समाजके कुछ व्यावहारिक रूपोंकी कल्पना करनेको तैयार होती है। इन सब आंशिक प्रयोगोंका एक-न-एक दिन सभ्य राष्ट्रोंमें से किसीकी रचनात्मक बुद्धि द्वारा समन्वय होकर रहेगा। किंतु जिन ईंटोंसे यह विशाल भवन निर्माण होगा उसके, बल्कि उसके कुछ कमरोंके भी नमूने मनुष्यकी रचनात्मक बुद्धिके विपुल प्रयाससे तैयार हो रहे हैं।

ब्राइटन (इंगलैंड)
जनवरी १९१३

—क्रोपाटकिन

रोटी का सवाल

: १ :

हमारा धन

१

एक समय था जब मनुष्य पत्थरके भद्दे औज़ार बनाता था और शिकारपर गुज़र किया करता था। शिकार कभी मिलता, कभी न मिलता। उस समय वह अपनी सन्तानके लिए बपौतीके रूपमें सिर्फ चट्टानके नीचेका झोंपड़ा और कुछ टूटे-फूटे बरतन भर छोड़ जाता था। प्रकृति उस समय एक विशाल, अज्ञात और डरावनी वस्तु थी। उससे उसे अपने दुःखमय जीवनके लिए घोर संग्राम करना पड़ता था। पर ये बहुत पुराने ज़मानेकी बातें हैं। मानव-जाति तबसे बहुत आगे बढ़ आयी है।

उस अतीत कालके पश्चात् अशान्तिके अनेक युगोंका जो क्रम बीता है उसमें मनुष्य-समाजने बेहिसाब धन-सम्पत्ति सम्पादन करली है। जमीन साफ हुई है; दलदल सुखा लिये गये हैं; जंगल कट गये हैं; सड़कें बन गयी हैं; पहाड़ोंके बीचमें मार्ग निकाल लिये गये हैं। विविध प्रकारकी पेचीदा कलें तैयार हो गयी हैं। प्रकृतिके रहस्य खोज निकाले गये हैं। भाप और बिजली वशमें करके टहलुई बना ली गयी है। परिणाम यह हुआ है कि आज सभ्य मानव-संतानको जन्म लेते ही अपने उपयोगके लिए पूर्वजोंकी अतुल संचित पूंजी उपलब्ध हो जाती है। यह पूंजी इतनी अधिक है कि मनुष्य यदि अपने परिश्रमको दूसरों

के परिश्रमके साथ मिलाकर काम करे तो उसे इतना धन प्राप्त हो सकता है जिसकी अलिफ़लैलाके किस्सोंमें कल्पनातक नहीं की गयी है।

भूमि दूर-दूरतक साफ कर ली गयी है। उसमें उत्तम-से-उत्तम बीज बोया जा सकता है। उसपर खर्च किये गये कौशल और परिश्रम का वह विपुल पुरस्कार देनेको प्रस्तुत रहती है। इस पुरस्कारसे मानव-समाजकी सारी आवश्यकताएँ पूरी हो सकती हैं। सुव्यवस्थित या वैज्ञानिक (Rational) कृषिकी विधि मालूम हो चुकी हैं।

अमेरिकाके विशाल मैदानोंमें शक्तिशाली मशीनोंकी सहायतासे सौ आदमी कुछ मासमें इतना गेहूं पैदा कर सकते हैं जिसे दस हजार मनुष्य एक वर्षतक खाते रहें। जब मनुष्य अपनी पैदावारको दुगुना, तिगुना या सौगुना भी बढ़ाना चाहता है तो वह जमीनको ठीक प्रकार से तैयार कर लेता है, प्रत्येक पौधे पर समुचित ध्यान देता है, और इस प्रकार खूब माल पैदा कर लेता है। पुराने जमानेका शिकारी जब पचास-साठ मील भटकता था तब कहीं उसके कुटुम्बको भोजन मिलता था। आधुनिक मनुष्यके घरका गुजारा उसके सहस्रांश स्थानमें, बहुत कम मेहनतसे और कहीं अधिक निश्चिन्तताके साथ हो जाता है। जल-वायुकी बाधा तो रही ही नहीं। यदि सूर्यदेव रूठ जायँ तो कृत्रिम गरमीसे काम ले लिया जाता है। इतना ही नहीं, अब तो ऐसा समय आता दिखाई दे रहा है जब पेड़-पौधोंकी बाढ़में सहायता पहुंचाने के लिए कृत्रिम प्रकाशका उपयोग किया जायगा। इतना तो अब भी होता है कि कांच और गरम पानीके नलोंके प्रयोगसे नियत रकबोंमें, कुद्रती तौरपर जितनी पैदावार होती है उससे दसगुनी और पचास गुनी पैदावारतक कर ली जाती है।

उद्योग-धन्धोंके क्षेत्रमें जो बड़ी-बड़ी सफलताएं प्राप्त हो चुकी हैं वे और भी विस्मय-जनक है। आधुनिक मशीनोंको ही लीजिए जो अधिकांश में अज्ञात आविष्कारकोंकी तीन-चार पीढ़ियोंके परिश्रमका फल हैं। वे तो बुद्धिमान सविवेक प्राणीकी भांति काम करती हैं। उनके सहयोग से आज-कल सौ आदमी दस हज़ार मनुष्योंके दो वर्षतक पहननेभर

कपड़ा तैयार कर लेते हैं। कोयलेकी सुव्यवस्थित खानोंमें सौ खनिकों की मेहनतसे हर साल इतना कोयला निकल आता है कि दस हज़ार कुटुम्बोंको सरदीके दिनोंमें काफ़ी गरमी मिल सके। हाल में ही एक और अद्भुत दृश्य देखनेमें आने लगा है। वह यह कि अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शनियोंके अवसरपर कुछ मासमें ही शहरके शहर बस जाते हैं। उनसे राष्ट्रोंके नियमित्त कार्यमें ज़रा-सी भी बाधा नहीं पड़ती।

भले ही उद्योग-धन्धों या कृषिमें—नहीं-नहीं, हमारी सारी सामाजिक व्यवस्थामें—हमारे पूर्वजोंके परिश्रम और आविष्कारोंका लाभ मुख्यतः मुट्ठीभर लोगों को ही मिलता हो, फिर भी यह बात निर्विवाद है कि फौलाद और लोहेके उपलब्ध प्राणियोंकी मददसे आज भी इतनी सामग्री उत्पन्न की जासकती है कि हर एक आदमीके लिए सुख और सम्पन्नताका जीवन संभव हो जाय।

वस्तुतः हम समृद्ध हो गये हैं। हमारी सम्पत्ति, हम जितनी समझते हैं, उससे कहीं ज्यादा है। जितनी सम्पत्ति हमारे अधिकारमें आ चुकी है वह भी कम नहीं है। उससे बड़ा वह धन है जो हम मशीनों-द्वारा पैदा कर सकते हैं। हमारा सबसे बड़ा धन वह है जो हम अपनी भूमिसे विज्ञान-द्वारा और कला-कौशलके ज्ञानसे उपार्जन कर सकते हैं, बशर्ते कि इन सब साधनोंका उपयोग सबके सुखके लिए किया जाय।

२

हमारा सभ्य समाज धनवान है। फिर अधिकांश लोग गरीब क्यों हैं? साधारण जनताके लिए यह असह्य पिसाई क्यों है? जब हमारे चारों ओर पूर्वजोंकी कमायी हुई सम्पत्तिके ढेर लगे हुए हैं, और जब उत्पत्ति के इतने जबरदस्त साधन मौजूद हैं कि कुछ घण्टे रोज मेहनत करनेसे ही सबको निश्चित रूपसे सुख-सुविधा प्राप्त हो सकती है, तो फिर अच्छी-से-अच्छी मजदूरी पानेवाले श्रमजीवीको भी कलकी चिन्ता क्यों बनी रहती है?

समाजवादियोंने इस बातको कहा और बिना थके बार-बार दुहराया है। आज भी वे इसी तरह पुकार-पुकार कर कह रहे हैं और सम्पूर्ण शास्त्रोंके प्रमाण दे-देकर इसे सिद्ध कर रहे हैं। वे कहते हैं कि यह दारिद्र्य और चिन्ता इस कारण है कि उत्पत्तिके सब साधन—जमीन, खानें, सड़कें, मशीनें, खाने-पीनेकी चीजें, मकान, शिक्षा और ज्ञान—सब थोड़े-से आदमियोंने हथिया लिये हैं। इसकी दास्तान बड़ी लम्बी है। वह लूट, देश-निकाला, लड़ाई, अज्ञान, और अत्याचारकी घटनाओंसे भरी है। मनुष्यके प्राकृतिक शक्तियोंपर विजय प्राप्त करनेसे पहले उसका जीवन-क्रम यही तो था। दूसरा कारण यह भी है कि पूर्वार्जित स्वत्वोंकी दुहाई देकर ये थोड़े-से आदमी मानव-परिश्रमके दो-तिहाई फलपर कब्जा जमाये बैठे हैं और उसे अत्यन्त मूर्खतापूर्ण तथा लज्जाजनक ढंगसे बरबाद कर रहे हैं। इस सर्वव्यापी दुःखका तीसरा कारण यह है कि इन मुट्ठीभर लोगोंने जनसाधारणकी ऐसी दुर्दशा करदी है कि उन बेचारोंके पास एक महीने क्या एक सप्ताहभरके गुज़ारेका सामान भी नहीं रहता, इसलिए ये लोग उन्हें काम भी इसी शर्तपर दे सकते हैं कि आयका बड़ा हिस्सा इन्हींको मिले। चौथा कारण यह है कि ये थोड़े-से आदमी बाकी लोगोंको अपनी आवश्यकताके पदार्थ भी नहीं बनाने देते और उन्हें ऐसी चीजें तैयार करनेको लाचार करते हैं जो सबके जीवनके लिए जरूरी न हों बल्कि जिनसे इजारेदारोंको अधिक-से-अधिक लाभ हो। बस, इसीमें सारे समाजवादका सार-तत्त्व है।

किसी सभ्य देशको लीजिए। उसमें जहाँ पहले जंगल और दलदल भरे पड़े थे वहाँ अब साफ-सुथरे मैदान और अच्छी जल-वायु है। वह अब रहने लायक बन गया है। भूमिपर जहाँ पहले घास-पात और जंगली पेड़-पौधेभर उगते थे वहाँ अब बहुमूल्य फसलें उपजती हैं। पहाड़ोंकी घाटियोंमें चट्टानोंकी दीवारें काट-काट कर चबूतरे बना दिये गये हैं और उनपर अंगूरकी बेलें लगा दी गयी हैं। जिन जंगली पौधोंसे पहले खट्टे बेरों और अखाद्य कन्द-मूलके सिवाय और कुछ न मिलता था, सैकड़ों सालके सुधार-संस्कारसे उनकी कायापलट कर दी गयी

है। आज वे बढ़िया तरकारियों और स्वादिष्ट फलोंसे लदे रहते हैं। पृथ्वी-तलपर हजारों सड़कों और रेलवे-लाइनोंका जाल-सा बिछ गया है, और पर्वतोंके आरपार सुरंगें बन गयी है। आल्प, काफ और हिमालय पर्वतोंकी निर्जन घाटियोंमें एञ्जिनका चीत्कार सुनाई पड़ने लगा है। नदियोंमें जहाज चलने लगे हैं। समुद्रतटोंकी भली-भाँति पैमाइश होकर वे सुगम बना लिये गये हैं। वहाँ खोद-खादकर कृत्रिम बन्दरगाह बना लिये गये हैं, जहाँ जहाज़ोंको आश्रय मिलता है और समुद्रका कोप-तूफान भी उनका कुछ बिगाड़ नहीं सकता। चट्टानोंमें गहरी खानें खोद ली गयी हैं और भूगर्भमें चक्करदार गैलरियाँ निर्माण कर ली गयी हैं जहाँसे कोयला आदि खनिज पदार्थ निकाले जा सकें। राजमार्गोंके मिलन-स्थलोंपर बड़े-बड़े शहर बस गये है, जिनके अन्दर उद्योग, विज्ञान और कलाकी सब निधियाँ एकत्र कर ली गयी हैं।

हमको इस सदीमें जो विशाल वैभव उत्तराधिकारमें मिला है वह उन लोगोंका संचित किया हुआ है जो पीढ़ियोंतक दुःखमें ही जिये और मरे, अपने स्वामियोंके अत्याचार और दुर्व्यवहार सहन करते रहे और अंत में घोर परिश्रमसे ही जर्जर होकर चल बसे।

सहस्रों वर्षोंतक करोड़ों आदमियोंने जंगलोंको साफ करने, दल-दलोंको सुखाने तथा जल और स्थल-मार्ग बनानेके लिए घोर परिश्रम किया है। जिस धरतीपर हम आज खेती करते हैं उसके कण-कणको मानव जातिकी कई नसलोंने अपने पसीनेसे सींचा है। हर-एक एकड़ पर बेगार, जानमार मेहनत और जन-साधारणके कष्टोंकी कहानी लिखी हुई है। रेल-मार्गके प्रत्येक मीलपर, टनल (पहाड़ी सुरंग) के प्रत्येक गज़पर मानव-रुधिरकी बलि चढ़ी है।

खानोंकी दीवारोंपर आज भी खोदनेवालोंकी कुदालोंके चिन्ह बाक़ी हैं। वहाँके खम्भोंके बीच जो स्थान है वहाँ न जाने कितने मज-दूरोंकी कब्रें बनी हैं। और यह कौन कह सकता है कि ऐसी हरएक कब्रपर आँसु, उपवास और अकथनीय दुर्दशाकी कितनी लागत लगी है। ऐसे कितने अभागे परिवार होंगे जिनका आधार एक मज़दूरकी थोड़ी-सी

मज़दूरीभर रहा होगा, और वही भरी जवानीमें खानमें आग लगने, चट्टान टूट पड़ने या बाढ़ आजाने से चल बसा होगा।

शहरोंकी बात भी ऐसी ही है। उनका एक-दूसरेसे रेल और जल-मार्गोंके द्वारा सम्बन्ध है। उन्हें खोदकर देखिए। उनकी तहमें एक-पर-एक बाज़ारों, घरों, नाट्य-शालाओं और सार्वजनिक इमारतोंकी बुनियादें मिलेंगी। उनके इतिहास खोजिए, आपको विदित होगा कि किस प्रकार उस नगरकी सभ्यता, उसके उद्योग और उसकी विशेषताओंका क्रमविकास हुआ है, और किस प्रकार नागरिकोंकी पीढ़ियोंके सहयोगसे उसे आधुनिक रूप प्राप्त हुआ है। प्रत्येक मकान, कारखाने और गोदामका मूल्य जिस प्रकार लाखों मजदूरोंके सम्मिलित श्रमसे, जो अब परलोक सिधार चुके हैं, कायम हुआ है, उसी प्रकार आज भी उस भूखंडमें बसनेवाले बहुसंख्यक श्रमजीवियोंकी उपस्थिति और श्रमसे उस मूल्यकी रक्षा हो रही है। जो राष्ट्रोंकी सम्पत्ति कही जाती है उसके प्रत्येक परमाणुका महत्त्व इसीमें तो है कि वह एक महान वस्तुका अंश है। यदि लंदनका एक जहाजी अड्डा या पेरिसका एक बड़ा माल-गोदाम अंतर्राष्ट्रीय व्यापारके इन महान केंद्रोंमें न हो तो उसका महत्त्व ही क्या होगा? यदि जल और स्थल-मार्गसे नित्य लाखों-करोड़ों रुपयेका तिजारती माल एक स्थानसे दूसरे स्थानको न भेजा जाय तो खानों, कारखानों और रेलोंकी क्या दशा हो?

जिस सभ्यतापर हमें आज गर्व है उसके निर्माणमें करोड़ों मानव-प्राणियोंका हाथ रहा है और करोड़ों मनुष्य पृथ्वीके भिन्न-भिन्न भागोंमें इसे बनाये रखनेके लिए परिश्रम कर रहे हैं। उनके बिना पचास वर्षमें ही खंडहरोंके सिवाय कुछ बाकी न रहेगा।

एक भी विचार, एक भी आविष्कार, जिसका उदय अतीत कालमें हुआ हो या वर्तमान में, ऐसा नहीं है जो सबकी सम्पत्ति न कहा जा सके। ऐसे हजारों ज्ञात और अज्ञात आविष्कारक हुए हैं जो खुद दरिद्रतामें ही मर गये, किन्तु उन्हींके सहयोगसे ये मशीनें निकली हैं जो मानवीय प्रतिभाका मूर्त्त रूप हैं।

सहस्रों लेखकों, कवियों एवं विद्वानोंने ज्ञानकी वृद्धि, भ्रम-निवारण और वैज्ञानिक विचारके वातावरणकी रचनाके लिए श्रम किया है, जिसके बिना इस शताब्दिके चमत्कार असम्भव थे। और स्वयं इन हज़ारों तत्त्ववेत्ताओं, कवियों, विद्वानों एवं आविष्कारकोंको पिछली सदियोंके परिश्रमका सहारा मिला है। क्या भौतिक और क्या मानसिक, इनके जीवनका आधार और पोषण सब प्रकारके बहुसंख्यक श्रमजीवियों और कारीगरोंसे ही प्राप्त हुआ है। उन्हे प्रेरणा तो आस-पासकी परिस्थितिसे ही मिली है।

इसमें सन्देह नहीं कि नवीन दिशाओंमें उद्योगोंका विस्तार संसारके सारे पूंजीपतियोंकी अपेक्षा वैज्ञानिकोंकी प्रतिभाके कारण ही अधिक हुआ है। किन्तु प्रतिभाशाली पुरुष भी तो उद्योग और विज्ञानकी ही संतान हैं। जबतक भापके हज़ारों एञ्जिन सबकी आँखोंके सामने वर्षोंतक चल न चुके थे और उनके द्वारा ताप संचालक शक्तिमें और संचालक शक्ति शब्द, प्रकाश और विद्युतमें बराबर परिणत नहीं होने लगी थी, तबतक प्रतिभा यन्त्र-शक्तिके उद्‌गम-स्थान और भौतिक शक्तियोंकी एकताकी घोषणा ही कहाँ कर सकी थी? और यदि उन्नीसवीं सदीके लोगोंकी समझमें यह बात आगयी है और अब हम इसका करना भी जान गये हैं तो इसका कारण भी यही है कि रोज़मर्राके तजुर्बेने हमारा रास्ता साफ कर दिया है। यह बात तो अठारहवीं शताब्दिके विचारकोंकी समझमें भी आगयी थी और उन्होंने इसे प्रकट भी कर दिया था। परन्तु इसका विकास इसलिए नहीं होपाया कि हमारे युगकी भाँति उस समय बाष्प-यन्त्रकी इतनी प्रगति नहीं हुई थी। यदि बाष्प-यन्त्रके आविष्कारक जेम्सवाटको ऐसे चतुर कारीगर न मिलते जो उसकी कल्पनाओंको धातुके सांचेमें ढाल सकते थे, यदि वे उसके एंजिनके सब पुरजोंको यथायोग्य रूप न दे सकते, तो क्या आज भापको मशीनमें बन्द करके घोड़ेसे भी अधिक आज्ञाकारी और पानीसे भी अधिक सरल बनाया जा सकता था? और क्या आधुनिक उद्योग-धंधोंमें यह क्रांति हो सकती थी?

प्रत्येक यंत्रका यही इतिहास है—वही रात-रातभर जागना, वही दरिद्रता, वही निराशाएं, वही हर्ष और वही अज्ञात मजदूरोंकी कई पीढ़ियों-द्वारा किये गये आंशिक सुधार, जिनके बिना अधिक-से-अधिक उर्वरा कल्पना-शक्ति भी बेकार ही सिद्ध होती। इसके अतिरिक्त एक बात और है। प्रत्येक नया आविष्कार एक योग है—ऐसे असंख्य आविष्कारों का परिणाम है जो यंत्र-शास्त्र और उद्योग-धंधोंके विशाल क्षेत्रमें उससे पहले हो चुके हैं।

विज्ञान और उद्योग, ज्ञान और प्रयोग, आविष्कार और व्यावहारिक सफलता, मस्तिष्क और हाथका कौशल, दिमाग और पुट्ठोंका परिश्रम—ये सब साथ-साथ काम करते हैं। प्रत्येक आविष्कार, प्रत्येक प्रगति और मानव-संपत्तिमें प्रत्येक वृद्धि भूत और वर्तमान कालके सम्मिलित शारीरिक और मानसिक श्रमका फल होती है।

फिर किसीको क्या अधिकार है कि वह इस सम्पूर्ण वस्तुका एक टुकड़ा भी छीनकर यह कह सके कि यह तो मेरा है, तुम्हारा नहीं ?

२

परन्तु मानव इतिहासमें जो अनेक युग बीते हैं उनमें धीरे-धीरे यह स्थिति हो गयी है कि जिन साधनोंसे मनुष्य संपत्ति और अपनी उत्पादक-शक्ति बढ़ाता है वे सब थोड़े-से लोगोंने हथिया लिये हैं। आज यह हाल है कि जमीनका असली मूल्य तो है बढ़ती हुई जनसंख्याकी आवश्यकताओंके कारण, परन्तु वह है ऐसे मुट्ठी-भर आदमियोंके अधिकारमें जो उसपर जनसाधरण को पहले तो खेती करने ही नहीं देते और करने देते भी हैं तो आधुनिक ढंगसे नही। खानोंकी बात भी ऐसी ही है। वे बनी तो हैं कई पीढ़ियोंके परिश्रमसे और उनका सारा मूल्य भी राष्ट्र-विशेषकी औद्योगिक आवश्यकताओं और जन-संख्याकी अधिकतासे ही है, पर उनपर आधिपत्य है थोड़े-से व्यक्तियों का। और यदि इन व्यक्तियोंको अपनी पूँजी लगानेके लिए दूसरे अधिक लाभदायक क्षेत्र मिल जाते हैं तो या तो ये कोयला निकालना ही बंद कर देते हैं या थोड़ा निकालने

लगाते हैं। मशीनोंपर भी अल्पसंख्यक आदमियोंका एकाधिकार हो गया है। यद्यपि किसी भी मशीनके प्रारंभिक भद्दे रूपसे क्रमशः जितने सुधार हुए हैं वे सब तीन-चार पीढ़ियोंसे काम करनेवाले मजदूरोंके किये हुए हैं तो भी उस मशीनके एक मात्र स्वामी ये थोड़े-से लोग ही रहते हैं। बात यहाँतक बढ़ गयी है कि जिस आविष्कारकने एक शताब्दि पूर्व गोटा बनानेकी पहली मशीन बनायी थी आज यदि उसीकी सन्तान गोटेके कारखानेमें जाकर अपने स्वत्वका दावा करें तो उन्हे भी यही जवाब मिलेगा कि "दूर रहो, यह मशीन तुम्हारी नहीं है।" वे यदि उस मशीन पर कब्जा करनेका प्रयत्न करेंगे तो गोलीके निशाना बना दिये जायँगे।

इसी प्रकार यदि लाखोंकी आबादी, उद्योग, व्यापार और मण्डियाँ न हों तो रेलवे भी पुराने लोहेकी तरह पड़ी-पड़ी सड़ा करें। परन्तु इन पर भी इने-गिने हिस्सेदारोंका ही अधिकार है। इन हिस्सेदारोंको शायद यह भी मालूम नहीं होता कि जिन रेलवे लाइनोंसे उन्हें मध्यकालके राजाओंसे भी ज्यादा आमदनी होती है वे हैं कहाँ कहाँ। इन रेल-मार्गोंको पर्वतोंके बीचसे होकर खोदते समय हजारों मजदूर मौतके शिकार हुए हैं। अगर किसी दिन इन महानुभावोंके सामने उन्हीं मजदूरोंके बच्चे चीथड़े लपेटे और भूखों मरते हाजिर होकर रोटीका सवाल कर बैठें तो उन्हें संगीनों और छुरोंसे जवाब मिलेगा और 'स्थापित स्वार्थों' (Vested interests) की रक्षाके लिए वे वहां से मार भगाये जायँगे।

यह इसी दानवी पद्धतिकी कृपा है कि जब मजदूरका बेटा जीवन-पथपर अग्रसर होता है तो जबतक वह अपनी कमाईका बड़ा हिस्सा मालिकको नजर करना कबूल नहीं करता तबतक न तो उसे खेती करने को जमीन मिलती है, न चलानेको मशीन और न खोदनेको खान। उसे अपनी मेहनत थोड़ी-सी—और वह भी बे-भरोसेकी—मजदूरीपर बेचनी पड़ती है। उसके बाप-दादाने इस खेतको साफ करने, इस कारखानेका निर्माण करने और इस यंत्रको सर्वांग पूर्ण बनानेमें अपना लहू-पसीना एक किया था। इस काममें उन्होंने अपनी सारी शक्ति लगा दी थी। इससे अधिक उनके पास और देनेको था भी क्या? पर उन्हींका उत्तराधिकारी

जब संसारमें प्रवेश करता है तो वह अपने आपको जंगली-से-जंगली आदमियोंसे भी कंगाल पाता है। अगर उसे जमीन जोतनेकी मंजूरी मिलती भी है तो इस शर्तपर कि पैदावारकी एक चौथाई तो वह मालिकके अर्पण करे और दूसरी चौथाई सरकार और साहूकारके। और सरकार, पूंजीपति, जागीरदार और बीचवाले व्यापारीका लगाया हुआ यह कर सदा बढ़ता ही रहता है। इसके मारे उसके पास अपनी खेती का तरीका सुधारनेकी शक्ति क्वचित् ही बचती है। कल-कारखानोंकी ओर जाता है तो उसे काम मिल जाता है—वह भी सदा नहीं—,लेकिन इस शर्तपर कि उत्पत्तिका आधा या दो-तिहाई वह उस व्यक्तिको देदे जिसे दुनियाने मशीनका मालिक मान रक्खा है।

हम पिछले जमानेके भूस्वामियोंपर इसलिए 'धिक्कार-धिक्कार' के नारे लगाते हैं कि वे किसानसे चौथ वसूल किये बिना उसे जमीनपर फावड़ातक न चलाने देते थे। उस जमानेको हम बर्बरताका युग कहते हैं। पर रूप भले ही बदल गया हो, किसान और जमींदारके बीच सम्बन्ध तो वैसा-का-वैसा ही है। नाम तो है स्वतंत्र शर्तनामेका, किन्तु उसकी आड़में मज़दूर पर भार वही जागीरदारोंकी-सी शर्तोंका लादा जाता है। वह कहीं भी जाय, उसे हर जगह एक-सी स्थिति मिलती है। सब चीजें व्यक्तिगत संपत्ति बन गयी हैं। इस स्थितिको स्वीकार करो या भूखों मरो।

इस स्थितिका परिणाम यह हुआ है कि हम जो कुछ भी पैदा करते हैं, गलत ढंगसे, उल्टी दिशामें करते हैं। उद्योग-धंधोंमें समाजकी आवश्यकताका ख़याल नहीं किया जाता। उनका एकमात्र उद्देश्य सट्टेबाजोंके मुनाफेमें वृद्धि करना रह गया है। यही कारण है कि व्यापारमें सदा उतार-चढ़ाव और बीच-बीचमें हड़तालें आदि होती रहती हैं। इनमें से एक-एकके कारण हजारों मजदूर बेकार होकर दर-दर भीख मांगने लगते हैं।

बेचारे मजदूरोंको तो इतनी मजदूरी भी नहीं मिलती कि वे अपनी बनायी हुई चीजें खुद खरीद लें। इसीलिए दूसरे राष्ट्रोंके धनिक वर्गमें अपना माल खपानेकी कोशिश की जाती है। यूरोप-वालोंको इस तरह मजबूर होकर पूर्वीय देशोंमें—अफ्रीकामें, मिश्रमें, टांकिङ्गमें या कांगोमें—

सर्वत्र दासत्वकी वृद्धि करनी पड़ती है। यही वे करते भी हैं, किन्तु उन्हें शीघ्र ही पता लग जाता है कि सब जगह एकसे ही प्रतिस्पर्धी होते हैं। सब राष्ट्रोंका विकास एक ही ढंगसे होता है। फलतः बाजारपर प्रभुत्व प्राप्त करनेके लिए आये-दिन संग्राम करने पड़ते हैं। पूर्वपर अधिकार जमानेके लिए लड़ाई, समुद्रपर साम्राज्य स्थापित करनेकी खातिर लड़ाई, आयात-पर कर लगानेके हेतु लड़ाई, पड़ोसी राष्ट्रोंको शर्तोंके पाशमें बांधनेके निमित्त लड़ाई, विद्रोही 'काली' जातियोंको सीधा करनेके लिए लड़ाई, गर्ज कि बात-बातमें लड़ाई मोल ली जाती है। संसारमें तोपोंकी गर्जना कभी बंद ही नहीं हो पाती। जातियोंकी जातियोंका वध कर दिया जाता है। यूरोपके राष्ट्र अपनी आयकी तिहाई केवल अस्त्र-शस्त्रपर खर्च कर डालते हैं। और हम जानते हैं कि यह कर-भार बेचारे मजदूरोंके लिए कैसा कमर-तोड़ होता है।

शिक्षाका लाभ भी मुख्यतः मुट्ठी-भर लोगोंको ही मिलता है। जब मजदूरोंके बच्चोंको दस-बारह वर्षकी उम्रसे ही खानमें उतरकर या खेत पर जाकर अपनी मेहनतसे माता-पिताकी मदद करनी पड़ती हो तब उनके लिए शिक्षाकी सुविधा ही कहाँ? जो मजदूर घोर परिश्रम और उसके पाशविक वायुमण्डलसे थककर शामको घर लौटता हो उसके लिए अध्ययन कैसा? इस प्रकार समाजको दो विरोधी दलोंमें विभक्त रहना पड़ता है। ऐसी हालतमें स्वतन्त्रता तो सिर्फ कहने-सुननेकी वस्तु रह जाती है। सुधारक पहले तो राजनीतिक अधिकारकी वृद्धिकी मांग करता है, पर उसे जल्दी ही मालूम हो जाता है कि स्वाधीनताकी हवासे गरीब लोगोंमें प्राणका संचार होने लगता है। तब वह पीछे हटता है, अपना मत बदल लेता है और दमनकारी कानून और तलवारके शासनका सहारा लेता है।

फिर इन विशेष अधिकारोंकी रक्षाके लिए अदालतों, न्यायाधीशों, जल्लादों, सिपाहियों और जेलरोंके बड़े भारी दलकी आवश्यकता होती है। इस दलके फल-स्वरूप गुप्तचर, झूठी गवाही, धमकी और दुराचार आदिकी व्यवस्थाका जन्म होता है।

जिस व्यवस्थाके अंदर हम रहते हैं वह हममें सामाजिक भावनाको

नहीं पनपने देती। हम सब जानते हैं कि ईमानदारी, स्वाभिमान, सहानुभूति और सहयोगके बिना मानव-जाति भी इसी तरह नष्ट हो जायगी जिस प्रकार दस्युवृत्तिपर गुजर करनेवाली कुछ पशु-जातियाँ अथवा दास बनानेवाली चींटियाँ नष्ट हो जाती हैं। किंतु ऐसे विचार शासक वर्गको अच्छे नहीं लगते। उसने इनके विरुद्ध पाठ पढ़ानेके लिए एक पूरा झूठा शास्त्र ही रच डाला है।

"जिनके पास कुछ है उन्हें ऐसे लोगोंको हिस्सा देना चाहिए जिनके पास कुछ नहीं है"—इस सूत्रपर व्याख्यान तो बड़े सुंदर-सुंदर दिये गये हैं, किंतु कोई इस सिद्धांतका अनुसरण करने लगे तो उसे तुरंत सूचना दे दी जायगी कि ये भव्य भाव काव्यके लिए ही अच्छे हैं, व्यवहार में लानेयोग्य नहीं हैं। कहा तो यह जाता है कि "झूठ बोलना अपने आपको गिराना और कलंक लगाना है", फिर भी सारा सभ्य जीवन एक विराट् असत्य बन रहा है। हम अपने आप और अपनी संतानको भी धोखेबाजी और दोरुखी नीतिके आदी बना लेते हैं। पर चूँकि झूठसे चित्त अशांत रहता है इस कारण हम आत्मवंचनाका सहारा लेते हैं। इस प्रकार छल और आत्मवंचना सभ्य मनुष्यका स्वभाव-सा हो जाता है।

परंतु समाज इस तरहसे जीवित नहीं रह सकता। उसे सत्यकी ओर जाना ही पड़ेगा, अन्यथा उसका नाश अनिवार्य है।

इस प्रकार एकाधिकारकी आरंभिक बुराईसे पैदा हुए परिणाम सारे सामाजिक जीवनमें व्याप्त हो जाते हैं। जब मृत्यु सामने दीखने लगती है तब मानव-समाज फिर मूल सिद्धांतोंका आश्रय लेनेको विवश होता है। जब उत्पत्तिका साधन मनुष्योंका सम्मिलित परिश्रम है तो पैदावार भी सबकी संयुक्त सम्पत्ति ही होनी चाहिए। व्यक्तिगत अधिकार न न्याय्य है, न उपयोगी। सब वस्तुएँ सबकी हैं। सब चीजें सबके लिए हैं, क्योंकि सभीको उनकी जरूरत है, सभीने उन्हें बनाने-उपजानेमें अपनी-अपनी शक्तिभर श्रम किया है, और जगतकी सम्पत्तिके निर्माणमें किसने कितना योग दिया है, इसका हिसाब लगाना असम्भव है।

सब चीजें सबके लिए हैं। औजारोंका विशाल भंडार विद्यमान है।

जिन्हें हम यंत्र या मशीन कहते हैं वे लोहेके गुलाम हमारी नौकरीमें हाजिर हैं। वे हमारे लिए चीरने और रन्दा करने, कातने और बुनने, बिगाड़ने और फिर बनाने और कच्चे मालकी अद्भुत वस्तुएँ बना कर देनेके लिए हाथ बाँधे खड़े रहते हैं। किन्तु किसीको इनमेंसे एकको भी अपने कब्जेमें करके यह कहनेका हक नहीं है कि "यह मेरी चीज है, तुम्हें इससे काम लेना हो तो अपनी हर एक पैदावर पर मुझे कर देना होगा।" इसी प्रकार मध्यकालीन भूस्वामियोंको भी किसानोंसे यह कहने का हक नहीं था कि "यह पहाड़ी, यह चारागाह मेरी है। इसमें से जितने पूले धान या घास काटो, प्रत्येकपर मुझे लगान हवाले करना होगा।"

सारा धन सबका है। यदि स्त्री और पुरुष सब मेहनतमें वाजिब हिस्सा दें तो सबकी बनायी हुई चीजोंसे उन्हें उचित भाग पानेका अधिकार है। वह भाग उनके सुखके लिए काफी है। अब ये थोथे सूत्र नहीं चलेंगे कि "सबको काम करनेका अधिकार है" अथवा "सबको अपनी-अपनी मेहनतका सारा फल मिलना चाहिए।" हम तो यह घोषित करते हैं कि **'सुख पानेका सबको हक है और वह सबको मिलना चाहिए।'**

: २ :

सबका सुख

१

सबको सुख मिले, यह कोई स्वप्न नहीं है। सबको सुख मिलना संभव है और वह मिल भी सकता है, क्योंकि हमारे पूर्वजोंने उत्पादन शक्तिको बहुत बढ़ा दिया है।

वस्तुतः हम जानते हैं कि यद्यपि उत्पत्तिके काममें लगे हुए लोगों की संख्या मुश्किलसे सभ्य संसारके निवासियोंकी एक-तिहाई होगी तथापि वे आज भी इतना माल पैदा कर लेते हैं जिससे प्रत्येक घर एक खास हद्तक सुखी हो सकता है। हमें यह मालूम है कि जो दूसरोंकी खरी कमाई बर्बाद करनेमें ही लगे हुए हैं, वे सबलोग यदि किसी उपयोगी कार्यमें अपना ख़ाली समय व्यतीत करनेको विवश किये जा सकें तो हमारी उत्पत्तिका परिमाण बहुत बढ़ जाय। इसी प्रकार यह भी मालूम हो चुका है कि मानव-जातिकी संतानोत्पादन शक्तिसे माल पैदा करनेकी शक्ति तेज है। भूमिपर मनुष्योंकी जितनी घनी बस्ती होगी, उतनी ही उनकी सम्पत्ति उत्पन्न करनेकी शक्ति बढ़ेगी।

इंग्लैंडमें सन् १८४४ से १८९० तक आबादी सिर्फ ६२ फीसदी बढ़ी, पर वहाँकी उत्पत्ति कम-से-कम उससे दुगुनी बढ़ी, अर्थात् १३० फीसदी। फ्रांसमें आबादी और भी धीरे-धीरे बढ़ी है, परन्तु उत्पत्तिकी वृद्धितो वहाँ भी बहुत तेज ही हुई है। यद्यपि वहाँ खेतीपर बारबार संकट आये हैं, राज्यके हस्तक्षेप, 'रक्तकर' (अनिवार्य भरती) और व्यापार तथा लेन-देनमें सट्टेबाजीकी बाधाएँ रही हैं, फिर भी पिछले अस्सी वर्षोंमें गेहूँकी उत्पत्ति चौगुनी और कल-कारखानोंके मालकी उत्पत्ति दस गुनी बढ़ गयी है। अमेरिकामें तो प्रगति इससे भी अधिक हुई है। यद्यपि

विदेशोंके लोग वहाँ आ-आकर बस गये, या सच तो यह है कि यूरोपके फ़ालतू श्रमिक वहाँ जाकर भर गये, फिर भी संपत्ति दसगुनी बढ़ गयी है।

परन्तु इन आँकड़ोंसे तो संपत्तिकी उस वृद्धिका धुंधला-सा ही अनुमान हो सकता है जो परिस्थितिके और अच्छी हो जानेपर हो सकती है, क्योंकि आजकल तो जहाँ हमारी संपत्ति-उत्पादनकी शक्ति शीघ्रतासे बढ़ी है वहाँ साथ-ही-साथ निठल्ले और बीचवाले लोगोंकी संख्या भी बहुत अधिक बढ़ी है। समाजवादियोंका खयाल था कि पूंजी धीरे-धीरे थोड़े से व्यक्तियोंके हाथमें ही केन्द्रीभूत हो जायगी और फिर समाजको अपना न्याय्य उत्तराधिकार पानेके लिए केवल उन मुट्ठी भर करोड़पतियों की संपत्ति ले लेनी पड़ेगी। पर वास्तव में बात उल्टी ही होरही है; मुफ़्तखोरोंका दल बराबर बढ़ ही रहा है।

फ्रांसमें हर तीस आदमी पीछे दस भी वास्तविक उत्पादक नहीं हैं। देशकी सारी कृषि-संपत्ति सत्तर लाखसे भी कम आदमियोंकी कमाई है और खानों तथा कपड़ेके दोनों प्रधान उद्योगोंमें पचीस लाखसे भी कम मजदूर हैं। मजदूरोंको लूट-लूटकर खानेवाले कितने हैं। ब्रिटिश संयुक्त-राज्यमें स्त्री-पुरुष और बालक मिलाकर कुल दस लाखसे कुछ ही अधिक मजदूर कपड़ेके धंधेमें लगे हैं, नौ लाखसे कुछ कम मजदूर खानोंमें काम करते हैं, भूमि जोतने बोनेमें भी बीस लाखसे बहुत कम मजदूर काम करते हैं और पिछली औद्योगिक गणनाके समय सारे उद्योग-धंधों में चालीस लाखसे कुछ ही अधिक स्त्री-पुरुष और बालक थे। फलतः गणना-विभाग वालोंको अपने गणनांक बढ़ाने पड़े, इसलिए कि साठ करोड़ जन-संख्यापर उत्पादकोंकी संख्या अस्सी लाख दिखाई जा सके। सच पूछिए तो जो माल ब्रिटेनसे दुनियाके हर हिस्सेमें भेजा जाता है उसका निर्माण करने वाले साठ-सत्तर लाख मजदूर ही हैं। और इसके मुकाबिलेमें जो लोग मजदूरोंकी मेहनतका बड़े-से-बड़ा लाभ स्वयं ले लेते हैं और उत्पादक और खरीदारके बीचमें पहुँचकर बिना श्रम किये संपत्ति संचित कर लेते हैं, उनकी संख्या कितनी है ?

किंतु इस शक्तिके द्रुत विकासके साथ-साथ निठल्ले और बीचवाले

दलालोंकी संख्यामें भी भारी वृद्धि हो रही है। यदि पूंजी धीरे-धीरे थोड़ेसे आदमियोंके हाथमें ही एकत्र होती जाय तब तो समाजको केवल इतना ही करना पड़े कि मुट्ठीभर करोड़पतियोंसे छीनकर वह जिनकी है उन्हें दे दी जाय। पर बात समाजवादियोंकी इस कल्पनाके सर्वथा विपरीत हो रही है। मुफ्तखोरोंका दल बुरी तरह बढ़ता जा रहा है।

इतना ही नहीं, पूँजीपति लोग मालकी पैदावार भी बराबर घटाते रहते हैं। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि 'आयस्टर' (घोंघों) की गाड़ियों-की-गाड़ियाँ समुद्रमें सिर्फ इसलिए फेंक दी जाती हैं कि जो चीज आजतक केवल धनवानोंके उपभोगकी वस्तु थी वह कहीं गरीबोंका खाद्य न बन जाय। और भी सैकड़ों विलास-वस्तुओंका यही हाल होता है। वे कहांतक गिनायी जायं!, केवल यह याद रख लेना काफी है कि किस प्रकार अत्यंत आवश्यक वस्तुओंकी पैदावार सीमित की जाती है। लाखों मजदूर रोज कोयला खोदनेको तैयार हैं, जिसमें वह कोयला ठंडसे ठिठुरते हुए लोगोंको गरमी पहुंचानेके लिए भेजा जा सके। किंतु बहुधा उनमें से एक-तिहाई या आधेतकको सप्ताहमें तीन दिनसे अधिक काम नहीं करने दिया जाता। क्यों? इसीलिए कि कोयलेका भाव ऊँचा रखना है। हजारों जुलाहोंको करघे नहीं चलाने दिया जाता, भले ही उनके स्त्री-बच्चोंके तन ढकनेके लिए चीथड़े भी मयस्सर न हों, और यूरोप के तीन चौथाई लोगोंको काफी कपड़ा न मिले।

सैकड़ों भट्टियां, हजारों कारखाने समय-समयपर बेकार रहते हैं। बहुतोंमें सिर्फ आधे समय काम होता है। प्रत्येक सभ्य देशमें लगभग बीस लाख मनुष्य तो ऐसे बने ही रहते हैं* जिन्हें काम चाहिए पर दिया नहीं जाता।

यदि इन लाखों नर-नारियोंको काम दिया जाय तो वे कितने हर्षसे बंजर जमीनको साफ करके या खराब जमीनको उपजाऊ बना कर उम्दा फसलें तैयार करनेमें लग जायँ! इनका एक ही वर्षका सच्चे दिलसे किया हुआ परिश्रम लाखों बीघा बेकार जमीनकी पैदावारको पाँचगुना

* भारत में तो यह संख्या करोड़ोंतक पहुँचेगी।

कर देनेके लिए काफी होगा। किंतु दुर्भाग्य तो देखिए कि जो लोग धनोपार्जनकी विविध दिशाओंमें अग्रगामी बननेमें सुख मानते हों उन्हींको केवल इस कारण हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहना पड़ता है कि भूमि, खानों और उद्योग-शालाओंके स्वामी समाजको चूस-चूस कर उस धनको तुर्की या मिश्रमें या और कहीं लगाना पसंद करते हैं और वहाँके लोगों को भी गुलाम बनाते हैं।

यह तो हुई उत्पत्तिको जान-बूझकर और प्रत्यक्ष रूपसे कम करने की बात। किंतु इसका एक अप्रत्यक्ष ढंग भी है जिसका कोई हेतु ही समझमें नहीं आता। वह ढंग यह है कि सर्वथा निरर्थक पदार्थोंके बनानेमें मानवीय परिश्रम खर्च किया जाता है, जिससे धनवानोंके थोथे गर्वकी तुष्टिभर होती है।

यह हिसाब लगाना अशक्य है कि जिस शक्तिसे उत्पादनका और उससे भी अधिक उत्पादकयंत्र तैयार करनेका काम लिया जा सकता है उस शक्तिका कितना अपव्यय किया जाता है और संपत्तिका उपार्जन किस सीमातक कम किया जाता है। इतना बता देना काफी है कि बाजारोंपर प्रभुत्व प्राप्त करने, पड़ोसी देशोंपर बलात् अपना माल लादने और स्वदेशके गरीबोंका खून आसानीसे चूस सकनेके एकमात्र उद्देश्यसे यूरोप सेनाओंपर बेशुमार रुपया खर्च करता है। करोड़ों रुपया हर साल नाना प्रकारके कर्मचारियोंके वेतनपर व्यय किया जाता है। और इन कर्मचारियोंका काम क्या है? यही कि वे अल्पसंख्यक लोगों अर्थात् मुट्ठीभर धनिकोंके राष्ट्रके आर्थिक जीवनका गति-चक्र अपने हाथमें रखनेके हककी रक्षा करें? करोड़ों रुपया न्यायाधीशों, जेलखानों, पुलिसवालों और तथोक्त न्यायके दूसरे कार्योंपर खर्च किया जाता है। और यह सब निरर्थक व्यय है, क्योंकि यह अनुभवकी बात है कि बड़े-बड़े नगरोंमें जब-जब जनताका थोड़ा-सा भी कष्ट-निवारण हुआ है तब-तब अपराधोंकी संख्या और मात्रा बहुत कम हो गयी है। इसी प्रकार करोड़ों रुपया दल या राजनीतिज्ञ विशेष अथवा सट्टेबाजोंके किसी विशेष समूहके लाभके लिए समाचार-पत्रों द्वारा हानिकर

सिद्धांतों और झूठी खबरोंके फैलाये जानेमें लगाया जाता है।

किंतु सबसे अधिक विचार तो उस परिश्रमका करना है जो सर्वथा व्यर्थ जाता है। कहीं तो धनवानोंके लिए अश्वशालाएं, कुत्तेखाने और नौकरोंके दलके-दल रक्खे जाते हैं; कहीं समाजकी वेहूदगियों और फैशन-परस्तोंकी कुरुचियोंको तृप्त करनेके लिए सामग्री जुटायी जाती है; कहीं ग्राहक अनावश्यक वस्तुएं खरीदनेको विवश किये जाते हैं या झूठे विज्ञापन देकर घटिया माल उनके सिर मढ़ दिया जाता है, अथवा कारखानेदारोंके फायदेके लिए सर्वथा हानिकारक चीजें तैयार की जाती हैं। इस प्रकार जिस संपत्ति और शक्तिकी हानि की जाती है उससे उपयोगी वस्तुओंकी उत्पत्ति दुगुनी हो सकती है, या कारखाने इतने यंत्रोंसे सुसज्जित किये जा सकते हैं कि थोड़े ही समयमें दूकानें उस मालसे भर जायं जिसके बिना अधिकांश जनता दुःख उठा रही है। वर्तमान व्यवस्थामें तो प्रत्येक राष्ट्रके चतुर्थांश उत्पादक सालमें तीन-चार महीने बेकार रहनेको लाचार होते हैं और आधे नहीं तो एक-चौथाई लोगोंकी मेहनत का, धनवानोंके मनोरंजन अथवा जनताके रक्तशोषणके सिवाय, दूसरा उपयोग नहीं होता।

इस प्रकार यदि हम एक ओर इस बातका विचार करें कि सभ्य राष्ट्रोंकी उत्पादन-शक्ति किस तेजीसे बढ़ रही है, और दूसरी ओर इसका कि वर्तमान परिस्थितिके कारण कितना कम माल उत्पन्न किया जाता है, तो हम इस नतीजेपर पहुंचे बिना नहीं रह सकते कि यदि हमारी आर्थिक व्यवस्था जरा और बुद्धि-संगत हो जाय तो कुछ ही वर्षोंमें इतने उपयोगी पदार्थोंका ढेर लग जाय कि हमें कहना पड़े, "बस बाबा! इतना रोटी, कपड़ा और ईंधन काफी है! अब तो हमें शांति-पूर्वक यह सोचने दो कि हम अपनी शक्ति और अवकाशका सर्वोत्तम उपयोग कैसे करें।"

हम फिर कहते हैं कि सबको विपुल सुख-सामग्री मिले, यह कोई स्वप्न नहीं है। उस समय यह भले ही स्वप्न रहा हो जब बीघे भर जमीनसे मर-पचकर भी थोड़े-से गेहूं ही पल्ले पड़ते थे, और खेती और उद्योगके

सारे औजार लोगोंको हाथसे ही बनाने पड़ते थे। किंतु अब यह कोरी कल्पना नहीं रहा, क्योंकि ऐसी चालक (मोटर) शक्ति खोज निकाली गयी है जो थोड़े-से लोहे और कुछ बोरे कोयलेकी सहायतासे उसे घोड़ेके समान बलवान और आज्ञाकारी मशीनों तथा अत्यंत जटिल यंत्रजालका स्वामी और संचालक बना देती है।

परंतु यह कल्पना तभी सत्य हो सकती है जब यह विपुल धन, ये नगर, भवन, गोचर-भूमि, खेतीकी जमीन, कारखाने, जल-स्थल-मार्ग और शिक्षा व्यक्तिगत संपत्ति न रहें और एकाधिकार-प्राप्त लोग इनका मनमाना उपयोग न कर सकें। यह सब बहुमूल्य संपत्ति जिसे हमारे पूर्वजोंने बड़े कष्टसे कमाया, बनाया, सजाया अथवा खोज निकाला, सबकी सम्मिलित संपत्ति बन जानी चाहिए, जिससे मानव-जातिके संयुक्त हिताहितका ध्यान रखकर सबका अधिक-से-अधिक भला किया जा सके। निःसंपत्तीकरण—वैयक्तिक स्वामित्वका अंत होना ही चाहिए। सबका सुख साध्य है, निःसंपत्तीकरण साधन है।

२

तो बस, निःसंपत्तीकरण—मनुष्यको सुखी बनानेके सभी साधनोंकी साम्यवादी व्यवस्था ही बीसवीं शताब्दिकी वह समस्या है जो इतिहासने उसके सामने रखी है।

पर यह समस्या कानूनके द्वारा हल नहीं की जा सकती। इसकी कोई कल्पना भी नहीं करता। क्या गरीब और क्या अमीर, सभी समझते हैं कि न तो वर्तमान सरकार और न भावी राजनीतिक परिवर्तनोंसे उत्पन्न होनेवाला कोई शासन ही इस समस्याको कानूनसे हल करनेमें समर्थ होगा। सबको सामाजिक क्रांतिकी आवश्यकता मालूम होती है। निर्धन और धनवान दोनों मानते हैं कि यह क्रांति निकट आ पहुंची है और कुछ ही वर्षोंमें होनेवाली है।

उन्नीसवीं शताब्दिके उत्तरार्धमें विचारोंमें बड़ा परिवर्तन हुआ। संपत्तिशाली वर्गने इसे दबा रखने और इसकी स्वाभाविक बाढ़ मार

देनेकी बहुत कोशिश की। किन्तु यह नवीन भावना अपने बंधन तोड़कर अब क्रांतिके रूपमें मूर्तिमान हुए बिना नहीं रह सकती।

क्रांति आयेगी किधरसे? इसके आगमनकी घोषणा कैसे होगी? इन प्रश्नोंका उत्तर कोई नहीं दे सकता। भविष्य अभी अज्ञातके गर्भमें है। पर जिनके आँखें हैं और मस्तिष्क है वे उसके लक्षणोंको समझनेमें गलती नहीं करते। मजदूर और उनके रक्त-शोषक, क्रांतिवादी और प्रतिगामी, विचारक और कर्ममार्गी, सभीको ऐसा मालूम हो रहा है कि क्रांति हमारे द्वारपर खड़ी है।

अच्छा, तो जब यह बिजली गिर चुकेगी तब हम क्या करेंगे?

हम प्रायः क्रांतियोंके आश्चर्यजनक दृश्योंका अध्ययन तो इतना अधिक करते हैं और उनके व्यावहारिक अंगपर इतना कम ध्यान देते हैं कि सम्भव है हम इन महान् आन्दोलनोंके तमाशे—शुरूके दिनोंकी लड़ाई—मोर्चेबन्दी—को ही देखकर रह जायं। पर यह प्रारंभकी भिड़ंत जल्दी ही ख़त्म हो जाती है। क्रांतिका सच्चा काम तो पुरानी रचनाके छिन्न-भिन्न हो जानेके बाद ही शुरू होता है।

पुराने शासक अशक्त और जर्जर तो होते ही हैं, आक्रमण भी उन पर चारों ओरसे होता है। बेचारे विद्रोहकी फूंक लगते ही उड़ जाते हैं। जनसाधारणकी क्रांतिके सामने तो पुरातन व्यवस्थाके विधाता और भी तेजीके साथ गायब हो जाते है। उसके समर्थक देशको छोड़ भागते है, और अन्यत्र सुरक्षित बैठकर षड्यंत्रोंकी रचना और वापस लौटनेके उपाय सोचा करते है।

जब पुरानी सरकार नही रहती तो सेना भी लोकमतके ज्वारके सामने खड़ी नहीं रहती। सेनानायक भी दूरदर्शिता-पूर्वक भाग जाते हैं, और सिपाही उनका कहना नहीं मानते। सेना या तो निरपेक्ष खड़ी रहती है अथवा विद्रोहियोंमें मिल जाती है। पुलिस आरामसे खड़ी-खड़ी सोचती है कि भीड़को मारे या हम भी 'कम्यून' (स्वतंत्र प्रादेशिक सरकार) की जय' बोल दें। 'कुछ पुलिस वाले ऐसे भी निकलते है जो अपने-अपने स्थान-पर पहुंचकर नयी सरकारकी आज्ञाकी प्रतीक्षा करने लगते हैं। धनवान्

नागरिक अपनी-अपनी पेटियां भरकर सुरक्षित स्थानोंको चल देते हैं। साधारण लोग रह जाते है। क्रांति देवीका अवतरण इसी प्रकार होता है।

कई बड़े-बड़े शहरोंमें कम्यूनकी घोषणा कर दीजाती है। हजारों आदमी बाजारोंमें इधर-उधर घूमने लगते हैं और शामको सभास्थलों में जाकर पूछते हैं 'हम क्या करें?' इस प्रकार सार्वजनिक मामलोंपर उत्साह-पूर्वक चर्चा होने लगती है। सब उनमें दिलचस्पी लेने लगते हैं। जो लोग कलतक उदासीन थे वे ही शायद सबसे अधिक उत्साह दिखाने लगते हैं। सर्वत्र सद्भावना और विजयको पक्की कर देनेकी उत्कट लालसा पायी जाती है। ऐसे ही समयमें अपूर्व देशभक्तिके कार्य होते हैं। जनसाधारणमें आगे बढ़नेकी भरपूर अभिलाषा होती है।

ये सब बातें शानदार और महान होती हैं। किंतु ये भी क्रांति नहीं हैं। बात यह है कि क्रांतिकारियोंका कार्य तो यहांसे शुरू होता है। निस्संदेह प्रतिहिंसाके कार्य होंगे। जनताके कोपभाजन व्यक्ति अपने कियेका फल पायेंगे। किंतु ये बातें भी क्रांति नहीं है, केवल संग्रामकी स्फुट घटनाएँ है।

समाजवादी राजनीतिज्ञ, कट्टर सुधारक, कलतक जिनकी कहीं पूछ नहीं थी ऐसे प्रतिभाशाली पत्रकार और हाथ-पैर पीटकर भाषण करने वाले वक्ता—मध्यवित्त और मजदूर सभी—जल्दी-जल्दी नगर-भवन और सरकारी दफ्तरोंमें पहुंचकर रिक्त स्थानोंपर अधिकार कर लेंगे। कुछ लोग जी भरकर अपने शरीरको सोने-चांदीके आभूषणोंसे सजा लेंगे; मंत्रियोंके दर्पणोंमें उन्हे देख-देखकर अपनी सराहना करेंगे, और अपने पदके अनुरूप महत्त्वसूचक मुद्रा धारण कर आज्ञा देना सीखेंगे। इन गौरव-चिन्होंके बिना वे अपने कारखाने या दफ्तरके साथियों पर रौब कैसे गांठ सकते है? दूसरे लोग सरकारी कागजातमें गड़ जायंगे और सच्चे दिलसे उन्हें समझनेकी कोशिश करेंगे। ये कानून बनायेंगे और बड़े-बड़े हुक्म निकालेंगे। पर इनकी तामील करनेका कष्ट कोई न उठायेगा। क्रांति जो ठहरी!

उन्हें जो अधिकार मिला नहीं है उसका ढोंग रचनेके लिए वे पुराने

शासनके स्वरूपका सहारा लेंगे। ये 'अस्थायी सरकार', 'सार्वजनिक रक्षा-समिति', 'नगर-शासक' इत्यादि अनेक नाम ग्रहण करेंगे। निर्वाचित हों अथवा स्वयंभू, वे समितियों और परिषदोंमें बैठेंगे। वहां दस-बीस अलग-अलग विचार-सरणियोंके लोग एकत्र होंगे। उनके मस्तिष्कमें क्रांतिके क्षेत्र, प्रभाव और ध्येयकी भिन्न-भिन्न कल्पनाएं होंगी। वे वाग्युद्धमें अपना समय बर्बाद करेंगे। ईमानदार लोगोंका एक ही स्थानमें ऐसे महत्त्वाकांक्षियोंसे पाला पड़ेगा जिन्हें केवल शक्ति-अधिकारकी चाह है और जो उसके मिलनेपर जिस जनतामेंसे वे निकलते हैं उसीको ठोकर मारते हैं। ये परस्पर-विरोधी विचारोंके लोग एकत्र होंगे जिन्हें आपसमें क्षण-भंगुर संधियाँ करनी पड़ेंगी, जिनका उद्देश्य सिर्फ बहुमत बनाना होगा। परंतु यह बहुमत एक दिनसे ज्यादा टिकनेका नहीं। परिणाम यह होगा कि ये आपसमें लड़ेंगे, एक दूसरेको अनुदार, सत्तावादी और मूर्ख बतायेंगे, किसी गंभीर विषयपर एकमत न हो सकेंगे, जरा-जरासी बातों पर वाद-विवाद करेंगे, और सिवाय लंबी-चौड़ी घोषणाएं निकालनेके और कोई ठोस काम न कर सकेंगे। एक ओर तो ये लोग इस प्रकार अपना महत्त्व प्रदर्शित करते रहेंगे और दूसरी ओर आन्दोलनकी सच्ची शक्ति बाजारोंमे भटकती फिरती होगी।

इन बातोंसे अभिनय-प्रिय लोग भले ही खुश हो लें, किंतु यह भी क्रांति नहीं है।

हां, इस बीचमें जनताको तो कष्ट भोगने ही होते हैं। कारखाने बंद रहते हैं। व्यापार चौपट हो जाता है। मजदूरोंको जो थोड़ी-सी मजदूरी पहले मिलती थी वह भी नहीं मिलती। खाद्य पदार्थोंका भाव चढ़ जाता है। फिर भी जनसाधारण उस वीरोचित निष्ठाके साथ जो सदा उनकी विशेषता रही है और जो महान् संकटोंके अवसरोंपर और भी उच्च हो जाती है, धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करते है। सन् १८४८ में उन्होंने कहा था कि "हम प्रजातंत्र सरकारसे तीन महीनेतक कुछ न मांगेंगे।" परंतु उनके 'प्रतिनिधि' और नयी सरकारके बाबू लोग और दफ्तरके अदनासे-अदना पदाधिकारीतक नियमसे तनख्वाहें लेते रहे ।

जनता कष्ट उठाती है। बालोचित विश्वास और स्वाभाविक प्रसन्नताके साथ लोग सोचते हैं कि "नेताओंपर भरोसा रखना चाहिए। वे 'वहां', उस सभाभवन, नगरभवन, या सार्वजनिक रक्षा-समितिमें हमारी भलाई सोच रहे हैं।" परंतु 'वहां' तो नेतागण दुनियाभरकी बातोंपर विवाद किया करते हैं, केवल जनताके हितकी चर्चा नहीं करते। १७९३ में जब फ्रांसमें दुष्काल पड़ गया और उसने क्रांतिको पंगु कर दिया, जब लोगोंकी बुरी दशा हो रही थी, यद्यपि बाजारमें शानदार बग्घियोंकी भीड़ वैसीही लगी रहती थी और स्त्रियां बढ़िया-बढ़िया आभूषण और पोशाकें पहनकर निकलती रहती थीं, तब राबेसपियेर जैकोबिन दलवालोंसे आग्रह कर रहा था कि वे इंगलैंडकी राज्य-व्यवस्थापर लिखे हुए उसके ग्रंथपर बहस ही करलें। १८४८ में मजदूर लोग तो व्यापार-व्यवसाय बंद हो जानेके कारण कष्ट पा रहे थे, पर अस्थायी सरकार और राष्ट्रसभा इसपर झगड़ रही थीं कि सिपाहियोंको पेंशन क्या दी जाय और जेलखानेमें मशक्कत कैसी ली जाय? उन्हें उस बातकी फिक्र न थी कि जनता इस विपत्ति-कालमें किस प्रकार दिन काट रही है। पेरिसकी कम्यून-सरकार (१८७१ ई०), जो प्रुशियाकी तोपोंकी छायामें जन्मी थी और केवल सत्तर दिन ही जीवित रह पायी, उसने भी यही गलती की। उसने नहीं समझा कि अपने योद्धाओंको पेटभर खिलाये बिना क्रांति सफल कैसे होगी, और सिर्फ थोड़ा-सा दैनिक वेतन नियत कर देनेसे ही कैसे कोई आदमी युद्ध कर सकेगा और कैसे अपने परिवारका पोषण करेगा।

इस प्रकार कष्ट भोगती हुई जनता पूछती है—"इन कठिनाइयोंसे पार पानेका उपाय क्या है?"

३

इस प्रश्नका एक ही उत्तर दिखाई देता है। वह यह कि हमें यह बात मान लेनी चाहिए और उच्च स्वरसे उसकी घोषणा कर देनी चाहिए कि प्रत्येक मनुष्यको और सब बातोंके पहले जीवित रहनेका अधिकार है,

फिर चाहे वह मनुष्य-समाजमें किसी भी श्रेणीका हो, बलवान हो या निर्बल, योग्य हो अथवा अयोग्य। साथ ही यह भी स्वीकार कर लेना चाहिए कि समाजके हाथमें जीवनके जितने साधन हैं उनको सबमें निरपवाद रूपसे बांट देना उसका कर्तव्य है। हमें इस सिद्धांतको मानकर उसपर चलना भी चाहिए।

क्रांतिके प्रथम दिनसे ही ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि श्रमजीवी यह जान जाय कि उसके लिए नवीन युगका उदय हो गया। भविष्यमें किसीको पासमें महल होते हुए पुलके नीचे दुबककर सोनेकी मजबूरी न होगी, धनका बाहुल्य रहते हुए किसीको भूखों न मरना पड़ेगा। सब चीजें सबके लिए हैं, यह बात कोरी कल्पना ही न रहेगी, व्यवहार में भी चरितार्थ होगी। क्रांतिके प्रथम दिनसे ही श्रमजीवीको यह मालूम पड़ना चाहिए कि इतिहासमें पहली ही बार ऐसी क्रांति हुई है जो जनताको उसके कर्तव्योंका उपदेश देनेसे पूर्व उसकी आवश्यकताओंका विचार करती है।

यह सब कानूनसे न होगा। काम करनेका एकमात्र सच्चा और वैज्ञानिक ढंग अख्तियार करना होगा—ऐसा ढंग जिसे सर्वसाधारण समझ सकते और चाहते हों। वह यह है कि सबके सुख-सम्पादनके लिए आवश्यक साधनोंपर तुरंत और पक्का कब्जा कर लिया जाय। अन्नभण्डारों, कपड़ेकी दुकानों और निवास-स्थानोंपर जनताका अधिकार हो जाना चाहिए। कोई चीज बर्बाद न होनी चाहिए। शीघ्र इस प्रकारका संगठन करना चाहिए कि भूखोंको भोजन मिले, सबकी आवश्यकताएं पूरी हों और उत्पत्ति इस प्रकार हो कि उससे व्यक्ति या समूह-विशेषको ही लाभ न पहुंचे बल्कि सारे समाजके जीवन और विकासको सहायता मिले।

फ्रांसकी १८४८ की क्रांतिमें 'काम करनेका अधिकार' इस वाक्य-खंडसे लोगोंको बड़ा धोखा दिया गया। और अब भी ऐसे ही दोमानी वाक्योंसे धोखा देनेकी कोशिश होती है। परतु अब इनकी जरूरत नहीं है। हमें साहस करके "सबके सुख"के सिद्धांतको स्वीकार करना और उसकी संभावनाको पूर्ण करना चाहिए।

१८४८ में जब श्रमजीवियोंने काम करनेके अधिकारका दावा किया तो राष्ट्रीय और म्युनिसिपल कारखाने बनाये गये और वहां वे २० पैंस रोजाना मजदूरीपर पिसनेके लिए भेज दिये गये ! जब उन्होंने कहा कि "श्रमिकोंका संगठन" होना चाहिए तो जवाब दिया गया— "मित्रो, धैर्य रक्खो। सरकार इसका इंतजाम कर देगी। अभी तो तुम मजदूरी लेते चलो। वीर श्रमिको, जीवन-भर भोजनके लिए युद्ध किया है, अब तो जरा आराम ले लो !" इस बीच तोपें सुधार ली गयीं, फौज बुला ली गयी और मध्यम वर्गकी जानी हुई तरह-तरहकी तरकीबोंसे श्रमिक निरशस्त्र कर दिये गये। यहांतक कि जून १८४८ के एक दिन, पिछली सरकारको उलट देनेके चार मास बाद ही, उनसे कह दिया गया कि अफ्रीकामें जाकर बसो नहीं तो गोलियोंके निशाना बना दिये जाओगे।

परंतु सुखपूर्वक जीवित रहनेके अधिकारपर आरूढ़ होनेमें जनता इससे अधिक महत्त्वपूर्ण दूसरे अधिकारकी भी घोषणा करती है। वह यह कि इस बातका निर्णय भी वही करेगी कि उसको सुख किन चीजोंसे मिलेगा, उस सुखकी प्राप्तिके लिए कौन-कौनसी वस्तु उत्पन्न करनी होगी और किस-किसको निकम्मी समझकर फेंक देना होगा।

'काम करनेका अधिकार' और 'सबका सुख' इन दोनों सिद्धान्तों का भेद समझने-योग्य है। पहलेका अर्थ इतना ही है कि श्रमजीवी सदा थोड़ी-सी मजदूरीका दास बना रहे, कठोर परिश्रम करनेको विवश हो, उसपर मध्यम वर्गके लोगोंका शासन बना रहे और वे उसका रक्त-शोषण करते रहें। दूसरे सिद्धांतका अर्थ यह है कि श्रमजीवी मनुष्योंकी भांति रह सकें और उनकी संतानको वर्तमानसे अच्छा समाज मिले। अब समय आगया है कि व्यापारवादकी चक्कीमें न पिसते रहकर सामाजिक क्रांति की जाय और श्रमजीवियों को उनके नैसर्गिक अधिकार प्राप्त हों।

: ३ :

अराजक साम्यवाद

१

हमारा विश्वास है कि व्यक्तिगत संपत्तिका अंत कर देनेके बाद प्रत्येक समाजको अपना संगठन अराजक साम्यवादके ढंगपर करना पड़ेगा। अराजकताका परिणाम साम्यवाद (कम्यूनिज्म) और साम्यवादका परिणाम अराजकता होता ही है, क्योंकि दोनोंका ही उद्देश्य समानताकी स्थापना है।

एक समय ऐसा था जब एक किसान-कुटुम्ब यह समझता था कि जो अनाज वह उत्पन्न करता है या जो कपड़े वह बुनता है वह उसीकी जमीनकी पैदावार है। किंतु यह दृष्टि भी सर्वथा निर्दोष नहीं थी। सड़कें, पुल, दलदल और चरागाह आदि ऐसी बहुत-सी चीजें थीं जिनके बनाने, साफ करने और ठीक रखनेमें सब लोगोंको परिश्रम करना पड़ता था। यदि कोई व्यक्ति बुनाई या रंगाईमें कोई सुधार करता था तो उसका लाभ सभीको मिलता था। कोई परिवार एकाकी होकर जीवित नहीं रह सकता था, उसे अनेक प्रकारसे पूरे गांव या मण्डलपर अवलंबित रहना पड़ता था।

आज तो यह दावा करनेकी जरा भी गुंजाइश नहीं है कि पैदावार व्यक्ति-विशेषकी मेहनतका फल है, क्योंकि आधुनिक उद्योग-धंधोंके क्षेत्रमें सभी चीजें एक-दूसरीपर अवलंबित हैं और उत्पत्तिके सारे विभाग परस्पर गुंथे हुए हैं। सभ्य देशोंमें कपड़े और खानके उद्योगोंने जो आश्चर्यजनक उन्नति कर ली है उसका कारण यह है कि उनके साथ-साथ सैकड़ों छोटे-बड़े दूसरे उद्योगोंका विकास हुआ है, रेल-मार्गका विस्तार हुआ है, समुद्र-यात्राके रास्ते खुल गये हैं, हजारों मजदूरोंकी

हाथकी कारीगरी बढ़ गयी है, और सारे श्रमजीवी समाजकी संस्कृतिका मान ऊँचा हो गया है। सार यह कि उन उद्योगोंको संसारके सभी भागोंमें रहनेवाले मजदूरोंके परिश्रमका लाभ मिला है।

तब यह हिसाब कैसे लगाया जाय कि सबके परिश्रमसे पैदा होनेवाले धनमें प्रत्येक व्यक्तिका कितना हिस्सा हो? समष्टिवादियों (Collectivists) की यह तजवीज तो न कोई आदर्श व्यवस्था होगी और न उचित कार्य ही कि जिसने जितने घंटे काम किया हो उसे उतनी ही मजदूरी दे दी जाय। जब हम समाजकी यह कल्पना रखकर चलते हैं कि उसमें काम करनेके साधन समाजकी सम्मिलित सम्पत्ति हैं तो हमें मजदूरीका सिद्धांत छोड़ना ही पड़ेगा, चाहे वह किसी भी रूपमें हो।

मजदूरी देनेकी प्रणालीका जन्म भूमि और उत्पत्तिके अन्य साधनोंपर व्यक्तियोंका अधिकार होनेके सिद्धांतसे हुआ है। पूंजीवादके विकासके लिए यह आवश्यक थी। उसके नाशके साथ इसका नाश भी अनिवार्य है। जब हम परिश्रमके साधनोंको सबकी सम्मिलित सम्पत्ति मान लेंगे तो सम्मिलित परिश्रमका फल भी सब मिलकर ही भोगेंगे।

हमारा दूसरा विश्वास यह है कि साम्यवाद केवल वांछनीय ही नहीं है, बल्कि वर्तमान समाज, जिसकी बुनियाद व्यक्तिवादपर है, बलात् उसकी ओर ही जा रहा है। पिछले तीन सौ वर्षोंमें व्यक्तिवादके इतना बढ़नेका कारण यह है कि धन और सत्ताके अत्याचारोंसे अपनी रक्षा करनेमें व्यक्तियोंको बड़ी कोशिश करनी पड़ी है। कुछ समयतक व्यक्तिवादी यह समझते रहे कि व्यक्ति राज्य और समाजसे बिलकुल आजाद हो सकता है। वे कहते थे कि रुपयेसे सब कुछ खरीदा जा सकता है। परंतु आधुनिक इतिहासने उन्हें बता दिया है कि यह खयाल गलत है। चाहे तिजोरियां सोनेसे भरी पड़ी हों, पर मनुष्य सबकी मददके बिना कुछ नहीं कर सकता।

ऐसा प्रतीत होता है कि व्यक्तिवादकी लहरके साथ-साथ एक ओर तो प्राचीन आंशिक साम्यवादकी रक्षाका, और दूसरी ओर आधुनिक

जीवनके अनेक प्रकारके विकासमें साम्यवादके सिद्धांतको प्रविष्ट करनेका प्रयत्न होता रहा है।

मध्यकालीन साम्यवादी नगर या मण्डल (कम्यून) ज्यों-ज्यों भूस्वामियों या धर्माधिकारियोंके चंगुलसे निकलते गये त्यों-त्यों सम्मिलित परिश्रम और सम्मिलित उपभोगका विस्तार और विकास भी होता चला गया। व्यक्ति नहीं, नगर सम्मिलित रूपसे माल जहाजोंमें भर-भर कर बाहर भेजने लगे, और विदेशी व्यापारसे जो मुनाफा होता उसे सब मिलकर बांटने लगे। आरंभमें तो नगर-संस्थाएं ही सारे नागरिकोंके लिए खाद्य-पदार्थ भी खरीदती थीं। इन संस्थाओंके चिन्ह उन्नीसवीं शताब्दि-तक पाये जाते थे। अब भी उनकी दंतकथाएं प्रचलित हैं। पर अब वे विलीन हो चुकी हैं। किंतु ग्राम-संस्थाएं आज भी इस साम्य-वादका नाम बनाये रखनेकी चेष्टा कर रही हैं और सफल भी होती हैं। हां, जब राज्य उनपर आक्रमण करता है तो उनका कुछ वश नहीं चलता।

इस बीच अनेक भिन्न-भिन्न रूपोंमें नये-नये संगठन बन रहे हैं। इनका आधार वही सिद्धांत है, अर्थात् प्रत्येक मनुष्यको उसकी आवश्य-कताके अनुसार मिले। वस्तुतः साम्यवादके थोड़े-बहुत सहारेके बिना तो आधुनिक समाज जीवित ही नहीं रह सकता। व्यापारिक प्रणालीके कारण भले ही लोगोंमें स्वार्थकी मात्रा बढ़ गयी हो, किंतु साम्यवादकी प्रवृत्ति और उसका प्रभाव अनेक प्रकारसे बढ़ रहा है। पहले सड़कों और पुलोंपर जो यात्रा-कर लिया जाता था वह अब नहीं लिया जाता*। बालकोंके लिए निश्शुल्क अजायबघर, पुस्तकालय, पाठशालाएं और भोजनतक उपलब्ध हैं। बाग-बगीचे सबके लिए खुले हैं। बाजारोंमें पक्की सड़कें और रोशनी सबके लिए मुफ्त है। प्रत्येक घरमें काफी पानी पहुंचाया जाता है। इस सारी व्यवस्थाका मूल यही सिद्धांत तो है कि 'जितनी जरूरत हो उतना ले लो।'

रेल और ट्राम-गाड़ियोंसे महीने-महीने और साल-साल भरके टिकट मिलने लगे हैं। उनसे जितनी बार चाहिए सफर कर लीजिए। कई राष्ट्रोंने

* भारतमें तो आज भी लिया जाता है।

तो यह नियम भी कर दिया है कि रेल-मार्गसे चाहे कोई पाँच सौ मील जाय चाहे हजार मील, किराया एक ही लगेगा। अब तो डाक-विभागकी तरह सब स्थानोंके लिए एक ही दाम लेनेके नियममें थोड़ी ही कसर रह गयी है। इन अनेक नयी-नयी बातोंमें व्यक्तिगत खर्चका हिसाब लगानेकी प्रवृत्ति नहीं पायी जाती। कोई आदमी पाँच सौ मील जाना चाहे, दूसरेको आठ सौ मील जाना हो, यह तो अपनी-अपनी जरूरतकी बात है। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि एकको दूसरेसे दुगुना पैसा देना चाहिए। इस प्रकारकी मनोदशा इस व्यक्तिवादी समाजकी भी है।

एक प्रवृत्ति यह भी है—हल्की-सी ही सही—कि व्यक्तिकी आवश्यकताओंका लिहाज किया जाय, उसकी पिछली या संभाव्य सेवाओंका खयाल न किया जाय। हम सारे समाजका विचार इस ढंगसे करने लगे हैं कि उसके प्रत्येक भागका दूसरेसे इतना घनिष्ट संबंध है कि एककी सेवासे सबकी सेवा होती है। आप किसी पुस्तकालयमें जाइए। आपको पुस्तक देनेसे पहले आपसे कोई यह न पूछेगा कि आपने समाजकी क्या-क्या सेवाएं की हैं। इतना ही नहीं, यदि आपको पुस्तक-सूची देखना न आता हो तो पुस्तकाध्यक्ष स्वयं आकर आपकी सहायता करेगा। इसी प्रकार वैज्ञानिक संस्थाओंमें प्रत्येक सदस्यको समान सुविधाएं मिलती हैं। विज्ञान-शालाओंमें आविष्कार करनेके लिए जो लोग प्रयोग करना चाहते हैं उन्हें भी समान सुविधाएं दी जाती हैं। तूफानी समुद्रमें जब जहाज डूबता है तो रक्षा-नौका (लाइफ बोट) के खेवट अनजान यात्रियोंकी रक्षा भी अपनी जान जोखिममें डालकर समान-भावसे करते हैं। वे केवल इतना ही जान लेते हैं कि ये मनुष्य हैं और इन्हें सहायताकी जरूरत है। बस उसीसे प्राण-रक्षा पानेका उनका हक कायम हो जाता है।

इस प्रकार कहनेको व्यक्तिवादी होते हुए भी समाजके हृदयमें समाजवादकी ओर जानेकी प्रवृत्ति चारों तरफ अपने आप पैदा हो रही है, उसके रूप भिन्न भले ही हों। मान लीजिए हमारे किसी बड़े शहरपर, जो मामूली हालतमें स्वार्थवादी होता है, कल ही कोई

विपत्ति आपड़ी। मसलन् शत्रुने उसके चारों तरफ घेरा डाल दिया। अब उस स्वार्थवादी नगरका यही निर्णय होगा कि सबसे पहले बच्चों और बूढ़ोंकी आवश्यकताएं पूरी की जायं। कोई यह न पूछेगा कि इन लोगोंने समाजकी अबतक क्या सेवा की है और आगे क्या करेंगे। पहले उन्हें खाने-पीनेको दिया जायगा, बादमें योद्धाओंकी खोज-खबर ली जायगी। उनमें भी इस बातका कोई भेद न किया जायगा कि किसने अधिक साहस अथवा बुद्धिमत्ताका सबूत दिया है। हजारों स्त्री-पुरुष एक दूसरेसे बढ़-बढ़कर प्रेम-पूर्वक घायलोंकी सेवा करेंगे।

यह प्रवृत्ति हममें रहती है और ज्यों ही सबकी बड़ी-बड़ी जरूरतें पूरी हो जाती हैं, दिखाई देने लगती है, तथा ज्यों-ज्यों समाजकी उत्पादन-शक्ति बढ़ती है त्यों-त्यों यह प्रवृत्ति बलवती होती जाती है। जब कोई महान् विचार दैनिक जीवनकी तुच्छ चिंताओंको दबा देनेके लिए आगे आता है तब तो यह प्रवृत्ति क्रियात्मक शक्तिका रूप धारण कर लेती है।

तो फिर यह संदेह कैसे हो सकता है कि जब उत्पत्तिके साधन सबके लिए सुलभ हो जायँगे, व्यवसाय साम्यवादके सिद्धांतोंपर चलने लगेगा, मजदूर फिरसे समाजमें प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त करके सबकी जरूरतोंसे भी ज्यादा माल पैदा करने लगेंगे, तब यह परोपकारकी भावना और भी बृहद् रूप धारण न कर लेगी और अंतमें सामाजिक जीवनका मुख्य नियम न बन जायगी?

हम आगामी अध्यायोंमें निःसम्पत्तीकरणके व्यावहारिक रूपपर विचार करेंगे। उक्त लक्षणोंसे हमें यह विश्वास होता है कि जब क्रांति वर्तमान् प्रणालीकी आधारभूत शक्तिको नष्ट कर देगी तो हमारा प्रथम कर्तव्य यह होगा कि हम अविलंब साम्यवादको कार्यान्वित करें। परंतु हमारा यह साम्यवाद अराजक या बिना किसी राज्य-शासनके स्वतंत्र लोगोंका साम्यवाद होगा। हमारा साम्यवाद मानव जातिके युग-युगमें प्रचलित दो आदर्शों—आर्थिक और राजनीतिक स्वाधीनता—का समन्वय होगा।

२

जब हम अपने राजनीतिक संगठनको अराजक रूप देते हैं तो हम मानवीय प्रगतिकी दूसरी प्रमुख प्रवृत्तिको प्रदर्शित मात्र करते हैं। यूरोपीय समाजोंने जब कभी उन्नति की है तब उन्होंने राजसत्ताके जुएको अपने कंधोंसे उतार फेंका है और उसके स्थानपर वैयक्तिक सिद्धांतों पर आश्रित प्रणालीकी स्थापना की है। इतिहास साक्षी है कि थोड़ी या बहुत जब कभी क्रांति हुई, जब पुरानी सरकारें उखाड़ दी गयीं, उस समय आर्थिक तथा बौद्धिक दोनों क्षेत्रोंमें तेजीसे उन्नति हुई। 'कम्यूनों' को मताधिकार मिल जानेके पश्चात् भी ऐसा ही हुआ। उस समय व्यवसायी संघोंने जितनी उन्नति की उतनी पहले कभी नहीं हुई थी। उस महान् किसान-विप्लवके पश्चात् भी ऐसा ही हुआ जिसके फलस्वरूप रिफार्मेशन (धर्म सुधार)का आंदोलन हुआ और पोपकी शक्ति नाममात्रको रह गयी। ऐटलांटिक महासागरके उस पार पुरानी दुनियाके असंतुष्टजनों द्वारा स्थापित समाजमें भी ऐसा ही हुआ जो थोड़े समयके लिए स्वतंत्र हो गया था।

और यदि वर्तमान सभ्य जातियोंके विकासको हम ध्यानसे देखें तो हमें निस्संदेह एक ऐसा आन्दोलन दिखाई देता है जो सरकारोंके कार्यक्षेत्रको सीमित करनेकी ओर अधिकाधिक झुकता जा रहा है और जो व्यक्तिको अधिक-से-अधिक स्वतंत्रता देता जाता है।

यह विकास हमारी आँखोंके सामने हो रहा है। यद्यपि यह विकास उन पुरानी संस्थाओंके कूड़े-करकट तथा पुराने अंध-विश्वासोंसे लदा हुआ है तथापि दूसरे सब विकासोंके समान उन प्राचीन विघ्न-बाधाओंको, जो रास्तेको रोकती हैं, उखाड़ फेंकनेके लिए वह केवल एक क्रांतिकी प्रतीक्षा कर रहा है जिसमें नवनिर्मित समाजमें बढ़ने फैलनेके लिए वह पूरा मैदान पा सके।

मनुष्य बहुत समयतक एक असाध्य समस्याको हल करनेका प्रयत्न करता रहा है। वह चाहता है कि ऐसी राज्य-संस्था या सरकार

बन जाय जो व्यक्तिसे बल-पूर्वक आज्ञा-पालन भी कराये और साथ ही समाजकी सेवक भी बनी रहे। परंतु ऐसी सरकार बन नहीं सकती। अंतमें वह हरएक प्रकारकी सरकारसे ही अपनेको स्वतंत्र करनेका प्रयत्न करता है। वह समान उद्देश्य रखनेवाले व्यक्तियों और समूहोंके बीच स्वेच्छाप्रेरित सहयोग और सम्पर्क स्थापित करके अपने संगठनकी आवश्यकताको पूर्ण करने लगता है। प्रत्येक छोटे-से-छोटे प्रदेशकी स्वाधीनता आवश्यक हो जाती है। बहुधा वर्तमान राज्योंकी सीमाओंका उल्लंघन करते हुए सार्वजनिक हितके लिए किया गया आपसी समझौता कानूनका स्थान ले लेता है।

पहले जो कुछ राज्यका कर्तव्य समझा जाता था वह आज संदेहका विषय है। राज्यके बिना भी प्रबंध अधिक सरलतासे और अच्छा हो जाता है। इस दिशामें अबतक जो प्रगति हुई है उससे हम इस नतीजेपर पहुंचते हैं कि मनुष्य-जातिकी प्रवृत्ति राज्य-संस्थाको मिटा देनेकी ओर है, जो वास्तवमें अन्याय, अत्याचार और एकाधिकार का मूर्त्त रूप है।

अब भी हमें ऐसे जगतकी झांकी मिल सकती है जहाँ मनुष्य-मनुष्यमें संबंध कायम रखनेवाली चीज कानून नहीं बल्कि सामाजिक रीति-रिवाज हैं। हम सबको इस बातकी जरूरत महसूस होती है कि हम अपने पड़ोसियोंका सहारा, उनकी मदद और उनकी सहानुभूति चाहें। हां, यह जरूर है कि राज्य-हीन समाजकी कल्पनापर उतनी ही आपत्ति की जायगी जितनी बिना व्यक्तिगत पूंजीके अर्थ-व्यवस्थाकी कल्पना पर। बात यह है कि बचपनसे हमें राज्यको एक तरहका ईश्वर समझना सिखाया जाता है। पाठशालासे लेकर विश्वविद्यालयतक यही शिक्षा दी जाती है कि राज्यमें विश्वास रक्खो और उसे मां-बाप समझो*। इस भ्रमको बनाये रखनेके लिए बड़े भारी तत्त्वज्ञानकी रचना की जाती है।

* क्रोपाटकिनने जब यह बात लिखी थी तबसे अवस्था बहुत ज्यादा बदल गयी है। अब तो विश्वविद्यालयोंमें राजनीतिके विद्यार्थियोंके लिए स्वतंत्र गवेषणाका विस्तृत क्षेत्र खुला है।

सारी राजनीतिका आधार यही सिद्धांत बनाया जाता है और हरएक राजनीतिज्ञ जब रंग-मंचपर आता है तो उसके विचार चाहे कुछ भी हों, वह जनतासे यह कहे बिना नहीं रहता कि बस, मेरे दलके हाथमें राज शक्ति देदो; जिन दुःखोंके मारे तुम मरे जाते हो उनको हम दूर कर देंगे।"

सार यह कि जन्मसे लेकर मृत्युतक हमारे सारे काम इसी एक विचारकी प्रेरणासे होते हैं। आप किसी भी पुस्तकको, वह चाहे समाज-विज्ञानकी हो या कानूनकी, खोल लीजिए। आप देखेंगे कि उसमें राज्यके संगठन और उसकी कार्रवाइयोंको इतना अधिक स्थान दिया जाता है कि लोग यह मानने लग जाते हैं कि संसारमें सिवाय राज्य और राजनीतिज्ञोंके और कुछ है ही नहीं।

अखबार भी हर तरहसे हमें यही पाठ पढ़ाते हैं। राज्य-सभाओंके वादविवाद और राजनीतिक षड्यंत्रोंपर तो कालम-के-कालम रंग दिये जाते हैं और राष्ट्रके विशाल दैनिक जीवनको इधर-उधर या तो आर्थिक विषयों वाले स्तंभोंमें या मार-पीट और व्यभिचारके मुकदमोंकी खबरों-वाले पृष्ठोंमें जगह दी जाती है। अखबार पढ़ते समय तो उन असंख्य नर-नारियोंका कुछ खयाल ही नहीं आता जो जीते और मरते हैं, जिन्हें दुःख होता है, जो काम करते और वस्तुओं का उपभोग करते हैं, जो विचार करते और उत्पादन करते हैं। मुट्ठीभर आदमियोंको इतना महत्त्व दे दिया जाता है कि उनकी परछाईं और हमारे अज्ञानके अंधकारमें सारा मानव-समाज छिप जाता है।

पर ज्यों ही हम अखबारी दुनियासे निकलकर जीवनके मैदानमें पहुंचते हैं और समाजपर दृष्टिपात करते हैं, हमें यह देखकर आश्चर्य होता है कि राज्य कितनी नगण्य वस्तु है। कौन नहीं जानता कि लाखों किसान जीवनभर यह अनुभव नहीं कर पाते कि राज्य किस चिड़ियाका नाम है। वे सिर्फ इतना जानते हैं कि हमें दबाकर कोई भारी कर वसूल करता है। रोज करोड़ोंका लेन-देन सरकारके हस्तक्षेपके बिना होता है। व्यापार और विनिमयका काम होता ही इस ढंगसे है कि यदि एक पक्ष सम-

झौतेको तोड़नेपर तुल जाय तो राज्यकी सहायता मांगनेसे दूसरे पक्षको कोई लाभ नहीं हो सकता। तिजारतको समझनेवाले किसी भी आदमीसे बात कीजिए, आपको मालूम हो जायगा कि यदि परस्पर विश्वास न हो तो व्यापारियोंका रोजमर्राका कारबार सर्वथा असम्भव हो जाय। अपना वचन पालन करनेकी आदत और अपनी साख बनाये रखनेकी चिंतासे यह आपसकी ईमानदारी कायम रहती है। जिस आदमीको बड़े-बड़े नाम देकर दूषित दवाइयोंसे ग्राहकोंको जहर खिलानेमें जरा भी आत्मग्लानि नहीं होती उसे भी दूसरोंको दिये हुए समयपर उनसे मिलकर अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखनेका खयाल रहता है। अगर इस गये-बीते जमानेमें भी यह सदाचार इस दर्जेतक बढ़ पाया है तो इसमें तो शक ही क्या है कि जब सिर्फ रुपया कमाना ही काम करनेकी एक-मात्र प्रेरणा और एकमात्र उद्देश्य न रहेगा और समाजका आधार दूसरोंकी कमाईका फल हड़प कर जाना ही न रह जायगा उस समय इस सदाचारकी तीव्र प्रगति होगी।

वर्तमान कालकी एक और विशेषता हमारे विचारोंकी और भी अधिक पुष्टि करती है। वह है निजी व्यवसायोंके क्षेत्रका सतत विस्तार और सब तरहके स्वतन्त्र संगठनोंका अत्यधिक विकास। ये संगठन पचासों प्रकारके हैं। वे हमारी सभ्यताके इतने स्वाभाविक फल हैं, उनका विस्तार इतनी तेजीसे हो रहा है और वे इतनी आसानीसे आपसमें मिल जाते हैं, सभ्य मनुष्यकी आवश्यकताओंकी सतत वृद्धिके वे ऐसे आवश्यक परिणाम है, और सर्वोपरि वे राज्यकी जगह इतना अच्छी तरह लेकर उसके हस्तक्षेपकी आवश्यकताको दूर कर देते हैं कि हमें उन्हें समाजके जीवनका महत्त्वपूर्ण अंग मानना ही होगा। अगर आज ये संगठन जीवनकी सब अभिव्यक्तियोंमें फैले हुए नहीं हैं तो इसका कारण यह है कि इनके रास्तेमें मजदूरोंकी दरिद्रता, समाजकी फूट, पूंजीपर व्यक्तिगत अधिकार और राज्यकी जबरदस्त रुकावटें खड़ी हैं। इन रुकावटोंको दूर कर दीजिए, फिर देखिए कि कितनी जल्दी सभ्य-समाजके विशाल कार्य-क्षेत्रमें इनका जाल बिछ जाता है।

पिछले पचास वर्षोंका इतिहास इस बातका जीवित प्रमाण है कि प्रतिनिधि-शासन उन सब कर्तव्योंको पूरा करनेमें नितान्त असमर्थ है जो हमने उसे सौंपे हैं। आनेवाले दिनोंमें कहा जायगा कि १९वीं शतीमें उसका भरम खुल गया, उसका निकम्मापन प्रकट हो गया। उसका खोखलापन सबपर इस तरह प्रकट हो चुका है, उसकी त्रुटियाँ, उसके सहजदोष इतने स्पष्ट हैं कि मिल आदि जिन थोड़ेसे विद्वानोंने उसकी समीक्षा की है उन्होंने जन-समाजमें फैले हुए असंतोषको साहित्यिकरूप मात्र दिया है। हम थोड़ेसे लोगोंको चुनकर उनसे कहते है कि "आप हमारे जीवनके सभी क्षेत्रोंके लिए नियम-कायदे बना दीजिए, यद्यपि आपमें से एक भी उनके बारेमें कुछ जानता नहीं।" यह बात कैसी बेतुकी और नासमझी की है, इसे समझ लेना कठिन भी तो नहीं है।

अब तो हमें यह दिखाई देने लगा है कि बहुमत-शासनका अर्थ होता है राष्ट्र-सभाओं और निर्वाचन-समितियोंमें जिन मौका-परस्त लोगोंका बहुमत होता है अर्थात् जिनकी अपनी कोई राय नहीं होती उनके हाथोंमें देशका सब कारबार सौंप दिया जाय।

मानव-समाजको अब नये-नये रास्ते मिलते जा रहे हैं। डाकियोंके संगठन, रेलवे मजदूर-संघ और विद्वत्परिषदोंके उदाहरणोंसे यह प्रतीत होने लगा है कि कानूनके बजाय स्वेच्छापूर्वक किये हुए समझौतेसे मामले ज्यादा अच्छी तरह तै होते है। आज भी जब भिन्न-भिन्न और दूर-दूर बिखरे हुए समुदाय किसी विशेष उद्देश्यसे परस्पर संगठित होना चाहते हैं तो वे किसी अंतर्राष्ट्रीय पार्लमेंटका चुनाव न करके दूसरे ही ढंगसे काम लेते हैं। जहाँ प्रत्यक्ष मिलकर या पत्र-द्वारा समझौता संभव नहीं होता वहां विवाद-ग्रस्त विषयके जानकार प्रतिनिधि भेजकर उनसे कह दिया जाता है कि अमुक-अमुक मामलेमें समझौता करनेकी कोशिश करना। वहाँसे कोई कानून बनवाकर लानेकी जरूरत नहीं है बल्कि समझौतेकी कोई ऐसी सूरत होनी चाहिए जिसे मानना या न मानना हमारे हाथमें हो।

यूरोप और अमेरिकाकी बड़ी-बड़ी औद्योगिक कंपनियों और अन्य सभाओंका यही तरीका है। स्वतंत्र समाजका भी यही तरीका होगा।

निरंकुश शासनके साथ-साथ गुलामीका होना जरूरी था। मजदूरी देकर गरीबोंका रक्त चूसनेवाले पूंजीवादके साथ प्रतिनिधि-शासनका ढकोसला ही शोभा देता है। पर जब समाज बंधन-मुक्त होकर अपना संयुक्त उत्तराधिकार पुनः प्राप्त करेगा तब भिन्न-भिन्न स्वतंत्र समूहों और उनके संघोंका ऐसा नया संगठन बनाना ही होगा जो नए अर्थ-शास्त्रके अनुकूल हो।

असल बात तो यह है कि जैसी आर्थिक अवस्था हो वैसी ही राजनीतिक संस्था बनती है। यदि राजनीतिक जीवनका कोई नया तरीका साथ-साथ न निकाला गया तो व्यक्तिगत संपत्तिको हाथ लगाना मुश्किल होगा।

: ४ :

निस्संपत्तीकरण

१

राथ्सचाइल्डके बारेमें कहा जाता है कि जब उसने १८४८की क्रांतिके कारण अपने धन-दौलतको ख़तरेमें देखा तो उसे एक चाल सूझी। उसने कहा—"मैं मुक्तकंठसे स्वीकार करता हूँ कि मेरी संपत्ति दूसरोंको चूसकर इकट्ठी की गयी है। पर यदि कल ही मैं उसे यूरोपके करोड़ों निवासियोंमें बाँट दूं तो हरएकके हिस्सेमें तीन रुपयेसे अधिक नहीं आयेंगे। अच्छी बात है, जो कोई मुझसे मांगने आयेगा उसको तीन रुपये दे दूंगा।" इस प्रतिज्ञाको प्रकाशित करके वह धनकुबेर सदाकी भांति चुपचाप बाज़ारमें घूमने निकल पड़ा। तीन-चार राहगीरोंने अपना-अपना हिस्सा माँगा। उसने व्यंग्यकी हंसीके साथ रुपये दे दिये। उसकी चाल चल गयी, और उस करोड़पती घरानेका धन अब भी उसके ही पास है।

ठीक यही दलील मध्यम श्रेणीके चालाक लोग भी देते हैं। वे कहा करते हैं—"अच्छा, आप तो निस्संपत्तीकरण चाहते हैं न? यानी यह कि लोगोंके लबादे छीनकर एक जगह ढेर लगा दिया जाय और फिर हरएक आदमी अपनी मर्जीसे जिसे चाहे उठा ले और सबसे अच्छेके लिए लड़ता रहे!"

पर ऐसे मज़ाक जितने बेतुके होते हैं उतने ही ओछे भी होते है। हम यह नहीं चाहते कि लबादोंका नया बटवारा किया जाय। वैसे सरदीमें ठिठुरनेवाले लोगोंका तो इसमें फायदा ही है। न हम करोड़-पतियोंकी दौलत ही बांट लेना चाहते हैं। परंतु हम इस प्रकारकी व्यवस्था अवश्य कर देना चाहते हैं जिससे संसारमें जन्म लेनेवाले प्रत्येक मनुष्यको कम-से-कम ये दो सुविधाएँ तो प्राप्त हो ही जायं—पहली

यह कि वह कोई उपयोगी धंधा सीखकर उसमें प्रवीणता प्राप्तकर सके और दूसरी यह कि वह बिना किसी मालिककी इजाजतके तथा बिना किसी भूस्वामीको अपनी कमाईका अधिकांश अर्पण किये, स्वतंत्रता-पूर्वक अपना रोजगार किया करे। और वह सम्पत्ति जो धनकुवेरोंके कब्जेमें है, सम्मिलित उत्पादनके प्रबंधमें काम आयेगी।

जिस दिन मजदूर खेती कर सकेगा पर उसे अपनी पैदावारका आधा किसी और को नजर न कर देना पड़ेगा, जिस दिन जमीनको उपजाऊ बनानेवाली कलोंपर किसानका स्वतंत्र अधिकार होगा, और जिस दिन कारखानेका श्रमजीवी किसी पूँजीपतिके लिए नहीं बल्कि समाजके लिए माल तैयार करेगा, उस दिन मजदूरोंके पेटमें पूरी रोटी और शरीर पर पूरा कपड़ा होगा; उस दिन न गरीबोंका रक्त शोषण करनेवाले होगे और न किसीको जरासी मजदूरीपर अपनी सारी उत्पादन-शक्ति बेचनी पड़ेगी।

आलोचक कहेंगे—"यहांतक तो ठीक है, पर बाहरसे आनेवाले पूंजीपतियोंका क्या करोगे? किसीको चीनमें जाकर दौलत जमा करने और फिर अपने यहां आकर बस जानेसे कैसे रोकोगे? ऐसे आदमी बहुतसे नौकर-चाकर रख लेंगे और उन्हें पैसेका गुलाम बनाकर, उनकी कमाई हड़पकर खुद मौज करते रहेंगे। तुम उन्हें कैसे रोकोगे? दुनिया-भरमें एक-ही साथ क्रांति तो होनेसे रही; तो फिर क्या तुम अपने देशकी सारी सीमाओंपर चौकियां बिठाकर सब भीतर आनेवालोंकी तलाशियां लोगे और उनके पासका रुपया-पैसा छीन लोगे? अराजक सिपाही यात्रियोंपर गोलियां बरसायें, यह दृश्य तो बढ़िया रहेगा!"

परन्तु इस दलीलकी जड़में ही भारी भ्रम है। ऐसा तर्क करनेवाले यह पता लगानेका कष्ट नहीं उठाते कि आखिर धनवानोंकी दौलत आती कहांसे है। थोड़े-से विचारसे ही उन्हें मालूम हो सकता है कि इस दौलतकी शुरूआत गरीबोंकी गरीबीसे ही होती है। जब कोई दरिद्र ही न रहेगा तो उसका खून चूसनेवाले धनवान कहाँसे आयँगे?

बड़ी-बड़ी सम्पत्तियोंकी उत्पत्ति तो मध्यकालसे ही है। जरा आप उस

समयकी अवस्थापर दृष्टिपात करें। एक सरदार साहब एक उर्वरा भूमिपर अधिकार जमा लेते हैं। परन्तु जबतक वहाँ आबादी नहीं होती तबतक सरदार साहब धनवान नहीं बनते। जमीनसे उन्हें कुछ भी नहीं मिलता, मानों उन्हें चन्द्रलोकमें जागीर मिली हो। अब सरदार साहब मालदार होनेकी तरकीब सोचते हैं। गरीब किसानोंकी तलाश करते हैं। यदि हरएक किसानके पास जमीन होती, उसे कर न देना पड़ता, और खेतीके लिए औजार और दूसरा सामान भी उसके पास होता, तो सरदार साहबकी जमीन कौन जोतता? हरएक अपनी-अपनी जमीन सम्हालता। परन्तु वहाँ तो युद्ध, अकाल और मरीके मारे हजारों गरीब ऐसे मौजूद थे जिनके पास न बैल थे, न हल। मध्य-युगमें लोहा तो महँगा था ही, खेतीके बैल और भी महंगे होते थे। इन सब गरीबोंको अपनी हालत सुधारनेकी फिक्र होती थी। भाग्यवश एक दिन सरदार साहबकी कोठीके बाहर सड़कपर एक सूचना टंगी हुई मिलती है। उससे मालूम होता है कि जो मजदूर उस जागीरमें बसना चाहते हों उन्हें अपने झोंपड़े बनाने और खेती करनेके लिए औजार और सामान, तथा कुछ वर्षोंके लिए थोड़ी जमीन भी मुफ्त मिलेगी।

बस वे अभागे गरीब आकर सरदार साहबकी जमीनपर बस जाते हैं। वे सड़कें बना लेते हैं, दलदल सुखा लेते हैं और गाँव बसा लेते हैं। नौ-दस बरसमें सरदार साहब लगान लेना शुरू कर देते है। फिर पाँच वर्ष बाद लगान बढ़ा देते हैं और फिर दूना कर देते हैं। किसानको इससे अच्छी हालत और कहीं नसीब नहीं होती, इसलिए वह इन सब शर्तोंको मंजूर कर लेता है। धीरे-धीरे सरदार साहब अपने ही बनाये कानूनोंकी मददसे किसानकी दरिद्रता और उसीके द्वारा अपनी सम्पन्नताको स्थायी बना लेते हैं। परंतु किसान सिर्फ जागीरदारका ही शिकार नहीं होता। ज्यों-ज्यों उसकी विपन्नता बढ़ती जाती है त्यों-त्यों गाँवोंपर टूट पड़नेवाले सूदखोरोंकी संख्या भी बढ़ती जाती है। यह तो हुई मध्य-युगकी बात। पर आज ही हालत कौन बहुत सुधर गयी है? अगर किसानके पास खेती करनेके लिए बिना लगानकी यथेच्छ जमीन हो

तो क्या वह किसी उमराव-बहादुरको पट्टा नामधारी कागजके टुकड़ेके बदलेमें दो-ढाई सौ रुपया या पैदावारका आधा हिस्सा दे देगा? पर बेचारा करे तो क्या करे? उसके पास कुछ भी तो नहीं। उसे तो अपना पेट पालना है। इसलिए खुद घोर परिश्रम करना और भूस्वामीको माला-माल बनाना, यह भी उसे स्वीकार है। इस प्रकार चाहे वर्तमान समयको लीजिए, चाहे मध्यकालको, कृषककी दरिद्रताही भूस्वामीके वैभवकी जननी रही है।

२

पूंजीपतिकी पूंजी भी वहींसे आती है। मध्यम श्रेणीके एक नागरिक-का उदाहरण लीजिए। मान लीजिए उसके पास किसी प्रकारसे दो-तीन लाख रुपये हो गये। यदि वह इस अंधाधुंध भोग-विलासके जमानेमें बीस-तीस हज़ार रुपया हरसाल ख़र्च कर दे तो दस वर्षके बाद उसके पास फूटी कौड़ी भी न बच रहेगी। पर वह तो ठहरा व्यावहारिक बुद्धिका आदमी। वह अपनी पूंजी तो ज्यों-की-त्यों बनाये रखना पसंद करता है। उपरसे एक ख़ासी आमदनीकी सूरत भी निकाल लेना चाहता है।

वर्तमान समयमें यह बात कुछ कठिन भी नहीं है। कारण स्पष्ट है। शहरों और गांवोंमें ऐसे असंख्य मजदूर मौजूद रहते हैं जिनके पास महीने-भर तो क्या एक पखवाड़ेके गुजारेका सामान भी नहीं होता। बस हमारे परोपकारी नागरिक महाशय एक कारखाना खोल देते हैं। अगर उनकी व्यावसायिक योग्यताकी ख्याति भी हो तो कोठी (बैंक) वाले भी उन्हें झट दो-चार लाख रुपया उधार दे देंगे। इतनी पूंजीसे वह महाशय आसानीसे पाँच सौ मज़दूरोका श्रम ख़रीद सकते है। बताइए, अगर देहातके सब स्त्री-पुरुषोंको भरपेट रोटी मिलती हो और उनकी रोज़मर्राकी आवश्यकताएँ पूरी हो जाती हों तो चार आनेका माल पैदा करके दो आने रोजकी मज़दूरीपर सेठ साहबकी गुलामी कौन करे?

परंतु कौन नहीं जानता कि हमारे नगरोंकी ग़रीब बस्तियोंमें और आस-पासके गाँवोंमें अनगिनत अभागे मोहताज भरे हैं जिनके बच्चे रोटीके लिए बिलबिलाया करते हैं। इस कारण कारखाना खड़ा भी नहीं होने पाता कि मज़दूरीके उम्मेदवारोंकी भीड़ लग जाती है। सौ की मांग होती है तो तीन सौ दरवाजेपर आ खड़े होते हैं। ऐसी दशामें यदि मालिकमें मामूली योग्यता भी हो तो वह कारखाना जारी होनेके समयसे ही प्रत्येक मज़दूरके हाथसे पाँच-छः सौ रुपया साल तो कमा ही लेता है।

इस प्रकार वह ख़ासी दौलत जमा कर लेता है। वह यदि कोई अच्छी आमदनीका धंधा ढूंढ ले और उसमें कुछ व्यवसाय-बुद्धि भी हो तब तो वह मज़दूरोंकी संख्या दुगुनी करके जल्दी ही मालामाल हो जायगा। इस प्रकार वह बड़ा आदमी बन जाता है। अब तो वह बड़े-बड़े हाकिमों, वकीलों और सेठ-साहूकारोंको भोज दे सकता है। रुपया रुपयेको खींचता ही है। धीरे-धीरे वह अपनी सन्तानके लिए भी जगह कर लेता है, और आगे चलकर सरकारसे भी उसे पुलिस या फ़ौजका ठेका मिल जाता है। और अगर कहीं लड़ाई छिड़ गयी या उसकी अफ़वाह ही उड़ गयी या बाजारमें सट्टेका जोर होगया तब तो फिर उसके पौ-बारह हैं।

अमेरिकाके अधिकांश करोड़पतियोंकी सम्पत्ति इस प्रकार राज्यकी सहायतासे बड़े पैमानेपर की जानेवाली बदमाशीका ही प्रसाद है। यूरोपमें भी दसमें से नौ आदमी इन्हीं साधनोंसे धनवान बने हैं। असलमें करोड़पती होनेका दूसरा तरीका ही नहीं है।

बस धनवान होनेका रहस्य संक्षेपमें यही है कि भूखों और दरिद्रों को तलाश कर उन्हें दो आने रोजकी मजदूरीपर रख लीजिए और कमा लीजिए उनके द्वारा तीन रुपये रोज। इस तरह जब धन इकट्ठा हो जाय तो राज्यकी सहायतासे कोई अच्छा सट्टा करके उसे और बढ़ा लीजिए।

अब हम जान गये कि जबतक बचतके पैसे भूखोंका खून चूसनेके काममें न लगाये जांय तबतक खाली बचतसे दौलत जमा नहीं हो

सकती। ऐसी दशामें अर्थशास्त्रियोंकी इस दलीलमें कोई दम नहीं कि दूरंदेशी और किफायतसे ही छोटी-छोटी पूंजियाँ इकट्ठी होती है।

उदाहरणके लिए एक मोचीको लीजिए। मान लीजिए उसे मजदूरी अच्छी मिलती है। ग्राहक भी काफी है और अत्यंत मितव्ययिताके द्वारा वह २०) रुपया मासिकतक बचा लेता है। यह भी मान लीजिए कि वह न कभी बीमार होता है, न भूखा रहता है, न शादी करता है, न बच्चे होते है। उसे क्षय भी नहीं होता। गरज, जो जी चाहे, मान लीजिए। फिर भी पचास वर्षकी अवस्थामें उसके पास दस-बारह हजार रुपयेसे अधिक जमा नहीं हो सकता। इससे उसका बुढ़ापा नहीं कट सकता; निस्सन्देह दौलत इस प्रकार जमा नहीं हुआ करती। पर मानलीजिए वही मोची अपनी बचत तो सेविंग्स बैंकमें जमा करके ब्याज पैदा करता रहे और किसी गरीबके छोकरेको जूता बनाना सिखानेके लिए नाम मात्रकी मजदूरीपर रखले। पांच वर्षमें गरीब तो समझेगा मेरा लड़का रोजगार सीख गया और मोचीको सोनेकी चिड़िया हाथ लग गयी।

यदि धंधा अच्छा चल गया तो मोची वैसे ही एक-दो लड़के और नौकर रख लेगा। धीरे-धीरे कुछ मजदूर उसके यहाँ आ रहेंगे। इन बेचारोंको तीन रुपये रोजके बदले तीन आने भी मिल गये तो वे गनीमत समझेंगे। यदि मोची-राजके ग्रह अच्छे हुए, अर्थात् उसमें चालाकी और कमीनापन काफी हुआ, तो वह अपने परिश्रमके फलके सिवा अपने आदमियोंके द्वारा दस-बारह रुपये रोज और कमा सकता है। फिर वह अपना कारबार बढ़ाकर धीरे-धीरे धनवान हो जाता है, और फिर उसे जीवन-सामग्रीके बारेमें कंजूसी करनेकी आवश्यकता नहीं रहती। इतना ही नहीं, वह अपनी संतानके लिए भी खासी दौलत छोड़ सकता है। इसीको लोग मितव्ययिता कहते हैं। परंतु वास्तवमें यह और कुछ नही, गरीबोंका शुद्ध शोषण है।

कहा जाता है कि व्यापारपर यह नियम लागू नहीं होता। यदि कोई आदमी चीनसे चाय खरीद कर फ्रांसले जाता है और वहां अपनी

मूल पूंजीपर तीस रुपये सेकड़ा मुनाफा कर लेता है तो बताइए उसने किसका खून चूसा ?

परंतु बात यहाँ भी ठीक वैसी ही है। अगर सेठ साहब मालकी गाँठें अपनी पीठपर लादकर लेजाते तब तो बात ठीक थी। प्राचीन कालमें देसावरी व्यापार ठीक इसी प्रकार हुआ करता था और इसीलिए उस समय आजकी भाँति किसीके पास अपरिमित सम्पत्ति भी इकट्ठी न होती थी। उस समय सोनेके सिक्के उन्हीं इने-गिने व्यापारियोंके यहां मिला करते थे जो भयानक जल-यात्राएँ करते और बहुत दिनोंके बाद घर लौटते थे। इतनी जोखिमें उठानेकी प्रेरणा उन्हें अर्थ-लोभकी अपेक्षा यात्रा और साहस-प्रेमके कारण अधिक होती थी।

पर आज-कल तो मामला बहुत आसान हो गया है। जिस व्यापारीके पास कुछ पूँजी है उसे धनवान बननेके लिए अपनी गद्दीपरसे हिलनेकी भी जरूरत नहीं। वह अपने अढ़तियोंको तार देकर दस-पाँच हजार मन गल्ला या चाय खरीद लेता है। तीन-चार महीनेमें माल जहाजमें भरकर उसके घर आ पहुंचता है। बीमा करा लेनेके कारण माल और जहाजको कोई जोखिम भी नहीं रहती। एक लाख रुपयेपर बीस-पच्चीस हजार वह बड़ी आसानीसे कमा लेता है।

अब यह सवाल उठ सकता है कि सात समुद्र पार जाने, यात्राकी कठिनाइयाँ उठाने और घोर परिश्रम करने तथा थोड़ेसे वेतनके लिए अपनी जान जोखिममें डालनेवाले मनुष्य सेठको कहाँ मिल जाते हैं? और वे बंदरगाहमें नाम-मात्रकी मजदूरी लेकर जहाजपर माल लादने और उतारनेके लिए क्यों तैयार हो जाते हैं? इसका उत्तर यह है कि मरता क्या नहीं करता? जरा बंदरगाहों, वहाँके भोजनालयों और सरायोंमें जाकर देखिए। वहाँ आपको आदमियोंका ठट्ट लगा दिखाई देगा। ये बेचारे प्रातःकालसे उनके फाटकपर घेरा डाले इस आशामें खड़े रहते हैं कि उन्हें जहाजपर काम मिल जायगा। नाविकोंको देखिए तो उन्हें भी महीनों प्रतीक्षा करनेपर जब लंबी जल-यात्राकी नौकरी मिल जाती है तब वे भी बड़े प्रसन्न होते हैं। उनका सारा जीवन समुद्रमें ही व्यतीत

होता है और अंतमें वहीं उनकी कब्र भी बनती है। उनके घरोंमें जाकर देखिए, उनके स्त्री-बच्चोंके शरीरपर चिथड़े मिलेंगे और यह मालूम न हो सकेगा कि अन्नदाताके लौटनेतक वे कैसे गुजर करते हैं। बस आपके सवालका जवाब मिल जायगा।

आप उदाहरणपर उदाहरण लेते चले जाइए। कहींसे भी चुन लीजिए। छोटी-बड़ी किसी भी तरहकी सम्पत्तिका मूल ढूंढिए। भले ही उस धनकी उत्पत्ति व्यापारसे हुई हो या महाजनी उद्योग-धंधे या भूमिसे हुई हो, सर्वत्र आप यही देखेंगे कि धनवानोंका धन दरिद्रोंकी निर्धनतासे पैदा होता है। यही कारण है कि राज्यहीन समाजमें किसी करोड़पतीके आकर बस जानेका भय नहीं है। यदि समाजके प्रत्येक मनुष्यको यह मालूम हो कि कुछ घंटे उत्पादक परिश्रम करनेसे उसे सब सुख भोगनेका अधिकार और कला तथा विज्ञानके आनन्दकी सुविधा प्राप्त हो सकती है तो फिर कौन भूखों मरकर मजदूरी करनेको तैयार होगा? कौन किसी करोड़पतीको मालामाल करनेके लिए राज़ी-खुशीसे मशक्कत करेगा? उस समय सेठ साहबकी मुहरें केवल धातु-खण्ड मात्र होंगी। उनसे और काम निकल सकेंगे, पर रुपया पैदा न किया जा सकेगा।

यहाँ निस्संपत्तीकरणकी सीमाका उल्लेख कर देना भी आवश्यक है। हम किसीसे उसका कोट छीनना नहीं चाहते। पर हम यह अवश्य चाहते हैं कि जिन चीजोंके न होनेसे मजदूर अपना रक्त शोषण करनेवालोंके शिकार आसानीसे बन जाते हैं वे चीजें उन्हें जरूर मिल जायं। हम इस बातका भी भरसक प्रयत्न करेंगे कि किसीको किसी चीजकी कमी न रहे और एक भी मनुष्यको अपनी और अपने बाल-बच्चोंकी आजीविका मात्रके लिए अपने दाहने हाथका बल बेचना न पड़े। निस्संपत्तीकरणसें हमारा यही अर्थ है। क्रांतिके समय ऐसा करना हमारा फ़र्ज़ होगा। उस क्रांतिकी प्रतीक्षा सौ-दो-सौ वर्ष नहीं करनी पड़ेगी। वह आनेवाली है और बहुत जल्द आनेवाली है।

३

स्वतंत्र स्वभावके लोग और वे लोग जिनका सर्वोच्च आदर्श केवल आलस्य नहीं है अराजकता और विशेषतः निस्संपत्तीकरणके विचारोंकी ओर बड़ी सहानुभूति रखते हैं। फिर भी वे यह चेतावनी देते रहते हैं कि इस बातका ध्यान रखना कि "तुम कहीं बहुत आगे न बढ़ जाओ। मनुष्य-जाति एक दिनमें बदल नहीं सकती, इसलिए तुम अराजकता और निस्संपत्तीकरणकी अपनी योजनाओंके बारेमें बहुत जल्दी न करना, अन्यथा भय है कि तुम कोई स्थायी फल प्राप्त न कर सकोगे।"

परन्तु निस्संपत्तीकरणके विषयमें खतरा तो दूसरी ही बातका है। खतरा इस बातका है कि हम इस मामलेमें काफी आगे न बढ़ सकेंगे और बड़े पैमानेपर स्थायी निस्संपत्तीकरण न कर पायेंगे। कहीं आधे रास्तेमें ही क्रांतिका जोश ठंढा न हो जाय; कहीं क्रांति अर्धसफल होकर ही समाप्त न हो जाय। अर्धसफल क्रांतिसे कोई भी संतुष्ट न हो सकेगा। समाजमें भयंकर गड़गड़ पैदा हो जायगी और उसका सब कामकाज बन्द हो जायगा। उस क्रांतिमें कुछ भी जीवन-शक्ति बाकी न रहेगी। सर्वत्र केवल असंतोष फैल जायगा और प्रतिक्रियाकी सफलताका मार्ग अनिवार्य रूपसे तैयार हो जायगा।

वर्तमान राज्य-संस्थामें कुछ ऐसे सम्बन्ध स्थापित हो गये हैं कि यदि उनपर केवल आंशिक प्रहार होगा तो उनका सुधार होना असंभव-सा है। हमारे आर्थिक संगठनकी मेशीनमें पुर्जेमें पुर्जा फंसा हुआ है। यह यंत्रजाल ऐसा पेचीदा और परस्पर-सम्बद्ध है कि इसके किसी पुर्जेको सुधारनेके लिए सारी मेशीनको छेड़े बिना काम न चलेगा। ज्यों ही किसी जगह निस्संपत्तीकरणका प्रयत्न किया जायगा, यह बात स्पष्ट हो जायगी।

मान लीजिए किसी देशमें निस्संपत्तीकरण आंशिक रूपमें किया गया। उदाहरणके लिए, केवल बड़े भूस्वामियोंकी जायदाद सार्वजनिक बना दी गयी और कारखानोंको अछूता छोड़ दिया गया, या किसी नगरमें

सारे मकान पंचायती सरकारने अधिकारमें ले लिये, पर शेष सब संपत्ति व्यक्तियोंके पास छोड़ दी गयी, या किसी औद्योगिक केन्द्र में कारख़ाने सार्वजनिक बना दिये गये और ज़मीन वैसी ही रहने दी गयी।

इन सब अवस्थाओंमें नतीजा एक ही होगा। नये ढंगपर पुनः संगठन तो हो न सकेगा और औद्योगिक व्यवस्थाका भयंकर नाश हो जायगा, उद्योग-धंधा और लेनदेन बिलकुल रुक जायगा। यह सब होने पर भी न तो ऐसे समाजके दर्शन होंगे जिसका आधार न्यायके साधारण सिद्धान्त हों, और न उस समाजमें यह सामर्थ्य होगा कि वह अपने सब अंगोंको एकताके धागेमें पिरो सके।

यदि कृषि बड़े भूस्वामियोंके पंजेसे छूट गयी और उद्योग-धंधे पूंजीपति, व्यापारी और बैंकरकी ही गुलामीमें रहे तो फायदा कुछ भी न होगा। आजकल किसानको भूमिपतिका लगान देनेका ही कष्ट नहीं है, वर्तमान परिस्थितिमें वह सभीके अत्याचारोंका शिकार होता है। जो दूकानदार उससे पाँच आनेकी मेहनतसे बने फावड़ेका डेढ़ रुपया वसूल कर लेता है वह भी उसे लूटता है। जिस राज्यका काम जबर्दस्त अधिकारियों या नौकरशाहीके बिना चल ही नहीं सकता और जो इसी वास्ते सेना रखता है कि बाज़ारोंपर अधिकार करने या एशिया और अफ्रीकाके किसी भागको चूसनेकी प्रतिद्वंद्वितामें किसी-न-किसी दिन युद्ध करना पड़ सकता है, वह भी उस किसानको करके भारसे दबाता है।

इसके अतिरिक्त देहातकी आबादी घटनेसे भी किसानको नुक़सान उठाना पड़ता है। विलास-वस्तुओंके कारख़ानोंमें मिलनेवाली थोड़े दिन की ऊँची मज़दूरीके प्रलोभन अथवा वहांकी चहल-पहलके आकर्षणसे युवक शहरोंमें चले जाते हैं। आजकल उद्योग-धंधोंकी अस्वाभाविक रक्षा की जाती है, अन्य देशोंकी औद्योगिक लूट जारी है, शेयरोंकी दलालीका रोजगार बढ़ रहा है, और ज़मीन तथा उत्पत्तिके साधनोंका सुधारना कठिन हो रहा है। ये सारी बातें कृषिकी उन्नतिमें बाधक हो रही हैं। जमीनपर केवल लगानका ही बोझ नहीं लदा हुआ है, बल्कि इस लुटेरे समाजकी सारी जटिलताओंका भी भार है। इसलिए चाहे जमीन

मालिकोंके हाथसे छीन ली जाय, चाहे हरएक आदमीको बिना लगान दिये ही अपनी पूरी शक्तिसे जमीन जोतने और फसल पैदा करनेकी स्वतंत्रता मिल जाय, और चाहे खेती थोड़े समयके लिए खूब उन्नति भी कर ले, फिर भी शीघ्र ही वह उसी दलदलमें गिर जायगी जिसमें वह आज फंसी हुई है। कठिनाइयां अधिक बढ़ जायँगी और सारा काम नये सिरेसे प्रारंभ करना पड़ेगा।

उद्योग-धंधोंकी भी यही बात है। दूसरी मिसाल लीजिए। यह कल्पना न कीजिए कि किसान ज़मीनके मालिक बन गये, बल्कि मान लीजिए कि कारखाने श्रमिकोंके हाथमें आगये। कारखानोंके मालिक तो मिट गये, पर जमींदारके पास जमीन, साहूकारके पास उसका पैसा, और दूकानदारके पास उसका माल रह गया। श्रमिकोंके श्रमपर जीवित रहनेवाले और निकम्मे बीचवाले सारे लोग रह गये। सारे अधिकारि वर्ग-सहित राज्यसंस्था भी बन रही। इस अवस्थामें भी उद्योग-धंधे एकदम बंद हो जायंगे। किसान तो दरिद्र होंगे ही। वे तैयार माल खरीद न सकेंगे। कच्चा माल कारखानेदारोंके पास होगा नहीं। अंशतः व्यापार बंद हो जाने और प्रायः दुनियाके सब देशोंमें उद्योग-धंधोंके फैल जानेके कारण कारखानेदार अपना माल बाहर न भेज सकेंगे। वे लोग परिस्थितिका सामना न कर सकेंगे और हज़ारों मज़दूर बेकार हो जायंगे। इन भूखों मरनेवाले लोगोंको जो रक्त-शोषक भी पहले मिल गया वे उसीके गुलाम बननेको तैयार हो जायंगे। काम दिये जानेके गारंटी-शुदा वादेपर तो ये लोग पुरानी गुलामी फिर कबूल कर लेनेको भी तैयार हो जायंगे।

अथवा कल्पना कीजिए कि आप जमींदारोंको निकाल देते हैं और मिलों-कारखानोंको श्रमिकोंके हाथमें दे देते हैं, पर कारखानोंकी पैदावारको खींच ले जानेवाले और बड़ी-बड़ी मंडियोंमें गल्ले, आटे, मांस और किरानेका सट्टा करनेवाले बीचके असंख्य लोगोंको नहीं हटाते। ऐसी अवस्थामें ज्यों ही मालकी बिक्री कम हो जायगी, ज्यों ही बड़े नगरोंमें रोटीका अभाव होगा और बड़े औद्योगिक केन्द्रोंको अपनी

तैयार की हुई विलासिताकी वस्तुओंके खरीदार न मिलेंगे, त्योंही प्रति-क्रांति होकर रहेगी। वह लोगोंका वध करती, गोलियों और गोलोंसे नगरों और गाँवोंका सफाया करती, निषेध और निर्वासनका आतंक फैलाती हुई आयेगी। फ्रांसमें १८१५, १८४८ और १८७१ में यही तो हुआ था।

सभ्य समाजमें सब बातें परस्पर-संबद्ध, अन्योन्याश्रित होती हैं। सारी व्यवस्थाको बदले बिना किसी एक बात का सुधार नहीं हो सकता। इसलिए जब कोई राष्ट्र व्यक्तिगत संपत्तिके किसी एक प्रकारपर—जमीन-पर या कारखानोंपर—आघात करेगा, तो उसे सबपर प्रहार करना पड़ेगा। क्रांतिकी सफलताके लिए ही यह काम करना पड़ेगा।

इसके अलावा यदि कोई यह चाहे भी कि क्रांति आंशिक निस्संपत्ती-करणतक ही सीमित रक्खी जाय तो यह भी असंभव होगा। एक बार "व्यक्तिगत संपत्तिके स्वर्गीय अधिकारके सिद्धान्तकी जड़ हिली नहीं कि फिर सिद्धांतोंकी चाहे जितनी व्याख्या-विवेचना क्यों न की जाय, वह खेतोंके गुलामोंको जमीनके और मशीनके गुलामोंको कारखानों की व्यक्तिगत मालिकीको उखाड़ फेंकनेसे रोक न सकेगी।

यदि कोई बड़ा नगर, मान लीजिए, पेरिस ही केवल रहनेके मकानों या कारखानोंपर ही अधिकार करके रह जाय, तो उसे यह भी कहना पड़ेगा कि हम पिछले ऋणके व्याजके बीस लाख पौण्ड न देंगे और ऋणदाता साहूकारोंको नगरपर इसके लिए कर न लगाने देंगे। उस बड़े नगरको विवश होकर देहाती प्रदेशोंसे अपना संपर्क रखना पड़ेगा। इसका प्रभाव यह होगा कि किसान भी भूमिपतिसे अवश्य अपना पिंड छुड़ाना चाहेंगे। नगरवासियोंको भोजन तथा काम मिल सके और सामानका अपव्यय न होने पाये, इसके लिए रेलोंको भी सार्वजनिक संपत्ति बनाना पड़ेगा। अनाजका सट्टा करनेवाली जिस प्रकारकी बड़ी कंपनियोंके कारण १७९३में पेरिसको भूखों मरना पड़ा था उनसे भी रक्षा करनी होगी। उसको जरूरी सामान अपने गोदामोंमें भरकर रखने और उसे ठीक-ठीक बांटनेका काम भी अपने हाथमें लेना पड़ेगा।

कुछ समाजवादी फिर भी एक अंतर कायम रखना चाहते हैं। वे कहते हैं—"भूमि, खानों, मिलों, उद्योग-धंधोंकी तो जब्ती होनी ही चाहिए। ये उत्पत्तिके साधन हैं और इनको सार्वजनिक सम्पत्ति समझना ठीक है; परंतु उपभोगकी वस्तुएं—अन्न, वस्त्र और मकान—व्यक्तिगत सम्पत्ति ही रहनी चाहिए।"

पर जनता इस सूक्ष्म भेदको खूब समझती है। हम लोग जंगली नहीं हैं जो जंगलोंमें केवल वृक्ष-शाखाओंके नीचे रह सकें। सभ्य मनुष्यके लिए तो ऐसा मकान चाहिए जिसमें उठने-बैठनेके कमरे हों, खाना पकानेको चूल्हा हो और सोनेको पलंग हो। यह तो सत्य है कि निठल्ले आदमीके लिए ये सब चीजें आलस्यका घर होती हैं। पर श्रमिकके लिए तो ठीक तौरसे गरम किया हुआ और रोशनीदार कमरा उसी प्रकार उत्पत्तिका साधन है जिस प्रकार औजार या मशीन। यहीं तो उसका शरीर अगले दिनका काम करनेके लिए शक्ति संचय करता है। श्रमिक का विश्राम मशीनकी रोजकी मरम्मतके बराबर है।

यह दलील भोजनके विषयमें और भी अच्छी तरह लागू होती है। उपर्युक्त भेदको कायम रखनेवाले अर्थशास्त्री कहे जानेवाले लोग भी इस बातसे इनकार न करेंगे कि उत्पत्तिके लिए मशीनमें जलनेवाला कोयला उतना ही आवश्यक है जितना कच्चा माल। तो फिर जिस खूराकके बिना मनुष्यरूपी यंत्र कुछ भी काम नहीं कर सकता वह उन चीजोंसे कैसे अलग की जा सकती है जो मजदूरके श्रमके लिए अनिवार्य रूपसे आवश्यक हैं? अमीरोंकी दावतें जरूर विलासिता है। मगर मजदूरका भोजन तो उत्पत्तिका वैसा ही भाग है जैसा कि एंजिनमें जलनेवाला कोयला।

यही बात वस्त्रोंकी भी है। हम लोग न्यूगिनीके जंगली नहीं हैं। यद्यपि शौकीन स्त्रियोंके महीन और बढ़िया-बढ़िया कपड़े विलासकी वस्तुएं माने जायँगे, पर माल पैदा करनेवाले श्रमिकके लिए कुछ सूती और कुछ ऊनी कपड़े तो जरूरी होते ही हैं। जिस कमीज और पाजामेको पहनकर वह काम करने जाता है और दिन भरका काम करके वह जिस कोटको शरीर

पर डाल लेता है वह तो उसके लिए उतना ही आवश्यक है जितना निहाईके लिए हथौड़ा।

हम चाहे पसंद करें या न करें, लोग तो क्रांतिका यही अर्थ समझते हैं। ज्योंही वे राज्यका सफाया कर देंगे, वे सबसे पहले इसका उपाय करेंगे कि उन्हें रहनेके लिए अच्छा घर और काफी भोजन-वस्त्र मिलता रहे और इन चीजोंके लिए पूंजीपतियोंको कुछ भी न देना पड़े।

जनताका ऐसा करना ठीक भी होगा। उत्पत्तिके साधनों और उपभोगकी वस्तुओंके बीच इतने भेद निकालनेवाले अर्थशास्त्रियोंकी अपेक्षा साधारण लोगोंके उपाय अधिक विज्ञानानुकूल होंगे। लोग समझते हैं कि क्रांतिका आरम्भ इसी स्थानसे होना चाहिए। **"मनुष्यजातिकी आवश्यकताओं और उनको पूर्ण करनेके आर्थिक साधनोंका अध्ययन"** ही सच्चा अर्थविज्ञान कहा जा सकता है, और लोग उसीकी नींव डालेंगे।

: ५ :

भोजन

१

आनेवाली क्रांतिको यदि हमें समाजवादी क्रांति बनाना है तो पूर्ववर्ती सब विप्लवोंसे वह न केवल अपने उद्देश्यमें किन्तु अपने साधनोंमें भी भिन्न होगी। नये उद्देश्यकी सिद्धिके लिए साधन भी नये होने ही चाहिए।

फ्रांसका ही उदाहरण लीजिए। वहां पिछले सौ वर्षोंमें हमने जिन तीन विराट सार्वजनिक आन्दोलनोंको देखा है वे परस्पर अनेक बातोंमें भिन्न हैं, पर उनमें एक बात सामान्य है।

इन सब आन्दोलनोंमें लोगोंने पुराने शासनको उलट देनेका यत्न किया और इस कामके लिए अपने खूनका दरिया बहा दिया। पर युद्धके कठिन आघात सहनेपर भी वे फिर भुला दिये गये। कुछ ऐसे लोगोंकी, जो कमोबेश सच्चे कहे जा सकते थे, सरकार बनायी गयी और उसने नये शासनका संगठन करनेका भार लिया। यह सरकार सबसे पहले राजनीतिक प्रश्नोंको हल करनेमें लग गयी। वे प्रश्न थे—शासन का पुनःसंगठन, व्यवस्थाका सुधार, राज्य और धर्मका पृथक्करण, नागरिक स्वतंत्रता, आदि। यह तो सत्य है कि श्रमिकोंके संघों (क्लबों) ने नयी सरकारके सदस्योंपर निगाह रक्खी और कई बार अपने विचार भी उन पर लादे। परंतु इन संघोंमें भी, चाहे नेता मध्यम वर्गके रहे हों या श्रमिक वर्गके, अधिक प्रभाव मध्यम वर्गके विचारोंका ही रहा। वे विविध राजनीतिक प्रश्नोंपर विस्तारके साथ वाद-विवाद करते थे, पर रोटीके सवालको भूल ही गये।

ऐसे अवसरोंपर बड़े-बड़े विचारोंका जन्म हुआ है। वे विचार ऐसे

थे जिन्होंने संसारको हिला दिया। उन अवसरोंपर ऐसे शब्द कहे गये जो आज एक शताब्दीसे अधिक बीत जानेपर भी हमारे हृदयोंमें उत्साह भर देते हैं। परंतु उधर गंदी-तंग गलियोंमें लोग भूखों मर रहे थे।

क्रांतिका प्रारंभ होते ही उद्योग-धंधे अनिवार्य रूपसे रुक गये। मालका क्रय-विक्रय बंद हो गया और पूंजी छिपा ली गयी। कारखानोंके मालिकोंको तो ऐसे समय भी किसी बातका भय नहीं था। वे अपने मुनाफे खाकर मोटे होते थे। उनका बस चलता तो वे चारों तरफ फैली हुई दुरवस्थापर भी सट्टा करते। मगर मजदूरोंका गुजारा मुश्किलसे होने लगा। दरिद्रता उनके द्वारपर मुंह बाये आ खड़ी हुई। देशमें चारों ओर दुष्काल फैल गया, और दुष्काल भी ऐसा जैसा पुराने शासनमें शायद ही कभी पड़ा हो।

१७९३में श्रमिकोंने यह चिल्लाहट मचायी कि 'जिरोण्डिस्ट'† लोग हमें भूखों मार रहे हैं। इसपर जिरोण्डिस्ट कतल किये गये और शासनकी सारी शक्तियां 'माउण्टेन' और 'कम्यून' सरकारके हाथोंमें दे दी गयीं। कम्यून-सरकारने अलबत्ता रोटीके प्रश्नको उठाया और पेरिस-वासियोंका पेट भरनेमें उसने भगीरथ प्रयत्न किया। फूशे और कोलो दरब्वाने लियोंमें अन्न-भण्डार स्थापित किये, पर उनको भरनेमें जो रकम खर्च की गयी वह अति अपर्याप्त थी। नगर-समितियोंने अन्न प्राप्त करनेके बड़े प्रयत्न किये। जिन दूकानदारोंने आटा गुप्त रूपसे इकट्ठा कर रक्खा था उनको फांसी दे दी गयी। फिर भी लोग रोटीके लिए तरसते ही रहे।

तब वे लोग राजभक्त षड्यंत्र-कारियोंपर टूटे और सारा दोष उनके मत्थे मढ़ा। रोज दस-पंद्रह जागीरदारोंकी पत्नियां या नौकर फांसीपर लटका दिये जाते थे। बेचारे नौकरोंकी ज्यादा कमबख्ती थी, क्योंकि उनकी मालिकिनियां तो कोब्लेंत्स (जर्मनी) चली गयीं। पर यदि वे रोज सौ सरदारोंका भी वध करते तोभी परिणाम उतना ही निराशाजनक होता।

† पहली फ्रेंच क्रांतिका एक प्रमुख नरम दल।

अभाव बढ़ता ही गया। मजदूरीपेशा आदमी बिना मजदूरीके जीवित नहीं रह सकता और मजदूरी मिलती न थी। उसके लिए हजार लाशें गिरीं तो क्या और दो हजार गिरीं तो क्या?

तब लोग ऊबने लगे। क्रांति-विरोधी लोग श्रमिकोंके कानोंमें कहने लगे—"तुम जिस क्रांतिकी इतनी डींग मारते थे देख लिया उसका मजा! तुम्हारी हालत तो पहलेसे भी खराब है।" धीरे-धीरे धनवानोंको भी साहस हुआ। वे अपने बिलोंमें से निकल-निकलकर बाहर आने लगे और भूखों मरती हुई जनताके सामने अपनी विलासिताका प्रदर्शन करने लगे। वे छैलों की-सी पोशाकें पहन-पहनकर श्रमिकोंसे कहने लगे—"इस मूर्खताको बस करो। तुम्हें इस क्रांतिसे क्या मिला?

क्रांतिकारियोंका दिल बैठ गया। उनका धैर्य छूट गया और अंतमें उन्हें स्वीकार करना पड़ा कि इस बार फिर वे बाजी हार गये। वे फिर अपने झोंपड़ोंमें जा बैठे और बड़ी-से-बड़ी मुसीबतकी प्रतीक्षा करने लगे।

तब प्रतिक्रिया गर्वके साथ उठी और मरती हुई क्रांतिकी पीठपर एक और लात जमादी। क्रांति मर चुकी थी, अब उसकी लाशको पैरों-तले रौंदनेके अतिरिक्त कुछ बाकी न था।

अब क्रांति-विरोधियोंका आतंक प्रारंभ हुआ। पानीकी भांति खून बहाया गया। फांसीका तख्ता कभी खाली न रहा। कारागार भर दिये गये और धनवान लोगोंकी तड़क-भड़क फिरसे सामने आयी। सब काम पहलेकी भांति मजेसे चलने लगा।

इस चित्रको हमारी सारी क्रांतियोंका नमूना समझना चाहिए। १८४८ में प्रजातंत्र शासनकी खातिर पेरिसके श्रमिकोंने तीन मासकी भूख सहन की। जब आगे बस न चला तो उन्होंने एक अंतिम जी-तोड़ प्रयत्न किया। वह प्रयत्न भी रक्तपातके बाद निष्फल हो गया। १८७१में युद्ध करनेवालोंकी कमीके कारण कम्यून-शासन नष्ट हो गया। उसने धर्म और राज्यको पृथक करनेके उपाय तो किये, परंतु खेद है कि समय निकल जानेसे पहले लोगोंको रोटी देनेके प्रबन्धकी ओर ध्यान नहीं दिया। पेरिसमें तो यहांतक हुआ कि बड़े आदमियोंने क्रांतिमें भाग

लेने वालोंको ठोकरें मारीं और कहा—हम बड़े लोग तो सुंदर भोजन-गृहोंमें भोजन करते हैं, तुम यहां क्यों बाधा देते हो? जाकर कहीं मजदूरी क्यों नहीं करते।

आखिरकार कम्यून-सरकारने अपनी भूल समझी और सार्वजनिक भोजनालय खोल दिये। पर समय बीत चुका था। उसके दिन इने-गिने रह गये थे और वरसेईकी सेनाएं नगरकी दीवारोंतक पहुँच गयी थीं।

"रोटी! क्रांतिकारियोंको तो बस रोटी चाहिए।" अन्य लोग भले ही शानदार घोषणाएं निकालते रहें, सुनहरी सरकारी वर्दियोंसे अपनेको सजाते रहें और राजनीतिक स्वतंत्रताकी बातें करनेमें समय बिताते रहें!

हमें तो यह प्रबंध करना है कि स्वतंत्रताके लिए लड़नेवाले सब प्रांतोंमें, क्रांतिके प्रथम दिनसे अंतिम दिनतक, एक भी ऐसा आदमी न हो जिसके पास रोटीकी कमी हो; एक भी ऐसी स्त्री न हो जिसे मोटी-झोंटी खैरातमें फेंकी हुई रोटीके लिए रोटीकी दूकानोंके दरवाजेके सामने परेशान भीड़के साथ खड़ा रहना पड़े; एक भी ऐसा बालक न हो जो रोटीके लिए चिल्लाता हो।

मध्यमवर्ग सदा यह चाहता रहता है कि बड़े-बड़े सिद्धान्तों अथवा यों कहिए कि बड़े-बड़े असत्योंके विषयमें लंबे-लंबे भाषण किये जायं। पर जनता तो यह चाहेगी कि सबको रोटी मिले। जिस समय मध्यम-वर्गके नागरिक और उन्हींके विचारोंसे प्रभावित मजदूर लोग सभा-सम्मेलनोंमें किये हुए अपने लच्छेदार भाषणोंकी प्रशंसा करते होंगे, और जिस समय "व्यावहारिक आदमी" शासन-संगठनके तरीकोंपर वाद-विवादमें उलझे होंगे उस समय हम लोगोंको तो भोजनके प्रश्न पर ही विचार करना पड़ेगा, भले ही आज हमें कोई, स्वप्न-संसारका प्राणी कहे।

हम यह घोषणा करनेका साहस करते हैं कि रोटी पानेका हक़ सबको है, रोटी इतनी काफी है कि सबका पेट भर सके और "सबके लिए रोटी"का नारा ऐसा है जिसके सहारे क्रांति सफल हो जायगी।

२

कहा जाता है कि हम हवाई किले बनानेवाले लोग हैं। ठीक है। हम तो यहांतक मानते हैं कि क्रांति सबको रोटी-कपड़ा और घर दे सकती है और उसे देना चाहिए। यह एक ऐसा विचार है जिसे मध्यम-वर्गके नागरिक, चाहे वे किसी भी दलके हों, बिलकुल नापसन्द करते हैं, क्योंकि वे यह बात खूब जानते हैं कि जिनके पेट भरे हुए हैं उन्हें दबाये रखना सहल नहीं है !

फिर भी हम अपनी बातपर कायम हैं। क्रांति करनेवालोंके लिए रोटी मिलनी ही चाहिए। रोटीका सवाल ही दूसरे सारे सवालोंसे पहले हल किया जाना चाहिए। यदि यह प्रश्न इस प्रकार हल होगया कि उससे सारी जनताका हित हो तो समझना चाहिए कि क्रांति ठीक रास्तेपर लग गयी, क्योंकि रोटीका सवाल हल करनेमें हमें समानताका सिद्धान्त स्वीकार करना पड़ेगा। इस मसलेको हल करनेका और कोई उपाय हो ही नहीं सकता।

यह निश्चय है कि १८४८की क्रांतिकी भांति आगामी क्रांतिका उदय भी ऐसे समय होगा जब हमारे उद्योग-धन्धोंपर महान विपत्तिके बादल छाये होंगे। पचास वर्षसे फोड़ा पक रहा है। वह फूटकर ही रहेगा। सारी घटनाएं संसारको क्रांतिकी ओर लेजा रही हैं। नये-नये राष्ट्र अंतर्राष्ट्रीय व्यापारके अखाड़ेमें उतर रहे हैं और दुनियाके बाजारोंपर अधिकार करनेके लिए लड़ रहे हैं। युद्ध हो रहे हैं। टैक्स बढ़ रहे हैं। राष्ट्रोंपर कर्ज लद रहा है। कलकी चिन्ता सबपर सवार है। विदेशोंमें उपनिवेशोंका खूब विस्तार किया जा रहा है।

इस समय यूरोपमें लाखों श्रमजीवी बेकार हैं। जब क्रांति आ धमकेगी और बारूदकी गाड़ीमें लगायी हुई आगकी तरह फैल जायेगी तो हालत और भी बुरी होगी। ज्योंही यूरोप और अमरीकामें रोककी दीवारें खड़ी कर दी जायँगी, बेकारोंकी संख्या दुगुनी हो जायगी। इन बहुसंख्यक लोगोंको रोटी देनेके लिए क्या उपाय करना होगा ?

यह तो मालूम नहीं कि जो लोग अपनेको 'अमली आदमी' कहते हैं उन्होंने कभी अपने आपसे इस प्रश्नका उत्तर माँगा है या नहीं। पर हम यह जरूर जानते है कि वे मजदूरी-प्रथा कायम रखना चाहते हैं, और इसलिए हमें आशा करनी चाहिए कि 'राष्ट्रीय कारखाने' और पब्लिक वर्क्स खुलेंगे और इनके जरिये बेकारोंको रोटी देनेका ढोंग रचा जायगा।

१७८९ और १७९३ में राष्ट्रीय कारख़ाने खुले थे। १८४८ में भी यही साधन काममें लाये गये थे। नेपोलियन तृतीयने सार्वजनिक कारखाने कायम करके अठारह वर्षतक पेरिसके श्रमजीवियोंको संतुष्ट रक्खा था, भले ही इसके कारण आज पेरिसपर आठ करोड़ पौंडका ऋण और तीन-चार पौंड प्रति व्यक्ति म्युनिसिपल कर है। * 'जानवरको पालतू बनाने' का यह बढ़िया तरीका रोममें भी बरता जाता था, और शक्ति संगठित करनेका समय प्राप्त करनेके लिए लोगोंको रोटीका टुकड़ा फेंकनेकी चाल सदासे स्वेच्छाचारीशासक, राजा और सम्राट चलते रहे हैं। इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि अमली या व्यावहारिक लोग मजदूरी या वेतनकी प्रथाको स्थायी बनानेके इस उपायकी प्रशंसा करें। जब सत्ताधीशोंके सनातनसे चले आये हुए ये उपाय हमारे पास मौजूद हैं तो हमें अपने मस्तिष्कोंको कष्ट देनेकी आवश्यकता ही क्या है?

क्रांति अगर शुरूसे ही ग़लत रास्तेपर लगायी गयी तो इसका जहाज़ किनारे कैसे लगेगा?

२७ फरवरी सन् १८४८ को, जब राष्ट्रीय कारख़ाने खुले थे, पेरिसके बेकारोंकी संख्या ८००० थी। दो सप्ताहके बाद वे ४९,००० हो गये। प्रांतोंसे आनेवालोंकी बड़ी संख्याको शामिल किये बिना भी, उनकी संख्या शीघ्र ही १,००,००० हो जाती।

फिर भी उस समय फ्रांसके व्यवसायों और कारखानेमें लगे हुए मजदूर आजसे आधे थे। हम जानते हैं कि क्रांतिमें विनिमय और

* सन् १९०४ में पेरिसका म्युनिसिपल ऋण २,२६,६५,७९,१०० फ्रांक था और उसके व्याज आदि पर होने वाला व्यय १२१,०००,००० फ्रैंक था।

उद्योग-धंधोंको ही अधिक हानि पहुंचा करती है। वास्तवमें हमें उन्हीं श्रमजीवियोंकी चिंता करनी है जिनकी मज़दूरी प्रत्यक्ष या परोक्ष-रूपसे निर्यात-व्यापारपर अवलंबित है या जो उस विलास-सामग्रीको बनानेमें लगे रहते हैं जिनकी खपत अल्पसंख्यक मध्यमवर्गमें होती है।

तो यूरोपमें क्रांति हो जानेका अर्थ है कम-से-कम आधे कारख़ानों का अनिवार्य रूपसे बन्द हो जाना; लाखों श्रमजीवियों और उनके परिवारोंका सड़कोंपर मारे-मारे फिरना। 'अमली आदमी' लोगोंके कष्ट-निवारणार्थ तत्काल नये राष्ट्रीय कारखाने खोलकर इस भयंकर परिस्थिति-को हटाना चाहेंगे। वे बेकारोंको काम देनेके लिए उसी वक्त नये उद्योग-धंधे खोलेंगे।

जैसा कि प्रूडोंनने लगभग ५० वर्ष पहले ही बता दिया था, यह स्पष्ट है कि व्यक्तिगत संपत्तिपर हलकासा हमला करनेसे भी उसके साथ ही व्यक्तिगत व्यवसाय और मजदूरी-प्रथापर आश्रित सारी प्रणाली का पूर्ण विघटन हो जायगा। समाजको विवश होकर संपूर्ण उत्पादन अपने हाथमें लेना पड़ेगा और सारी जनताकी आवश्यकताओंकी पूर्ति करनेके लिए उसका पुनःसंगठन करना पड़ेगा। परंतु यह कार्य एक दिनमें या एक मासमें पूरा नहीं हो सकता। माल तैयार करनेका ढांचा बदलनेमें कुछ समय लगेगा। और इतने कालतक लाखों आदमी जीवन-निर्वाहके साधनोंसे वंचित रहेंगे। तो फिर किया क्या जाय?

यह समस्या एक ही तरहसे हल हो सकती है। जो महान कार्य हमारे सामने है हम उसे साहसके साथ हाथमें ले लें, और जिस परि-स्थितिको हमने स्वयं विगाड़ दिया है उसमें पैवन्द लगानेका प्रयत्न न करके बिलकुल नये आधारपर उत्पादनका पुनःसंगठन प्रारंभ करें।

इसी प्रकार हमारी समझसे काम करनेका सच्चा व्यावहारिक रास्ता यही होगा कि लोग विद्रोही प्रदेशोंकी सारी भोजन-सामग्रीपर तत्काल अधिकार करलें। उस सारी सामग्रीका पूरा-पूरा हिसाब रक्खा जाय, ताकि उसमें से थोड़ेका भी नुकसान न हो, और इस इकट्ठी की हुई शक्तिसे हरएक व्यक्ति विपद्-कालको पार करनेयोग्य हो जाय। उसी बीच,

कारखानोंमें काम करनेवालोंसे एक समझौता करना होगा। उन्हें आवश्यक कच्चा माल देना होगा, उन्हें जीवन-निर्वाहके साधन मिलनेकी पक्की व्यवस्था कर देनी होगी; और वे किसानोंकी जरूरतकी चीजें तैयार करनेका काम करेंगे। अंत में, पड़ती भूमिको जो बहुतसी है, खूब उपजाऊ बनाना पड़ेगा, कम उत्पन्न करनेवाली भूमिको अधिक उत्पन्न करनेवाली बनाना पड़ेगा, और अच्छी जमीनको भी, जिसकी उपज आज जितनी हो सकती है उसकी चौथाई या दशांश भी नहीं है, क़ीमती बाग या फूलोंकी क्यारीकी तरह मेहनतसे जोतकर तैयार करना पड़ेगा। और किसी तरह इस गुत्थीको सुलझानेकी बात सोची ही नहीं जा सकती। हम चाहें या न चाहें, परिस्थिति बलात् यही कराके रहेगी।

३

वर्तमान पूंजीवादकी सबसे बड़ी विशेषता है मज़दूरी-प्रथा। वह संक्षेपमें इस प्रकार है—

कोई आदमी या कई आदमियोंका गुट्ट, जिसके पास आवश्यक पूंजी होती है, कोई औद्योगिक कारबार शुरू करता है। कारखानोंको कच्चा माल देनेका भार वही ले लेता है और उत्पत्तिका प्रबंध भी वही करता है। काम करनेवालोंको तो बंधी मजदूरी-भर दे देता है और सारा मुनाफ़ा खुद हड़प कर जाता है। इसके लिए बहाना यह बनाया जाता है कि कारबारका प्रबंध करना, इसकी सारी जोखिम उठाना और मालका दाम घटने-बढ़नेकी झोंकी लेना, यह सब जो हमींको करना पड़ता है।

इस प्रथाको बनाये रखनेके लिए पूंजीपर वर्तमान एकाधिकार रखनेवाले लोग कुछ रिआयत देनेको भी तैयार हो जायंगे। मसलन् वे श्रम-जीवियोंको लाभका कुछ भाग देना मंजूर कर लेंगे, अथवा मंहगीके समय मज़दूरी बढ़ा दिया करेंगे। गरज यह कि यदि उन्हें कारख़ाने अपने हाथमें रखने और उनके अच्छे फल खालेने दिया जाय तो वे थोड़ासा त्याग करना भी स्वीकार कर लेंगे।

हम जानते हैं कि समष्टिवाद (Collectivism) मज़दूरी-प्रथाको मिटाता नहीं, हां वर्तमान व्यवस्थामें वह बहुत-कुछ सुधार अवश्य सुझाता है। समष्टिवादके अनुसार कारख़ानेदार न रहेंगे, उनके बदले राज्य या प्रतिनिधि-शासन रहेगा। राष्ट्रके प्रतिनिधि या प्रदेशोंके प्रतिनिधि और उनके सहकारी या अधिकारी लोग ही उद्योग-धंधोंका संचालन करेंगे। बचे हुए मालके सबके हितके लिए उपयोगका हक़ भी ये लोग अपने ही पास रक्खेंगे। इसके अतिरिक्त समष्टिवाद मज़दूर और कारीगरके बीच एक बड़ा सूक्ष्म पर महत्त्वपूर्ण भेद करता है। समष्टिवादीकी दृष्टिमें मजदूरका काम 'साधारण' श्रम है। परंतु एक कारीगर, मिस्तरी, इंजीनियर, विज्ञानवेत्ता आदिका काम वह काम है जिसे मार्क्सने 'पेचीदा काम' कहा है और इसलिए उसका वेतन भी ऊँचा होना चाहिए। पर मजदूर और कारीगर, बुनकर और विज्ञानवेत्ता, सभी राज्यके वेतन-भोगी नौकर हैं।

परंतु आनेवाली क्रांतिसे यदि सब प्रकारकी मजदूरीकी प्रथा मिट जाय और ऐसे साम्यवादकी स्थापना हो जाय जिसमें इस प्रकारकी गुलामीकी गुंजाइश ही न रहे तो मनुष्य-समाजकी इससे बड़ी और क्या सेवा हो सकती है ?

यह मान लेनेपर भी कि संपन्नता और शांतिके समयमें वर्तमान व्यवस्थामें समष्टिवादी सुधार धीरे-धीरे किया जा सकता है—यद्यपि मुझे इसमें संदेह है—पर क्रांति-कालमें, जब युद्धके प्रथम आह्वानके साथ लाखों भूखे लोगोंको खिलानेकी आवश्यकता खड़ी हो जायगी, इस प्रकारका सुधार करना असंभव होगा। उद्योग धंधोंकी जड़ोंको हिलाये बिना राजनीतिक क्रांति तो हो सकती है, परंतु जिस क्रांतिमें लोग संपत्तिपर हाथ डालेंगे उसमें सारा विनिमय और सारा उत्पादन बंद हुए बिना नहीं रह सकता। सार्वजनिक कोषमें आनेवाला करोड़ोंका धन भी लाखों बेकारोंको मजदूरी चुकानेके लिए काफ़ी न होगा।

इस बातपर जितना भी जोर दिया जाय कम होगा। नये आधार पर उद्योग-धंधोंका पुनःसंगठन कुछ ही दिनोंमें पूरा नहीं हो सकता;

और, न लोग मजदूरी-प्रथाका समर्थन करनेवाले सिद्धांतवादियोंपर कृपा करके वर्षोंतक आधे पेट रहना ही स्वीकार करेंगे। कष्ट-कालको पार करनेके लिए उनकी वही मांग होगी जो ऐसे अवसरोंपर सदा हुआ करती है। वे चाहेंगे कि भोजन-सामग्री सार्वजनिक संपत्ति बना दी जाय और उसमेंसे लोगोंको रसद बांट दी जाया करे।

धैर्यका उपदेश देना व्यर्थ होगा। लोग धैर्य न रख सकेंगे। यदि भोजन न मिलेगा तो वे रोटीकी दुकानोंको लूट लेंगे।

इसके बाद यदि लोग सफल न हो सके तो वे गोलियोंसे मार दिये जायंगे और समष्टिवादके लिए मैदान साफ कर दिया जायगा। इस उद्देश्यकी सिद्धिके लिए किसी भी प्रकार 'व्यवस्था' स्थापित करनी पड़ेगी। और अनुशासन और आज्ञापालकता उत्पन्न करनी होगी। जब क्रांतिकारी कहे जानेवाले लोग ही जनतापर गोलियां दागेंगे तो जनताकी दृष्टिमें क्रांति घृणित हो जायगी। पूंजीपति लोग यह बात शीघ्र ही समझ जायंगे। वे अवश्य ही 'व्यवस्था' कायम करनेवाले वीरोंका समर्थन करेंगे, भले ही वे वीर समष्टिवादी ही क्यों न हों। वे समझेंगे कि इस उपायसे बादमें हम समष्टिवादियोंको भी दबा लेगें। यदि इस विधिसे 'व्यवस्था' स्थापित हो गयी तो परिणामका अनुमान करना सरल है। 'व्यवस्था' करने वाले लोग 'लूट मचानेवालों' को ही मारकर संतुष्ट न हो जायंगे। वे 'भीड़के सरगना' लोगोंको भी पकड़ेंगे। वे फिरसे न्यायालय स्थापित करेंगे और जल्लाद मुकर्रर करेंगे। ज्यादा जोशीले क्रांतिकारी फांसीके तख्तेपर चढ़ा दिये जायंगे। सन् १७९३ की पुनरावृत्ति हो जायगी।

पर सारे लक्षणोंसे हमें तो यही विश्वास होता है कि लोगोंका जोश उन्हें काफ़ी दूर ले जायगा और जब क्रांति होगी तबतक अराजक साम्यवादके विचार जड़ पकड़ लेंगे। ये विचार बनावटी नहीं हैं। लोगोंने स्वयं ही इन विचारोंको प्रकट किया है। और, जैसे-जैसे यह मालूम होता जाता है कि इसका दूसरा उपाय नहीं है वैसे-वैसे समाजवादी लोगोंकी संख्या बढ़ती जाती है।

अगर लोगोंमें जोश काफ़ी ज्यादा हुआ तो परिस्थिति बिलकुल दूसरी ही होगी। विप्लवकारी नगरोंके लोग तब ऐसा न करेंगे कि पहले दिन तो रोटीवालोंकी दूकानोंको लूट लें और दूसरे ही दिन भूखों मरें। बल्कि वे गोदामोंपर, पशुओंके बाजारोंपर—वस्तुतः खानेकी चीजोंके सारे भंडारों और समस्त प्राप्य भोजनपर—अधिकार कर लेंगे। भले-भले नागरिक, स्त्रियां और पुरुष दोनों, अपने स्वयंसेवक दल बना लेंगे और सारी दूकानों और गोदामोंकी चीजोंकी एक सरसरी साधारण सूची बना लेनेके काममें लग जायंगे।

यदि ऐसी क्रांति पेरिसमें हुई तो खाद्य-सामग्रीका परिमाण कम्यूनको चौबीस घंटेमें ही मालूम हो जायगा, जो गणना-कमेटियोंके होते हुए भी आज नगरको मालूम नहीं है और जिस बातका पता १८७१के घेरेमें भी उसे न लग पाया था। अड़तालीस घंटेमें तो ऐसे नक्शोंकी लाखों प्रतियां छप कर बंट भी जायंगी जिनमें प्राप्य खाद्य-सामग्रीका ठीक-ठीक हिसाब दिया होगा और यह लिखा होगा कि कहां-कहां वे रक्खी हैं और कैसे-कैसे बांटी जायंगी।

हर चालमें, हर गलीमें, हर मुहल्लेमें स्वयं सेवकोंके दल संगठित हो जायंगे। ये सामान पहुंचाने वाले स्वयं-सेवक आसानीसे दूसरोंसे मिलकर और उनसे संपर्क रखकर काम कर सकेंगे, बशर्ते कि उद्दंड राजनीतिज्ञोंकी तलवारोंकी बाधा मार्गमें न आये और अपनेको 'वैज्ञानिक' सिद्धांतवादी कहने वाले लोग अपनी उलटी सलाहें देनेको बीचमें न कूदें। वे अपने कूड़ा-भरे मग़ज़ोंसे निकाल-निकालकर कैसे ही सिद्धांतों का प्रतिपादन क्यों न करते रहें, उन्हे कोई अधिकार या सत्ता न मिलनी चाहिए। जनतामें संगठन करनेकी अद्‌भुत शक्ति है, पर उसे काममें लानेका उसे कभी अवसर नहीं दिया गया। उपर्युक्त बाधाएं न आयीं तो उसी शक्तिसे बड़े-से-बड़े नगरमें और क्रांतिके मध्यमे भी अवैतनिक कार्यकर्त्ताओंका ऐसा बड़ा संघ बन जायगा जो सब लोगोंको भोजन पहुंचानेको तैयार हो जायगा।

यदि लोगोंको आप स्वतंत्र छोड़ दें तो दस दिनमें ही भोजन-प्रबंध

बड़ी नियमबद्धतासे चलने लगेगा। जिन्होंने लोगोंको जी-जानसे काम करते कभी नहीं देखा, जिन्होंने दफ़्तरोंके काग़ज़ोंमें ही अपना सारा जीवन बिता दिया है, केवल वे ही लोग इस बातमें शंका कर सकते है। घेरेके दिनोंमें पेरिसके लोगोंने जिस संगठन-शक्तिका परिचय दिया था, और डकके मजदूरोंकी हड़तालके समय, जब पांच लाख भूखों मरते आदमियोंको खिलाना पड़ता था, लंदनमें जो संगठनशक्ति लोगोंने दिखाई थी, उसको देखनेवाले लोग बता सकते हैं कि वह कोरी दफ़्तरी योग्यतासे कितनी बड़ी चीज है।

यदि हम यह भी मान ले कि हमें थोड़ी असुविधा और गड़बड़ एक पक्ष या एक मासतक सहन करनी पड़ेगी, तो भी क्या? साधारण जनताके लिए तो वह हालत उसकी पिछली हालतसे अच्छी ही होगी। और फिर क्रांतिके दिनोंमें घटनाओंपर गरमागरम बहस करते हुए दो टुकड़ा नमक-रोटी खाकर भी मनुष्य संतोष मान सकता है।

कुछ भी हो, अनेक कमेटियां बनानेवाले अप्रगतिशील सिद्धांतवादी लोग चहारदीवारियोंके बीच बैठकर जिस बातका आविष्कार करेंगे उसकी अपेक्षा तो सामयिक आवश्यकतासे अपने आप निकल आनेवाली व्यवस्था हजार दर्जे अच्छी होगी।

४

बड़े नगरोंके लोगोंको तो सारे नागरिकोंकी आवश्यकताओंकी पूर्ति के लिए परिस्थितिसे विवश होकर सारी खाद्य-सामग्रीपर कब्जा करना पड़ेगा—पहले परम आवश्यक वस्तुओंपर, फिर दूसरी चीजोंपर। यह काम जितनी जल्दी होगा उतना ही अच्छा होगा। लोगोंकी उतनी ही कम दुर्दशा होगी और झगड़ा भी कम होगा।

परन्तु समाजको किस आधारपर संगठित करना चाहिए जिससे भोजनकी वस्तुओंका उचित भाग सबको मिल सके? यही प्रश्न हमारे सामने पहले आता है।

हमारा उत्तर तो यह है कि इसके दो भिन्न उपाय नहीं हो सकते।

साम्यवाद (कम्यूनिज़्म) को ठीक तरहसे स्थापित करनेवाला और हमारी न्याय-बुद्धिको संतुष्ट करनेवाला एक ही मार्ग है। यही व्यावहारिक भी है। यह वही तरीक़ा है जिसे आज भी यूरोपकी साम्यवादी किसान पंचायतों (कम्यूनों) ने ग्रहण कर रक्खा है।

उदाहरणके लिए किसी जगहके एक कृषक गाँवको लीजिए। फ्रांस की ही मिसाल लीजिए, जहां कि उद्दण्ड राजनीतिज्ञोंने सारे शराकती रिवाजोंको मिटानेकी भरसक कोशिश की है। यदि गांवकी हदमें जलानेकी लकड़ी है तो जबतक सबके लिए भरपूर लकड़ी रहेगी तबतक हर एक आदमी चाहे जितनी ले सकता है। उनके लिए अपने पड़ोसियोंके लोकमतके अतिरिक्त अन्य कोई रोक-टोक नहीं होती। कामकी लकड़ी तो सदा थोड़ी ही होती है, इसे वे सावधानीसे आपसमें बांट लेते हैं।

शराकती चारागाहकी भी ऐसी ही बात है। जबतक चरनेको खूब है तबतक एक घरके कितने पशु चरते हैं या भूमिपर कितने पशु चरते हैं, इसकी कोई हद नहीं बांधी जाती। जबतक कि कमी न मालूम पड़े तबतक चरागाह बंटती नहीं और न चारा ही बंटता है। स्विट्जरलैंडके सारे गांवोंमें और फ्रांस और जर्मनीके हज़ारों गांवोंमें, जहां-जहां शराकती या पंचायती चरागाहें हैं, यही प्रथा है।

पूर्वीय यूरोपके देशोंमें, जहां बड़े-बड़े जंगल हैं और ज़मीनकी कमी नहीं है, आप देखेंगे कि जिसको जब आवश्यकता होती है, पेड़ काट लाता है, और किसान जितनी भूमि चाहते हैं, जोत लेते हैं। इस बातका ख़याल नहीं किया जाता कि लकड़ी या ज़मीनमें किसका कितना हिस्सा है। परंतु ज्योंही लकड़ी या ज़मीन दोनोंमें से किसीकी कमी मालूम होती है त्योंही प्रत्येक परिवारकी आवश्यकताके अनुसार बटवारा कर लिया जाता है। रूसमें पहलेसे ही यही होता आ रहा है।

संक्षेपमें व्यवस्था यह है कि समाजके पास जो चीज़ बहुतायतसे है उसके विषयमें तो कोई सीमा या बंधन नहीं है, पर जिन चीज़ोंकी कमी है या हो जानेकी संभावना है उनका बराबर बटवारा कर

लिया जाता है। यूरोपके ३५ करोड़ निवासियोंमें से २० करोड़ तो आज भी स्वाभाविक साम्यवादकी इस प्रणालीपर चलते हैं।

बड़े क़स्बोंमें भी कम-से-कम एक चीज़ ऐसी है जो इफ़रातसे पायी जाती है। वह चीज़ है पानी। उसके विषयमें भी यही प्रणाली प्रचलित है। जबतक पानीके कम पड़नेका डर नहीं होता तबतक कोई भी कंपनी किसी घरमें पानीका ख़र्च रोकना नहीं चाहती। जितना चाहिए उतना ले लीजिए। पर अनावृष्टिकी अवस्थामें यदि पानीके कम पड़नेका डर होता है तो कंपनियाँ सिर्फ इतना करती हैं कि समाचारपत्रोंमें एक छोटा विज्ञापन छपाकर इस बातकी सूचना जनताको दे देती हैं, और नगरवाले पानीका खर्च कम कर देते हैं। वे उसको व्यर्थ नष्ट होने नहीं देते। परंतु पानी यदि वास्तवमें कम हो जाय तो क्या किया जायगा? उस समय नियत परिमाणमें पानी देनेकी प्रणाली काममें लायी जायगी। यह उपाय इतना स्वाभाविक है और साधारण-बुद्धिमें इतना बैठा हुआ है कि १८७१ के दोनों घेरोंमें पेरिसने दो बार इस व्यवस्थाको खुद अपनाया था।

यह दिखानेके लिए कि पानी या भोजन बाँटनेकी व्यवस्था किस प्रकार चलेगी और यह सिद्ध करने के लिए कि वह वर्तमान अवस्थासे बहुत अधिक न्यायपूर्ण और निष्पक्ष होगी, तफ़सीलवार नक्शे तैयार करनेकी जरूरत नहीं है। ये सारे नक्शे और तफसीलें भी उन लोगोंको विश्वास नहीं दिला सकतीं जो मध्यमवर्गके हैं, या जो मध्यमवर्गके से विचार रखनेवाले श्रमजीवी हैं और जो यह समझते हैं कि कोई नियंत्रक-शक्ति न रहेगी तो लोग एक-दूसरे पर टूट पड़ेंगे या जंगली आदमियोंकी भाँति एक दूसरेको खा जायंगे। यदि साधारण जनताके हाथमें परिस्थिति आजाये तो वह पूर्ण न्याय और निष्पक्षतासे भोजनका बंटवारा कर सकेगी या नहीं, यह आशंका उन्हीं लोगोंको होती है जिन्होंने कभी जनताको स्वयं निश्चय करते और तदनुसार काम करते नहीं देखा है।

जनताकी किसी सभामें यदि आप अपनी यह राय प्रकट करें कि नफ़ीस खाने तो अकर्मण्य अमीरोंकी लोलुप जिह्वाकी तृप्तिके लिए रहें

और अस्पतालके बीमारोंको काली रोटी दी जाय, तो आपको धिक्कार मिलेगा। पर उसी सभामें गली-कूचों और हाट-बाजारमें आप यह कहें कि सबसे उम्दा खाने बीमारों और कमजोरोंके लिए, खासकर बीमारोंके लिए रहें; बीमारोंके बाद बालकोंकी बारी है, अगर गायों और बकरियों का दूध सबको देनेभर न हो तो वह भी बच्चोंके लिए ही रक्खा जाय; और यदि समाज बिलकुल हीन-दशाको ही पहुंच गया हो तो घी-दूध केवल बालकों और बूढ़ोंको ही और मजबूत आदमियोंको सूखी रोटी मिला करे। संक्षेपमें, आप यह कहें कि यदि कोई वस्तु कम रह जायगी और उसका बंटवारा करना होगा तो वह उनको अधिक दी जायगी जिनको अधिक आवश्यकता होगी, और फिर देखें कि आपकी बात किस तरह सर्वमान्य होती है।

जिस आदमीका पेट खूब भरा हुआ है वह इन बातोंको नहीं समझ सकता। परंतु जनता इनको समझती है और उसने सदा समझा है। विलासितामें पलाहुआ व्यक्ति भी अगर ग़रीब होकर मारा-मारा फिरने लगे और जनताके संपर्कमें आये तो वह भी समझने लगेगा।

जिन सिद्धांतवादी लोगोंके लिए सैनिककी वर्दी और छावनीके भोजनालयकी मेज ही सबसे बड़ी सभ्यता है वे तो निस्सन्देह राष्ट्रीय रसोईघरोंकी भरमार करना चाहेंगे। वे यही बतायेंगे कि यदि बड़े-बड़े रसोईघर कायम हो जायं और वहीं सब लोग अपनी-अपनी रोटी-तरकारी लेने आयें तो इससे बहुतसे लाभ होंगे और ईंधन और भोजनकी बड़ी बचत होगी।

हमें इन लाभोंके विषयमें संदेह नहीं है। हम खूब जानते हैं कि जबसे हर घरमें अलग-अलग चूल्हा और अलग-अलग चक्कीका रिवाज उठ गया तबसे बड़ी मितव्ययिता हुई है। हम अच्छी तरह समझ सकते हैं कि सौ जगह अलग-अलग चूल्हा न जला कर एक ही जगह सौ परिवारों के लिए शाक-भाजी बना लेनेमें अधिक किफ़ायत है। हम यह भी जानते हैं कि आलू पकानेके सैकड़ों तरीके हैं। पर यदि सौ परिवारोंके लिए एक ही बड़े बर्तनमें वे उबाल लिये जायं तो भी उतने ही अच्छे बनेंगे।

वास्तवमें खाना पकानेके विविध प्रकार तो इसलिए हैं कि रसोइये या गृहिणियां अलग-अलग ढंगसे मसाले और बघार देती हैं। फिर भी यदि एक मन आलू एक ही जगह पक जाय तो रसोइयों या गृहस्वामिनियोंको अपनी-अपनी रुचिके अनुसार उसीको विशेष प्रकारसे बनानेसे कौन रोकेगा ?

पर इन सब बातोंको जानते हुए भी हम यह मानते हैं कि यदि कोई गृहस्वामिनी अपने ही चूल्हेपर अपने ही बर्तनमें अपने आलू पकाना चाहती है तो उसे सार्वजनिक रसोईघरसे ही आलू लेनेको मजबूर करनेका अधिकार किसीको नहीं है। और सबसे बड़ी बात तो हम यह चाहते है कि प्रत्येक व्यक्तिको अपने कुटुंब या अपने मित्रोंके साथ या उसे पसंद आये तो होटलमें जाकर भी भोजन करनेकी स्वतंत्रता रहे।

वर्तमान समयके होटलोंके स्थानोंपर, जहां आजकल लोगोंको जहरीला खाना खिलाया जाता है, अपने आप बड़े-बड़े सार्वजनिक रसोईघर खड़े हो जायंगे। जब भविष्यकी सार्वजनिक पाकशालाएं स्थापित हो जायंगी और जब लोगोंको न तो धोखा दिया जायगा न दूषित पदार्थ खिलाये जायंगे, और उन्हें अपना भोजन वहां पकवा लेनेका सुभीता हो जायगा, तब भोजनकी मूल वस्तुओंके लिए वहीं जानेका रिवाज आम हो जायगा, केवल उन चीजों को मसाले आदि देकर अपनी-अपनी रुचिके अनुसार बना लेनेका ही काम बाकी रह जायगा।

परंतु सबको वहांसे पका-पकाया भोजन ही लेना चाहिए, इस विषयमें कोई कड़ा नियम बनाना हमारे आधुनिक मनको उतना ही बुरा लगेगा जितना कि मठों या बारिकोंमें रहने का विचार। ये विचार अत्याचार या अंधविश्वाससे प्रभावित दिमागोंसे निकले हुए हैं और दूषित हैं।

पंचायती भोजनालयसे भोजन पानेका अधिकार किसको होगा और किसको नहीं इस प्रश्नपर हमें पहले विचार करना पड़ेगा। प्रत्येक नगर या बस्ती अपना उत्तर खुद निकाल लेगी और हमें विश्वास है कि सारे उत्तर न्याय-प्रेरितही होंगे। जबतक श्रम-विभाजन फिरसे न हो जायगा, जबतक अशांतिका काल बना रहेगा और जबतक असाध्य अकर्मण्यों

और काम न मिलनेसे बेकार बने श्रम-जीवियोंका भेद करना असंभव रहेगा, तबतक तो प्राप्त भोजन-सामग्रीमेंसे सबको बिना अपवादके खाना मिलना ही चाहिए। जो लोग नयी व्यवस्थाके शत्रु रहे होंगे वे तो स्वयं ही वहांसे चले जायंगे। पर हमारा अनुमान है कि जन-साधारण सदा उदार होते हैं। उनके स्वभावमें कभी बदला लेनेकी प्रवृत्ति नहीं होती। वे अपने साथ रहने वाले—विजित और विजेता—सभी लोगोंके साथ बांटकर खानेको तैयार हो जायंगे। ऐसा विचार रखनेसे क्रांतिको कोई हानि न होगी, और जब फिर काम चलने लगेगा तो पहलेके विरोधी भी उनके साथ कारखानोंमें काम करने लगेंगे। जिस समाजमें काम करना अपनी इच्छाकी बात होगी उसे आलसियोंसे कोई डर न रहेगा।

इसपर आलोचक तुरत कह देते हैं कि "खाद्य-सामग्री तो एक मासमें ही समाप्त हो जायगी।"

हम कहते हैं कि "यह तो और भी अच्छा होगा।" इससे सिद्ध होगा कि इतिहासमें पहली बार लोगोंको भरपेट खानेको तो मिला। नया सामान किस प्रकार प्राप्त किया जाय इसपर हम अगले प्रकरणमें विचार करेंगे।

५

वे कौनसे उपाय हैं जिनसे क्रांतिके समय किसी नगरको भोजन-सामग्री प्राप्त हो सकती है? हम इस प्रश्नका उत्तर देंगे, पर यह स्पष्ट है कि वहांके प्रांतों और समीपवर्ती देशोंमें क्रांतिका जो रूप होगा उसीके अनुसार उपाय करने होंगे। यदि कोई पूरा देश, अच्छा तो यह है कि सारा यूरोपही, समाजवादी क्रांति कर डाले और पूर्ण साम्यवादी सिद्धांतको लेकर चले, तो हमारा तरीका और भी सरल हो जायगा। परंतु यदि वहांकी कुछ थोड़ी-सी ही बस्तियां या समुदाय प्रयत्न करें तो उपाय दूसरे ही चुनने पड़ेंगे। जैसी अवस्था होगी वैसी व्यवस्था करनी होगी।

इसलिए पहले हमें यूरोपकी दशापर एक निगाह डालनी होगी, और भविष्यवाणीका दावा न करते हुए भी हम इसका अंदाजा लगा सकते हैं कि क्रांतिकी दिशा, या कम-से-कम उसके मुख्य लक्षण क्या होंगे ?

निस्संदेह यह तो बड़ी अच्छी बात होगी कि सारा यूरोप एकबारगी उठ खड़ा हो, निस्संपत्तीकरण सार्वत्रिक हो जाय, और हरएक व्यक्ति समाजवादके सिद्धांतोंसे प्रेरित हो जाय। ऐसे व्यापक विप्लवसे तो हमारी शताब्दिका काम बहुत आसान हो जायगा।

पर सारे लक्षणोंसे हमें यही विश्वास होता है कि ऐसा होगा नहीं। इसमें तो हमें संदेह नहीं कि क्रांति सारे यूरोपमें फैल जायगी। महाद्वीपकी चारों बड़ी राजधानियों—पेरिस, ब्रुसेल्स, वियेना और बर्लिन में से एक भी यदि क्रांति करके सरकारको उलट दे तो यह प्रायः निश्चित है कि अन्य तीन राजधानियां भी कुछ ही सप्ताहोंके भीतर उसका अनुसरण करेंगी। बहुत संभव है कि स्पेन, इटली, यूनान आदि और लंदन पीटर्सबर्ग (अब लेनिनग्राड) भी यही मार्ग ग्रहण करें। परंतु क्रांतिका सब जगह एक ही रूप होगा, इसमें बहुत संदेह है।

बहुत संभव है कि सर्वत्र निस्संपत्तीकरण बहुत विस्तृत रूपमें हो। यूरोपका कोई भी बड़ा राष्ट्र ऐसा करेगा तो उसका प्रभाव औरोंपर भी पड़ेगाही, परंतु क्रांतिके प्रारंभिक रूपोंमें बड़े-बड़े स्थानीय भेद रहेंगे और देश-देशमें क्रांतिका मार्ग भी पृथक्-पृथक् होगा। १७८९-९३ में फ्रांसके किसानोंको जागीरदारोंके हकोंसे अपनेको मुक्त करने और मध्यमवर्ग वालोंकी राजसत्ताको उखाड़ फेंकनेमें चार वर्ष लग गये। यही बात हमें ध्यानमें रखनी चाहिए, और क्रांतिके धीरे-धीरे अपनेआप विकसित होनेकी प्रतीक्षा करनी चाहिए। यदि कहीं-कहीं उसका कदम कुछ धीमा पड़ रहा हो तो हम अपना दिल न छोटा करें।

इसमें तो संदेह करनेकी गुंजाइशही नहीं कि भविष्यमें जो क्रांति होगी वह पहलेकी क्रांतियोंसे बढ़कर होगी। फ्रांसकी अठारहवीं शताब्दिकी क्रांति इंगलैंडकी सत्रहवीं शताब्दिकी क्रांतिकी अपेक्षा आगे बढ़ी हुई थी। उसने एकही प्रहारमें राजाकी सत्ता और भूमिपतियोंकी

शक्ति मिटा दी थी, पर इंगलैंडमें इनका प्रभाव आज भी बना है।

इन अनुमानोंको हम अनुमानसे अधिक नहीं मानते। फिर भी हम इनसे सरलतासे यह नतीजा निकाल सकते हैं कि यूरोपकी भिन्न-भिन्न जातियोंमें क्रांति भिन्न-भिन्न रूप ग्रहण करेगी, और संपत्तिको सामाजिक बना लेनेमें सब जगह एक-सी प्रगति न होगी।

तो क्या इस आंदोलनके अग्रगामी राष्ट्रोंको पीछे रह जानेवाले राष्ट्रोंके लिए रुके रहना होगा? क्या हमको तबतक रुके रहना पड़ेगा जबतक कि सारे सभ्य देशोंमें साम्यवादी क्रांतिकी तैयारी न हो जाय? कदापि नहीं। हम ऐसा करना भी चाहें तो संभव नहीं है। इतिहास पिछड़े हुओंके लिए नहीं ठहरा करता।

कुछ साम्यवादी लोगोंकी यह कल्पना है, पर हमें विश्वास नहीं होता कि क्रांति एकदम ही, एक ही क्षणमें हो जायगी। यह बहुत संभव है कि यदि फ्रांसके बड़े नगरोंमें से एक नगर भी समाजवादी शासनकी घोषणा करे तो अन्य नगर और कस्बे भी वैसा ही करेंगे। संभवतः बहुतसे खानोंवाले प्रदेश या औद्योगिक केंद्र भी 'स्वामियों' या मालिकों से अपना पिंड छुड़ाकर अपने स्वाधीन संघ बना लेंगे।

पर बहुतसे देहाती इलाके इतना आगे बढ़े हुए नहीं होते। क्रांति कर डालनेवाले नगरों की बग़लमें होते हुए भी ऐसे स्थान प्रतीक्षा-वृत्तिमें रहेंगे और व्यक्तिवादी प्रणालीपर चलते रहेंगे। जब जमींदारके कारिन्दे या कर वसूल करनेवालेका आना बंद हो जायगा तो ये कृषक क्रान्तिकारियोंके विरोधी न रहेंगे। इस प्रकार नयी व्यवस्थासे लाभ उठाते हुए ये लोग स्थानीय लुटेरे पूंजीवालोंका हिसाब चुकानेमें भी टालमटोल करेंगे। परंतु कृषकोंके विप्लवोंमें सदा एक ख़ास अमली जोश हुआ ही करता है। उसी जोशके साथ वे भूमिको जोतनेके काममें लग पड़ेंगे, क्योंकि करों और बंधकोंके भारसे मुक्त हो जानेपर ज़मीन उन्हें और भी प्यारी हो जायगी।

दूसरे देशोंमें भी क्रांति होगी, पर उसके रूप भिन्न-भिन्न होंगे। किसी देशमें राज्यनियंत्रित समाजवाद स्थापित होगा और उत्पत्तिके साधन

उसके अधीन रहेंगे। कहीं छोटे-छोटे स्वतंत्र राज्योंका संघ बनेगा। पर हर जगह वह होगी न्यूनाधिक समाजवादी ही। हां, सब जगह किसी एक ही नियमका अनुसरण न करेगी।

६

अब हमें क्रांतिकी अवस्थासे गुजरनेवाले नगरके उदाहरणपर फिर वापस आजाना चाहिए और इस बातपर विचार करना चाहिए कि नगरवासी किस प्रकार अपने लिए खाद्य-सामग्री प्राप्त कर सकेंगे। यदि सारे राष्ट्रने ही साम्यवाद स्वीकार न किया हो तो आवश्यक सामग्री किस प्रकार मिल सकेगी? इसी मसलेको हल करना है। फ्रांसके किसी बड़े नगर या राजधानीका ही उदाहरण लीजिए। पेरिस प्रतिवर्ष हज़ारों मन ग़ल्ला, चार लाख बैल, तीन लाख बछड़े, चार लाख सुअर, बीस लाखसे अधिक भेड़ें भक्षण कर जाता है। शिकारके जानवरोंका मांस इसके अलावा है। इसके अतिरिक्त यह नगर २ करोड़ पौंडसे अधिक मक्खन, २० करोड़ अंडे और इसी हिसाबसे दूसरी चीजें खा जाता है।

वह अमेरिका, रूस, हंगरी, इटली, मिश्र और ईस्ट तथा वेस्ट-इंडीजसे आटा और गल्ला मंगाता है; जर्मनी इटली, स्पेन, रूमानिया और रूसतक से पशु मंगाता है और किरानेकी चीज़ें तो संसारके सभी देशोंसे थोड़ी-बहुत आती हैं।

अब यह देखना चाहिए कि देशकी पैदावारसे ही, जिसे सूबे खुशीसे भेजेंगे, पेरिस या किसी दूसरे बड़े नगरोंको भोजन सामग्री फिरसे कैसे पहुँचाई जा सकती है।

जो लोग 'अधिकार'में विश्वास रखते हैं उन्हें तो यह प्रश्न बड़ा सीधा दिखाई देगा। वे पहले एक सबल केंद्रीय सरकार क़ायम कर लेंगे, जिसके पास पुलिस, फौज, फांसी, आदि सारे दमनास्त्र मौजूद हों। वह सरकार फ्रांसके सारे मालकी फ़ेहरिस्त तैयार करेगी। सारे देशको सामग्री- प्राप्तिके लिए कई विभागोंमें विभाजित करेगी और 'आज्ञा' देगी कि इतनी-इतनी भोज्य-सामग्री, इस स्थानपर, इस दिन, इस

स्टेशनपर पहुंच जानी चाहिए। वहां एक विशेष अधिकारी मौजूद होगा, जो उस सामग्रीको लेगा और खास भंडारोंमें इकट्ठा करके रक्खेगा।

पर हम पूर्ण विश्वासके साथ कहते हैं कि यह उपाय न केवल अवांछनीय ही है, किन्तु इसको काममें लाना भी असंभव है। यह अत्यंत अव्यावहारिक है।

पुस्तक या निबंध लिखने बैठे तो कोई भी आदमी ऐसे स्वप्न देख सकता है। पर वास्तविकताके सामने ये टिक नहीं सकते, १७९३ में यह सिद्ध हो चुका है। अन्य काल्पनिक सिद्धांतोंके समान इस सिद्धांतमें भी यह बात भुला दी गयी है कि मनुष्यमें स्वतंत्रताकी वृत्ति भी हुआ करती है। इस प्रयत्नका परिणाम यह होगा कि सर्वत्र विप्लव हो जायगा। ग्राम नगरोंके विरुद्ध विद्रोह कर देंगे, राजधानी इस प्रणालीको देशपर लादनेकी मूर्खता करेगी तो सारा देश उसके विरुद्ध शस्त्र उठा लेगा।

अबतक ऊटपटांग कल्पनाएं तो बहुत हो चुकी हैं। अब हमें देखना चाहिए कि क्या और किसी प्रकारके संगठनसे काम चल सकेगा।

फ्रांसकी महान् राज्य-क्रांतिके समय प्रांतोंने बड़े नगरोंको भूखों मारा और क्रांतिका गला घोंट दिया था। और १७९२-९३ में फ्रांसमें अनाजकी उपज घटी न थी, बल्कि प्रमाणोंसे सिद्ध होता है कि वह और बढ़ी थी। परंतु जमींदारोंकी जमीनपर कब्जा पाने और फ़सल काट लेनेके बाद किसान कागजी रुपयेके बदलेमें अनाज देनेको तैयार न हुए। इस आशासे कि या तो कीमत बढ़े या सोनेका सिक्का चले, उन्होंने अपना माल रोक रखा। अस्थायी सरकारने कड़े-से-कड़े उपायोंसे काम लिया, पर सब निष्फल हुए। फांसियोंसे भी कोई नतीजा न निकला। किसान अपना अनाज बेचनेको मजबूर न किये जा सके। अस्थायी सरकारके प्रतिनिधियोंने बाजारमें अनाज न लानेवालों और सट्टा करनेवालोंका बड़ी निर्दयतासे वध किया। फिर भी अन्न प्राप्त न हुआ, और नगरवासियोंको अकालके कष्ट भोगने पड़े।

पर कृषकोंको उनकी कठिन मेहनतके बदलेमें दी कौनसी चीज

गयी थी ? उन्हें वादेके नोट दिये गये। पर उनकी कीमत तो गिरती ही चली गयी। चालीस पौंडका नोट देकर एक जोड़ा जूता भी न मिलता था। जिस कागज़के टुकड़ेसे एक कमीज भी न खरीदी जा सके उसके बदलेमें किसान अपनी सालभरकी कमाई कैसे दे सकता था ?

जबतक निकम्मा कागज़ी रुपया ही किसानको मिलेगा तबतक सदा यही हाल होगा। देहात अपना माल रोक रक्खेंगे और नगर भूखों मरेंगे, फिर चाहे अवज्ञा करनेवाले किसान पूर्ववत् फांसीपर ही क्यों न चढ़ा दिये जायं।

हमें चाहिए कि किसानको उसकी मेहनतके बदलेमें निरर्थक नोट न देकर उसकी परम आवश्यकताकी चीजें बनाकर दें। उसके पास खेतीके अच्छे औजार और सर्दी-गरमीसे बचाव करनेवाले कपड़े नहीं हैं। उसके पास रद्दी चिमनी या दिया है, लैंप और तेल नहीं है। उसके पास फावड़ा, पचांगुरा और हल नहीं हैं। आजकल इन चीजोंके बिना ही उसे काम चलाना पड़ता है। यह बात नहीं है कि वह इनकी ज़रूरत न समझता हो। मगर हजारों उपयोगी चीजें उसके सामर्थ्यसे बाहर हैं। बेचारेके पास उन्हें खरीदनेके लिए पैसा ही नहीं है।

शहरोंको चाहिए कि अमीर लोगोंकी स्त्रियोंके वास्ते तड़क-भड़ककी चीजें न बनाकर शीघ्र उन वस्तुओंके बनानेमें लग जायं जिनकी किसानको ज़रूरत है। पेरिसकी सिलाईकी मशीनें ग्रामवासियोंके लिए कपड़े सीनेमें लग जायं। इंगलैंड और रूसके जमींदारों या अफ्रीकाके करोड़पतियोंकी स्त्रियोंके लिए कीमती पोशाकें बनानेकी जरूरत नहीं है। मज़दूरोंके लिए कामपर जाने और छुट्टीके दिनके कपड़े तैयार करने चाहिए।

इसकी ज़रूरत नहीं कि शहरोंसे गांवोंमें लाल-नीले या पचरंगे पट्टे लगाये हुए इंस्पेक्टर भेजे जायं और यह हुक्म दिया जाय कि किसान अपना-अपना माल फलां-फलां मुकामपर पहुंचादें। बल्कि चाहिए तो यह कि ग्रामवासियोंके पास मित्रतापूर्ण संदेश भेजे जायं और उनसे

भाईचारेके ढंगपर कहलाया जाय कि आप अपना माल हमारे पास पहुंचा दें और हमारे भंडारों और दुकानोंसे जो तैयार माल चाहें लेजायं। तब तो खाने-पीनेकी चीजें सब ओरसे ढेर-के-ढेर आने लगेंगी। किसान केवल उतना माल रोक रक्खेगा जितना उसको अपने कुटुंबके लिए आवश्यक होगा, बाकी सब शहरोंको भेज देगा। वह इतिहास-कालमें पहली ही बार यह अनुभव करेगा कि शहरोंके मजदूर उसके साथी, उसके भाई हैं, उसको लूटनेवाले नहीं।

कुछ लोग यह कह सकते हैं कि इसके लिए कारखानोंकी तो कायापलट ही कर देनी पड़ेगी। हां, कई विभागोंमें तो पूरा परिवर्तन ही करना पड़ेगा। पर कुछ कारखाने तो थोड़े सुधारसे ही किसानके लिए ऐसे कपड़े, घड़ियां, फर्नीचर और मामूली औजार बनाने लगेंगे जिनके लिए आज उसे बहुत मंहगे दाम देने पड़ते हैं। जुलाहे, दर्जी, मोची, लुहार, बढ़ई, कारीगर और दूसरे धंधोंवाले सरलतासे उपयोगी और आवश्यक वस्तुएं बनाने लगेंगे, और केवल विलासकी वस्तुएं बनाना बंद कर देंगे। आवश्यकता केवल इस बातकी है कि जनता यह अच्छी तरह समझ ले कि उद्योगधंधोंकी शकल बिल्कुल बदल देना जरूरी है, और ऐसा करना न्याय तथा समाजकी उन्नतिका कार्य है। सिद्धांतवादी लोग अक्सर यह भ्रम फैलाया करते हैं कि यदि उत्पादन और व्यापार आज-कलकी तरह व्यक्तियोंके ही हाथमें रहे और समाज सिर्फ उनका नफा ले लिया करे तो इस ढंगकी क्रांतिसे भी काम चल जायगा। पर जनताको इस धोखेमें नहीं आना चाहिए।

हमारा मत तो इस सारे प्रश्नपर यह है कि किसानको कागजके टुकड़ोंसे धोखा मत दीजिए—चाहे उन कागजोंपर कितनी ही बड़ी रकम क्यों न लिखी हो। परंतु उसको मालके बदलेमें वही 'वस्तुएं' तैयार करके दीजिए जिनकी उसे खेतीके लिए जरूरत है। तभी खेतोंकी पैदावार शहरोंमें धड़ल्लेसे आने लगेगी। ऐसा न किया गया तो शहरोंमें खाद्यका अकाल हो जायगा और फिर निराशा और प्रतिक्रिया भी उसके पीछे-पीछे चली आयेंगी।

७

हम बता चुके हैं कि सभी बड़े नगर गल्ला, आटा और मांस न केवल अपने देहाती इलाकोंसे ही बल्कि बाहरसे भी मंगाते हैं। अन्य देश पेरिसको मसाले, मछली और तरह-तरहकी जायकेदार चीजें तो भेजते ही हैं, बहुत-सा गल्ला और मांस भी भेजते हैं।

परंतु क्रांतिके समय वे बाहरके देशोंका अधिक भरोसा न रख सकेंगे यद्यपि रूसका गेहूं, इटली या भारतका चावल, स्पेन या हंगेरीकी शराब पश्चिमी यूरोपके बाजारोंमें बहुतायतसे मिलती हैं, पर इसका कारण यह नहीं है कि उन देशोंमें इन चीजोंकी इफरात है या ये जंगलमें अपने आप घास-फूसकी तरह उग आती हैं। मिसालके लिए रूसमें किसान प्रतिदिन १६ घंटे काम करता है और सालमें तीनसे छः महीनेतक आधे पेट रहता है। यह उसे इसलिए करना पड़ता है कि वह अपना अनाज विदेशोंको भेजकर उसकी कीमतसे जमींदार और राज्यका कर चुका सके। वहां आजकल ज्यों ही फसल कट चुकती है, गांवमें पुलिस पहुंच जाती है और उसके सारे घोड़ों और गायोंको सरकारी कर तथा जमींदारके लगानका बकाया चुकानेके वास्ते नीलाम कर देती है। हां, बेचारा किसान व्यापारीके हाथ अपना गल्ला बेचकर खुद ही अपना गला काट ले तो यह नौबत नहीं आती। साधारणतः यह होता है कि वह नुकसान उठाकर अपने पशु नहीं बेचता। वह नौ महीनेके खानेभर अन्न रख लेता है और बाकी बेच देता है। फिर अगली फसलतक गुजारा करनेके लिए वह, यदि फसल अच्छी हुई तो तीन मासतक और खराब हुई तो छः मासतक, अपने आटेमें छाल मिला-मिलाकर काम चलाता है। और उधर लंदनमें लोग उसीके भेजे हुए गेहूंके बिस्कुट बना-बनाकर खाते हैं।

परंतु क्रांति होते ही रूसका किसान अपने और अपने बच्चोंके लिए काफी अन्न रख लेगा। इटली और हंगेरीके किसान भी ऐसा ही करेंगे। हमें आशा करनी चाहिए कि भारतके किसान भी यही मार्ग

ग्रहण करेंगे। और अमेरिकाके किसान सारे यूरोपके गल्लेकी कमीको पूरा न कर सकेंगे। इसलिए यह समझना व्यर्थ है कि इन देशोंसे जितना गेहूं या बाजरा आयेगा उससे आवश्यकता पूरी हो जायगी।

मध्यम वर्गकी हमारी सारी सभ्यता तो नीचे दर्जेकी जातियों और कम उद्योग-धंधेवाले देशोंकी लूटपर आश्रित है। इसलिए क्रांति उठते ही उस 'सभ्यता'को नष्ट कर देगी और हीन कही जानेवाली जातियोंको स्वाधीन बननेका अवसर देगी। उन जातियोंके लिए तो क्रांति एक वरदान होगी।

परंतु इस महान् लाभका परिणाम यह होगा कि पश्चिमी यूरोपके बड़े-बड़े शहरोंमें खाद्य-सामग्रीका आना निरंतर घटता ही जायगा।

देहातका क्या हाल होगा, यह नहीं कहा जा सकता। एक ओर तो कठोर परिश्रम करनेवाला किसान क्रांतिका लाभ उठाकर अपनी झुकी हुई कमरको सीधा करेगा। आज-कलकी तरह दिनमें चौदह या पंद्रह घंटे काम न करके वह केवल इसके आधे समय ही काम करेगा। इसका परिणाम यही होगा कि खानेकी मुख्य वस्तुओं—अनाज और मांस—की उत्पत्तिमें कमी हो जायगी।

पर दूसरी ओर ज्योंही वह यह समझ जायगा कि अब उसे अपने श्रमसे निठल्ले अमीरोंका पोषण नहीं करना है, उत्पत्ति फिर बढ़ जायगी। नयी जमीन साफ करली जायगी। नयी और बढ़िया मशीनें चलने लगेंगी।

फ्रांसकी महान् राज्यक्रांतिका वर्णन करते हुए, मीशले कहता है—"१७९२ में जब किसानोंने ज़मींदारोंसे अपनी प्यारी ज़मीन वापस लेली थी, खेती बड़े उत्साहसे की गयी। उससे पहले किसानोंमें इतना उत्साह कभी नहीं देखा गया था।"

थोड़े ही समयमें वैज्ञानिक ढंगकी खेती करना सबके लिए संभव हो जायगा। बढ़िया मशीनें, रासायनिक खाद और ऐसी दूसरी चीज़ें शीघ्र ही प्रादेशिक या म्युनिसिपल सरकार (कम्यून) की ओरसे दी जाने लगेंगी। परंतु प्रत्येक लक्षणसे अनुमान यही होता है कि प्रारंभमें तो फ्रांस और दूसरे देशोंमें भी खेतीकी पैदावार कुछ घट ही जायगी।

हर हालतमें यही समझना अच्छा होगा कि देहात और विदेश दोनोंसे आनेवाले मालमें कमी होगी। तब यह कमी किस तरह पूरी की जायगी?

उपाय यह है कि हम खुद काम करने लग जायं। जब इलाज हमारे हाथमें ही है तो दूर-दूर दवाइयां ढूंढनेमें परेशान होनेकी क्या जरूरत?

बड़े शहरोंको चाहिए कि वे भी गांवोंकी तरह खेती करनेमें लग जायं। जिसे प्राणि-शास्त्र में "कर्तव्योंका एकत्रीकरण" कहा है उसीपर हमें आजाना चाहिए। अर्थात् पहले श्रम-विभाजन किया जाय, फिर सबको एकमें मिला दिया जाय। प्रकृतिका काम सर्वत्र इसी क्रमसे होता है।

यह केवल दर्शनशास्त्रकी बात नहीं है। परिस्थिति भी हमें यही करनेको मजबूर करेगी। जब पेरिस यह समझ लेगा कि आठ महीनेके बाद रोटीकी कमी पड़ जायगी तो वह गेहूं उत्पन्न करनेके काममें जुट जायगा।

जमीनकी तो कमी न पड़ेगी, क्योंकि बड़े शहरोंके, और खासकर पेरिसके, चारों तरफ ही अमीरोंके बाग-बगीचे मिलते हैं। पेरिसके आस-पास हजारों बीघे जमीन है। यह जमीन दक्षिण रूसके सूखे मैदानोंसे भी कई गुना अधिक उपजाऊ हो सकती है। केवल कुशल कृषकोंके इस काममें लग जानेकी देर है। श्रमिकोंकी भी कमी न रहेगी। जब पेरिसके बीस लाख निवासियोंको रूसके जागीरदारों, रूमानियाके बड़े आदमियों और बर्लिनके महाजनोंकी बीबियोंके विलास और शौकके सामानके लिए काम न करना पड़ेगा तब आखिर वे करेंगे क्या?

इस शतीमें यंत्र-संबंधी कितने आविष्कार हो चुके हैं; मजदूर पेचीदा मशीनोंपर भी कितनी कुशलताके साथ काम कर लेते हैं; देश और नगरमें आज कितने आविष्कारक, रसायनशास्त्री, वनस्पतिशास्त्री और व्यावहारिक वनस्पतिशास्त्रके पंडित बागबान विद्यमान हैं। नयी-नयी कलें बनाने और उनकी उन्नति करनेका कितना सामान आज

उपलब्ध है; और सर्वोपरि है पेरिस निवासियोंकी स्वाभाविक प्रबंधशक्ति, साहस और कर्मण्यता। क्या इतने सब साधन-सुविधाएं उपलब्ध होते हुए भी क्या अराजक पेरिसकी कृषि प्रांतोंकी पुराने ढंगकी खेतीसे भिन्न न होगी?

कुछ ही दिनोंमें भाप, बिजली, सूर्य-ताप और वायु-वेगसे भी काम लिया जाने लगेगा। भापसे चलनेवाले हल और पटेला खेतकी तैयारीका मोटा काम शीघ्रतासे कर देंगे, और इस प्रकार अधिक साफ़ और तैयार की हुई जमीनपर सालमें एक ही वार नहीं, तीन या चार बार तक जोरदार फ़सलें पैदा की जा सकेंगी। इसके लिए, केवल पुरुषोंको—और उनसे ज़्यादा स्त्रियोंको—समझदारीके साथ देख-भालभर करनी पड़ेगी।

इस प्रकार वहांके स्त्री-पुरुष और बालक विशेषज्ञोंसे बाग़वानीकी कला सीखते, छोटे-छोटे अलग भूमि-खंडोंपर भिन्न-भिन्न प्रकारके प्रयोग करते, और अधिक-से-अधिक माल पैदा करनेमें परस्पर प्रतिस्पर्धा करते हुए खुशीसे खेतीके काममें जुट जायंगे। उन्हें इसमें थकावट या आयास न मालूम होगा, बल्कि शारीरिक व्यायामसे स्वास्थ्य और बल मिलेगा, जो शहरोंमें अकसर गिरा हुआ रहता है। उस समय खेती करना बेगार और कष्टदायक श्रम न रहेगा, बल्कि उत्सव, आनंद और सुख-स्वास्थ्यकी वृद्धि करनेवाली वस्तु बन जायगा।

"भूमि कोई भी बांझ या ऊसर नहीं है। जमीनकी कीमत तो किसानकी कीमतके बराबर होती है। यही वर्तमान कृषिविद्याका अंतिम निर्णय है। जमीनसे आप रोटी मांगिये, वह आपको रोटी देगी—बशर्ते कि आपको ठीक तरहसे मांगना आता हो। यदि किसी बड़े नगरके पास छोटा-सा भी देहाती इलाका हो और बाहरसे उसके लिए खाद्य-सामग्री न आ सकती हो, तो वह इलाका भी अपने यहांकी पैदावारसे ही उस शहरको पूरी खूराक दे सकता है।

यदि अराजक साम्यवाद ठीक तरहसे निस्संपत्तीकरण शुरू करे तो उसका अनिवार्य परिणाम कृषि और उद्योगका संयोग होगा, एक ही व्यक्तिको किसान और कारीगर दोनों बनना पड़ेगा।

यदि क्रांति इस मंजिलतक भी पहुंच जाय तो अन्नके अकालसे डरनेकी उसे जरूरत न होगी। खतरा हो सकता है तो लोगोंकी साहस-हीनता, कुसंस्कार और समझौतकी प्रवृत्तिसे। साहस-भरे विचार पहले होने चाहिए, फिर साहसपूर्ण कार्य उसके पीछे अपने आप आजायंगे।

: ६ :

मकान

१

श्रमजीवियोंमें समाजवादी विचार बढ़ते चले जा रहे हैं, और उनके विचारोंके विकासको देखनेवाले लोग जानते हैं कि घरोंकी व्यवस्थाके विषयमें तो अपने-आप धीरे-धीरे उनकी एक पक्की राय होती जा रही है। फ्रांसके बड़े-बड़े और कई छोटे शहरोंमें तो उनका एक प्रकारसे यह निश्चित मत ही हो गया है कि मकान वास्तवमें उन लोगोंकी संपत्ति नहीं हैं जिन्हें राज्य आजकल उनका मालिक मानता है।

यह विचार लोगोंके दिमागोंमें अपने-आप विकसित हुआ है। घर भी 'व्यक्तिगत संपत्ति' है, यह बात तो उन्हें अब फिर समझायी ही नहीं जा सकती।

मकान मकान-मालिकोंने कब बनाये थे! न जाने कितने मजदूर लकड़ियां चीरते-काटते रहे, ईंटें पकाते रहे, कारखानोंमें काम करते रहे—तब कहीं जाकर ये सजे-सजाये सुंदर भवन खड़े हुए हैं।

जो रुपया मालिकने खर्च किया है वह भी उसकी कमाई नहीं था। वह उसी तरह जमा किया गया था जिस तरह और सब प्रकारका धन इकट्ठा किया जाता है। अर्थात् श्रमिकोंको उचितकी दो-तिहाई या आधी ही मजदूरी दी गयी, बाकी पैसा अपनी जेबमें रख लिया गया।

इसके सिवाय जितना मुनाफा मकानसे मालिक उठा सकता है उतना ही उसका मूल्य हुआ करता है। और यह ऐसी बात है जिससे इस मामलेकी जघन्यता और भी स्पष्ट हो जाती है। उसे यह मुनाफा तो इसी कारण होता है कि उसका मकान एक शहरमें बना हुआ है। शहर हजारों मकानोंका ऐसा समुदाय है जिसमें पक्की सड़कें हैं,

पुल है, घाट हैं और सुंदर-सुंदर सार्वजनिक भवन हैं, जिनमें प्रकाशका बढ़िया प्रबंध है और निवासियोंको हजारों ऐसी सुख-सुविधाएं प्राप्त हैं जो गांवोंमें नहीं मिलती। उस शहरका दूसरे शहरोंसे आने-जाने और खबर-रसानीका अच्छा संबंध है। वह स्वयं उद्योग-धंधों, व्यापार, विज्ञान और कलाका केंद्र है। वह २० या ३० पीढ़ियोंकी मेहनतसे निवास-योग्य, स्वास्थ्यकर और सुंदर बना है।

पेरिसके किसी खास हिस्सेमें बने हुए एक मकानका मूल्य लाखों रुपया समझा जाता है। पर यह बात नहीं है कि सचमुच लाखों रुपयेकी मेहनत उस मकानको तैयार करनेमें लगी है, बल्कि वह पेरिसमें स्थित है इसीसे उसका इतना मूल्य है। कई शताब्दियोंमें कारीगरों, कलाकारों, विचारकों और विद्वानोंने मिलकर पेरिसको उद्योग-धंधों, व्यापार, राजनीति, कला और विज्ञानका केंद्र बना दिया है। पेरिसका एक ऐतिहासिक भूत काल रहा है। साहित्यकी कृपासे देश और विदेशमें उसकी गलियोंके नाम बोल-चालके शब्द बन गये हैं। वह नगर अठारह शताब्दियोंके परिश्रमका फल है; फ्रेंच जातिकी पचास पीढ़ियोंका काम है।

फिर ऐसा कौन है जो न्यायपूर्वक कह सके कि इस शहरमें इतनी जमीन या मकान मेरा ही है? और कौन आदमी है जो इस संमिलित उत्तराधिकारकी संपत्तिका छोटा-सा भी हिस्सा बेचनेका हक रखता हो?

हम कह चुके है कि इस प्रश्नपर श्रमजीवी एकमत होने लगे हैं। पेरिसके घेरेके समयमें ही मकान-मालिकोंकी शर्तोंको बिलकुल उड़ा देनेकी मांग की गयी थी। मकानोंमें मुफ्त रहनेका खयाल तो तभी पैदा हो चुका था। सन् १८७१ के कम्यून-शासनके समयमें यही विचार फिर सामने आया। पेरिसके श्रमजीवी चाहते थे कि कौंसिल दृढ़ता-पूर्वक मकान-भाड़ेके नियमको मिटा दे। और भविष्यमें जब नयी क्रांति आयेगी तब भी गरीब लोग तो इसी सवालको हल करनेमें सबसे पहले लग जायंगे।

चाहे क्रांतिका समय हो या शांतिका, मज़दूरको तो किसी-न-किसी प्रकार रहनेको घर मिलना ही चाहिए। उसका कोई-न-कोई आश्रय तो होना ही चाहिए। मगर हाल यह है कि उसका घर कितना ही टूटा-फूटा और गंदा क्यों न हो, मकान-मालिक उसको किसी भी समय निकाल सकता है। यह तो सच है कि क्रांति-कालमें श्रमजीवीके कपड़े और सामान सड़कपर निकाल फेंकनेके लिए कोई मकान-मालिक किसी अधिकारी या पुलिस सार्जेंटको न बुला सकेगा, पर दूसरे ही दिन नयी सरकार क्या करेगी इसका किसे पता है? कौन कह सकता है कि वह बल-प्रयोग न करेगी और किरायेदारको उसकी गंदी कोठरीसे निकाल बाहर करनेके लिए पुलिसके भेड़ियोंको उसपर न चढ़ा देगी? हमने देखा है कि पेरिसकी कम्यून-सरकारने केवल पहली अप्रेलतकके ही बकाया किरायेकी रकम मंसूख़ की थी। उसके बाद यद्यपि शहरमें अव्यवस्था मची थी और उद्योग-धंधे बंद पड़े थे, फिर भी मकानोंका किराया चुकाना पड़ता था। फल यह हुआ कि जिन क्रांतिकारियोंने पेरिस की स्वतंत्रता बचानेके लिए युद्ध किया था उनके और उनके परिवारके भरण-पोषणके लिए पंद्रह आने रोज़के भत्तेके सिवाय और कोई सहारा न था।

तो मज़दूरको यह साफ तौरपर समझा देना चाहिए कि मकानका किराया न चुकाना कोई ऐसा लाभ नहीं है जो केवल अव्यवस्थाके कारण ही हुआ हो। उसे यह जानना चाहिए कि किरायेकी प्रथा एक सर्वमान्य सिद्धान्तके कारण मिटायी गयी है। जनताने उच्च स्वरसे घोषित कर दिया है कि रहनेके लिए घर मुफ़्त मिलना ही चाहिए। यह मनुष्यका अधिकार है।

तो क्या मध्यम वर्गमें बिखरे हुए थोड़े-से साम्यवादी लोगोंकी ही अस्थायी सरकार बनेगी और जबतक वे इस न्यायानुमोदित उपायको हाथमें न लेंगे तबतक हमें प्रतीक्षामें ही बैठे रहना चाहिए? ऐसा हुआ तो जनताको बहुत देरतक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी और तबतक चक्र उलटा घूम जायगा—प्रतिक्रिया प्रारंभ हो जायगी।

इसी कारण सच्चे क्रांतिकारी तो अधिकार और गुलामीके बाहरी

चिन्हों—वर्दी और बिल्लों—को त्यागकर, जनसाधारणमें जन-साधारण बनकर, लोगोंके साथ मिलकर काम करेंगे। वे प्रयत्न करेंगे कि मकान जनताकी संपत्ति हो जायं और किरायेकी प्रथा उठ जाय। वे इसके लिए क्षेत्र तैयार करेंगे और इस प्रकारके विचारोंको प्रोत्साहन देंगे। ऐसे सिद्धांत भी उनके सामने आयेंगे कि मकान-मालिकोंको हर्जाना दिया जाय और पहले हर्जाना चुकानेके लिए रुपयेका इंतजाम कर लिया जाय। पर वे इनकी परवाह न करते हुए मकानोंकी ज़ब्ती करने लग जायंगे।

जिस दिन मकानोंपरसे व्यक्तिगत स्वामित्वका अंत हो जायगा उस दिन सदासे लुटता रहनेवाला श्रमजीवी अनुभव करेगा कि अब नये युगका उदय हुआ है। और अब श्रमिकोंको धनाढ्यों तथा बलवानोंका जुआ न उठाना पड़ेगा। उस दिन वह अनुभव करेगा कि सबकी समानताकी खुले तौरपर घोषणा हो गयी है। और यह क्रांति तो सच्ची क्रांति है, पिछली अनेक क्रांतियोंकी तरह ढोंग या दिखावा नहीं है।

२

यदि एक बार जनताने निस्संपत्तीकरणके विचारको पकड़ लिया तो कितनी ही 'अलंघ्य' बाधाएं क्यों न आवें, वह विचार कार्यमें परिणत होकर रहेगा।

नयी वर्दियां पहने हुए और आरामकुर्सियोंपर बैठे हुए भलेमानस तो अड़चन-पर-अड़चन खड़ी करते ही रहेंगे। वे कहेंगे कि मालिकोंको हर्जाना दिया जाय, आंकड़े तैयार किये जायं, और बड़ी-बड़ी रिपोर्टें तैयार करायी जायं। हां, वे इतनी लंबी-लंबी रिपोर्टें निकाल सकेंगे कि बेचारी जनता निराश हो जाय। लोग मजबूरन् बेकार बैठे रहेंगे, भूखों मरते रहेंगे और समझ जायंगे कि इन सरकारी जांचोंसे कुछ नतीजा न निकलेगा। उनको न तो क्रांतिमें उत्साह रहेगा और न विश्वास। वे क्रांतिके शत्रुओंके लिए मैदान खाली कर देंगे। नयी नौकरशाही जनताकी दृष्टिमें निस्संपत्तीकरणको ही घृणित बनाकर रहेगी।

यह जरूर एक ऐसी चट्टान है जो हमारी आशाओंके जहाजको

चकनाचूर कर सकती है। परंतु लोगोंको चक्करमें डालनेके लिए पेश की हुई दलीलें सुननेकी जरूरत नहीं है। लोगोंको समझ लेना चाहिए कि नये जीवनके लिए नयी परिस्थितिकी आवश्यकता हुआ करती है। यदि इस कार्यको वे स्वयं हाथमें लेलेंगे तो निस्संपत्तीकरण विना किसी कठिनाईके ही हो सकेगा।

मगर आप पूछेंगे कि "यह कैसे हो सकता है ?" हम इस प्रश्नका उत्तर देनेका प्रयत्न करेंगे। पर एक बात अवश्य कहनी है। हमारा यह इरादा नहीं है कि हम निस्संपत्तीकरणकी तफसीलवार योजना बतायें। किसी व्यक्ति या समुदायकी आजकी सारी तजवीजें वस्तुस्थितिके सामने बहुत कम टिक सकेंगी। पहलेसे ही जितना बताया जा सकता है, मौकेपर मनुष्य उससे बड़ा कार्य करेगा, अच्छे प्रकारसे करेगा और सीधे तरीकेसे करेगा। इसलिए हम तो यह बतायेंगे कि किस प्रकार सरकारके दखल दिये विना ही निस्संपत्तीकरण किया जा सकेगा। जो लोग यह कहते हैं कि विना किसी सरकारके जायदादोंकी जब्ती होना असंभव है उनको उत्तर देनेकी जरूरत हम नहीं समझते। हम इतना ही कहना चाहते हैं कि हम किसी विशेष प्रकारके संगठनके समर्थक नहीं हैं। हमारा काम तो इतना ही सिद्ध करना है कि निस्संपत्तीकरण जनताके यत्नसे ही हो सकेगा, किसी भी अन्य प्रकारसे नहीं हो सकेगा।

संभव है कि जब निस्संपत्तीकरणका काम चल निकले तो हर महल्ले और गलीमें स्वयंसेवकोंके दल बन जायं। वे इन बातोंकी जांच करेंगे कि कितने मकान और खंड खाली हैं, कितने खूब भरे हुए हैं, तंग और अंधेरी कोठरियां कितनी हैं, और ऐसे मकान कितने हैं जो उनमें रहनेवालोंकी आवश्यकतासे बहुत बड़े हैं और जिनमें वे लोग आ सकते हैं जो दूसरी जगह कठिनाईसे कसमकसमें गुजर कर रहे हैं। थोड़े ही दिनोंमें ये स्वयंसेवक सारी गलियों और महल्लोंके सारे तल्लों, कमरों, हवेलियों और शहरके बाहरके बंगलोंकी सूची, स्वास्थ्यकर और अस्वास्थ्यकर, छोटे और बड़े कमरोंकी सूची, तहखानों और बढ़िया मकानोंकी सूची बना डालेंगे।

ये स्वयंसेवक एक-दूसरेसे मिलते और बातचीत करते रहेंगे ही। इन्हें अपनी गणना पूरी करनेमें देर न लगेगी। कमेटियों और दफ्तरोंमें बैठकर फर्जी आंकड़े बनाये जा सकते हैं; पर सच्ची और सही गणना तो व्यक्तिसे ही प्रारंभ हो सकती है। फिर उससे बड़े एकजाई नक्शे तैयार होने चाहिएं।

फिर ये नागरिक किसीकी आज्ञाके लिए न ठहरेंगे। वे ऊपरी मंजिलोंके छोटे-छोटे कमरों या बंद कोठरियोंमें रहनेवाले दुर्दशाग्रस्त भाइयोंको जाकर ढूंढ़ेंगे। उनसे सरल भावसे कहेंगे "भाइयो, इस बार की क्रांति सच्ची क्रांति है। इसमें जरा भी संदेह नहीं है। आज शामको तुम अमुक स्थानपर आना। सारे पड़ोसी वहीं मिलेंगे। घरोंका नया बंटवारा होनेवाला है। यदि तुम अपनी बंद अंधेरी कोठरीसे तंग आ गये हो तो आकर किसी पाच कमरोंवाले खंडको पसंद कर लेना। तुम वहां निर्भय होकर रह सकते हो। लोगोंने हथियार उठा लिये हैं और जो कोई तुम्हें निकालनेका साहस करेगा उसे इसका मजा चखना पड़ेगा।

कुछ लोग कहते हैं कि हर आदमी फिर तो बढ़िया मकान या लंबा चौड़ा खंड मांगेगा। मेरा जवाब है कि जनाब, आपने बिलकुल गलत समझा है। लोग असंभव बात नहीं चाहा करते। बल्कि जब-जब जनताने किसी अन्यायका प्रतिकार किया है तब-तब जनसाधारणकी सद्भावना और न्याय-बुद्धिको देखकर हमें चकित होना पड़ा है। क्या हमने कभी उन्हें असंभव मांगें करते हुए देखा है? पेरिसके दोनों घेरोंमें या १७९२-९४ के भयानक वर्षोंमें लोग भोजन या ईंधन लेनेके लिए आकर खड़े रहते थे। वे खूब जानते थे कि जो कोई पीछे आयेगा उसे उस दिन न तो भोजन मिलेगा और न आग। फिर भी उस समय वे आपसमें लड़ते न थे। जो व्यापक धैर्य और त्याग उनमें १८७१में पाया गया उसका वर्णन विदेशी संवाददाताओंने बड़ी प्रशंसाके साथ किया है।

इस बातको हम अस्वीकार नहीं करते कि किसी-किसी व्यक्तिमें बहुत अधिक स्वार्थ-भावना रहती है। हमें यह बात अच्छी तरह मालूम

है। पर हमारा कहना यह है कि गृह-व्यवस्था करना आदि जनताके प्रश्नोंको किसी बोर्ड या कमेटीके हवाले कर देनेसे या किसी भी प्रकार नौकरशाही-व्यवस्थाकी दयापर छोड़ देनेसे ही यह स्वार्थ-भावना जाग्रत और पुष्ट होती है। उस अवस्थामें सारी दुर्भावनाएं जाग उठती हैं। फिर बाजी उसीके हाथ रहती है जो कमेटीमें सबसे अधिक प्रभावशालीहोता है। जरा-जरा-सी असमानता देखनेपर झगड़े और परस्पर-दोपारोपण होने लगते हैं। किसी व्यक्तिके साथ थोड़ी रियायत की गयी कि भारी शोरगुल मच जाता है। और वह अकारण भी नहीं होता।

परंतु यदि जनसाधारण स्वयं ही गलियों, महल्लों और हलकोंमें अपना संगठन बनाकर गंदे या पिछवाड़ेके घरोंमें रहनेवाले लोगोंको मध्यमवर्गके खाली मकानोंमें पहुंचाने लगें तो छोटी-छोटी तकलीफें या असमानताएं सरलतासे दूर हो जायंगी।

जब-जब यह देखा गया कि क्रांतिकी नाव डूबनेवाली है और श्रमजीवियोंसे अपील उसे बचानेकी की गयी तब-तब वे पीछे नहीं रहे। आनेवाली क्रांतिमें भी ऐसा ही होगा।

पर सबकुछ करनेपर भी कुछ असमानताएं, कुछ अनिवार्य अन्याय रह ही जायंगे। ऐसे व्यक्ति समाजमें होते ही हैं जिन्हें कोई भी उथल-पुथल, कोई भी संकट स्वार्थके दलदलसे नहीं निकाल सकता। पर प्रश्न यह नहीं है कि अन्याय बिलकुल रहेगा या नहीं, प्रश्न तो यह है कि वह किस प्रकार कम किया जाय?

सारे इतिहास, मानव-जातिके सारे अनुभव और सारे सामाजिक मनोविज्ञानसे सिद्ध है कि किसी कामको करनेका सबसे अच्छा और सुंदर उपाय यही है कि जिन लोगोंसे उस कामका संबंध है उन्हींके ऊपर उसका निर्णय छोड़ दिया जाय। सैकड़ों छोटी-छोटी तफसीलोंपर सरकारी बंटवारेमें विचार नहीं होपाता। उनपर विचार और उनका प्रबंध करनेका अधिकार उन्हीं लोगोंको है जिनसे उनका संबंध है।

३

इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक नहीं है कि घरोंका शुरूसे ही बिलकुल बराबर-बराबर बंटवारा किया जाय। पहले-पहल तो कुछ तकलीफें होंगी ही, पर निस्संपत्तीकरणको अपनानेवाले समाजमें सब बातें शीघ्र ही ठीक हो जायंगी।

जब राज, बढ़ई और गृह-निर्माणका काम जाननेवाले दूसरे लोग यह समझ लेंगे कि अब हमें भोजनकी चिंता नहीं करनी है तो वे अपने कामको ही रोज कुछ घंटे क्यों न करना चाहेंगे? जिन बढ़िया मकानोंको साफ-सुथरा रखनेके लिए अनेक नौकरोंकी आवश्यकता रहा करती थी उनको वे कई परिवारोंके रहने-योग्य बना डालेंगे, और कुछ ही महीनोंमें आज-कलके मकानोंसे अधिक आरामदेह और कहीं अधिक स्वास्थ्यकर घर तैयार हो जायंगे। फिर भी जिन लोगोंको अच्छा घर न मिल पायेगा उनसे अराजक साम्यवादी यह कहेगा कि "भाइयो, धीरज धरो। अब हमारे स्वाधीन नगरमें ऐसे-ऐसे महल खड़े होंगे जो पूंजीपतियोंके महलोंसे भी सुंदर और बढ़िया होंगे। वे उन्हींके होंगे जिनको उनकी अधिक आवश्यकता होगी। अराजक पंचायत आमदनीकी दृष्टिसे मकान नहीं बनवायेगी। नागरिकोंके वास्ते बनाये गये वे भवन सामुदायिक भावनाके फल होंगे, और सारी मनुष्य-जातिके लिए नमूनेका काम देंगे। और उनपर अधिकार होगा आपका।"

यदि क्रांति करनेवाले लोग घरोंकी जब्ती करेंगे और यह घोषणा करेंगे कि सारे मकान समाजके हैं और प्रत्येक परिवारको अच्छे घरमें मुफ़्त रहनेका अधिकार है, तो कहा जायगा कि प्रारंभसे ही क्रांतिने समाजवादी रूप ग्रहण किया है और वह ऐसे मार्गपर आगयी है जिससे उसे हटाना सरल नहीं है। यह व्यक्तिगत संपत्तिपर एक घातक प्रहार होगा।

घरोंके निस्संपत्तीकरणमें ही सारी समाजवादी क्रांतिका बीज है। उस क्रांतिको संपादित करनेके तरीकेपर ही आगे होनेवाली घटनाओंका रूप अवलंबित है। या तो हम सीधे अराजक समाजवादतक पहुंचने

वाली सुंदर सड़कपर चलने लगेंगे, या फिर निरंकुश व्यक्तिवादके दल-दलमें ही धंसे रहेंगे।

सिद्धांत और व्यवहारकी कई आपत्तियोंका हमें सामना करना पड़ेगा। विरोधी तो हर प्रकार असमानता बनाये रखना चाहेंगे। वे 'न्यायकी दुहाई' देकर भी विरोध करेंगे। कहेंगे कि "क्या यह घोर लज्जाकी बात नहीं है कि शहरके लोग तो इन बढ़िया मकानोंपर कब्जा करलें और देहातमें किसानोंको रहनेके लिए केवल टूटी-फूटी झोंपड़ियां हों?" पर इन न्यायके ठेकेदारोंकी स्मरण-शक्ति तब कहां चली जाती है जब वे यह भूल जाते हैं कि जिस चीजकी ये अप्रकट रूपसे रक्षा करना चाहते हैं वह कैसी 'घोर लज्जा'की वस्तु है। वे भूल जाते हैं कि उसी नगरमें मजदूर, उसकी स्त्री और बालक सब एक गंदी कोठरीमें घुट रहे हैं और उनके सामने ही अमीरोंके महल खड़े हैं। वे यह भूल जाते हैं कि छोटी-छोटी गंदी कोठरियोंमें पीढ़ियोंसे लोग सड़ रहे हैं; हवा और रोशनीके लिए तरसते हुए मर रहे हैं। इस अन्यायको मिटाना ही क्रांतिका प्रथम कर्तव्य होना चाहिए।

इस चकमेमें हमें न आना चाहिए। क्रांतिके प्रारंभिक दिनोंमें शहर और देहातके बीच जो असमानता रहेगी वह अस्थायी होगी और दिन-ब-दिन स्वयं घटती जायगी। ज्यों ही किसान खेतके मालिक, व्यापारी, साहूकार और राज्यका जुआ उठानेवाला बैल न रहेगा त्योंही गांवोंमें भी घरोंका सुधार होने लगेगा। एक आनुषंगिक और अस्थायी असमानतासे बचे रहनेके लिए क्या हम पुराने जमानेसे चले आनेवाले एक अन्यायको न मिटायेंगे?

जो आक्षेप व्यावहारिक कहलाते हैं वे भी ठोस नहीं हैं। वे उदाहरण देते हैं कि एक ऐसा आदमी है जो बेचारा अपने साधारण सुखोंको त्यागकर बड़ी मुश्किलसे अपने परिवारके ही योग्य एक घर खरीद पाया है, और हम उसके मेहनतसे कमाये हुए उस सुख-साधनको छीन लेंगे, उसको निकाल बाहर करेंगे! 'नहीं, ऐसा हर्गिज न होगा। यदि उसका घर इतना ही बड़ा है कि उसमें उसका ही परिवार रह सकता है तो

वह खुशीसे वहीं रहे। वह अपने छोटे-से बगीचेमें भी काम करता रहे। हमारे स्वयंसेवक उसे न रोकेंगे, बल्कि आवश्यकता होगी तो सहायता भी देंगे। पर मान लीजिए कि वह किरायेपर कमरे देता है या उस मकानमें कुछ कमरे खाली हैं। तब लोग उस किरायेदारसे कहेंगे कि तुम अपने मकान-मालिकको किराया मत दो। जहां तुम रहते हो वहीं रहो, परंतु बिना किराया दिये। अब तकाजेवाले और टैक्स वसूल करनेवाले नहीं रहे। समाजवादने सब झगड़ा पाक कर दिया।

अथवा कल्पना कीजिए कि एक सेठ साहबके पास तो बीस कमरे हैं और पड़ोसमें एक गरीब स्त्री अपने पांच बच्चोंको लेकर एक ही कोठरीमें रहती है। ऐसी अवस्थामें लोग यह प्रयत्न करेंगे कि खाली कमरे, कुछ अदल-बदल करके, उस गरीब स्त्री और उसके पांच बच्चोंके रहनेयोग्य बन जायं। वह मां और उसके पांच बच्चे एक कोठरीमें सड़ा करें, और सेठ करोड़ीमल एक खाली महलमें गुलछर्रे उड़ाते रहें, इससे तो वह अधिक ही न्यायसंगत बात होगी। संभव है कि कोई भले सेठ जी खुद ही उस स्त्री और उसके बच्चोंको अपने खाली घरमें जगह दे दें। जब नौकर-चाकर न रहेंगे तो सेठानीजी भी इतने बड़े मकानको साफ-सुथरा रखने के झंझटसे छुटकारा पाकर खुश ही होंगी।

कानून और व्यवस्थाके हिमायती कहते हैं कि "तुम तो सब कुछ उलट-पुलट देना चाहते हो। फिर तो मकानोंसे निकालने और हटाये जानेका चक्र सदा ही चलता ही रहेगा। इससे क्या यह अच्छा न होगा कि नये सिरेसे प्रबंध शुरू किया जाय? पहले तो सभी लोगोंको घरों से निकाल दें और फिर चिट्ठी (लॉटरी) डालकर उनका बंटवारा करें।" यह तो हुआ आलोचकोंका कहना। पर हमें तो दृढ़ विश्वास है कि यदि कोई सरकार हस्तक्षेप करे और सारे परिवर्तन उन्हीं स्वयंसेवक-संघों द्वारा हों जो इस कामके लिए बने हैं, तो भी घरोंसे लोगोंको निकालने और हटानेकी घटनाएं उतनी न होंगी जितनी वर्तमान प्रणालीमें मकान-मालिकोंके लोभके कारण हर साल हुआ करती हैं।

पहले तो सभी बड़े शहरोंमें गंदी अंधेरी गलियोंके रहनेवालोंके रहने-

-योग्य घर और खंड-मंजिलें काफी खाली हैं। महलों और बढ़िया भवनोंमें तो श्रमजीवी यदि रह भी सकें तो न रहेंगे। ऐसे मकानोंकी 'संभाल'के लिए अनेक नौकर-चाकर चाहिए। उनमें रहनेवाले शीघ्र ही लाचार होकर अपने लिए छोटे मकान तलाश करेंगे। बड़े घरोंकी स्त्रियां समझ जायंगी कि जब खाना ही अपने हाथसे पकाना पड़ता है तो महलोंकी संभाल कौन करेगा ? धीरे-धीरे लोग दूसरी जगह चले जायंगे। अमीरों-को छोटे मकानोंमें और ग़रीब कुटुंबोंको बड़े घरोंमें पहुंचानेके लिए जब-र्दस्ती करनेकी नौबत न आयेगी। संघर्ष और गड़बड़ बहुत ही कम होगी। जैसा घर भी मिल जायगा लोग प्रसन्नतासे उसमें चले जायंगे। पंचा-यती या साम्यवादी गांवोंके उदाहरण हमारे सामने हैं। वहां जब खेतोंका नया बंटवारा होता है तो उनकी अदला-बदली कम होती है। किसानोंकी समझदारी और सद्भावना प्रशंसनीय होती है। जहां व्यक्तिगत संपत्तिका राज्य है और झगड़े सदा कचहरियोंमें पहुंचते रहते हैं वहांकी अपेक्षा रूसके पंचायती गांवोंके प्रबंधमें खेतोंकी अदला-बदली कम ही होती है। तो क्या हमें समझना चाहिए कि यूरोपके नगरोंके लोगोंमें रूस और भारतके किसानोंसे भी कम बुद्धि और संगठन-शक्ति है ?

फिर हमें यह बात भी न भूल जानी चाहिए कि क्रांतिसे दैनिक जीवन-क्रममें कुछ-न-कुछ गड़बड़ होती ही है। जो लोग यह आशा करते हैं कि पुरानी व्यवस्था नष्ट होकर बिना थोड़ी-सी भी गड़बड़के क्रांति हो जायगी वे गलती करते हैं। रईस लोगोंके ऐशो आराममें कुछ भी खलल पड़े बिना ही सरकारोंका बदल जाना तो संभव है, परंतु समाजका अपना पोषण करने और बोझ उठानेवालोंपर जो अत्याचार है वह राजनीतिक दलोंकी बाजीगरीसे दूर नहीं हो सकता।

कुछ गड़बड़ तो होगी ही, पर उससे हानि-ही-हानि न होनी चाहिए। हानि तो कम-से-कम होनी चाहिए। और इसका तरीका यह है कि हम बोर्डों या कमेटियोंसे काम न लेकर खुद उन लोगोंसे सीधे बात करें जिनका हानि-लाभसे संबंध है। इस सिद्धांतपर जितना जोर दिया जाय कम होगा।

चुनावका एक चंचल-मति उम्मेदवार कहता है—"मैं सब कुछ

जानता हूं, मैं सब कुछ कर सकता हूं, और मैं सब बातोंको ठीक करनेका ठेका लेता हूं; बस मुझे अपने प्रतिनिधित्वका गौरव प्रदान कीजिए।" जो लोग उसको चुनते हैं वे ग़लती-पर-ग़लती करते हैं, पर जिस काम को लोग जानते हैं, जिस कामका उनसे सीधा संबंध है। उसको जब वे स्वयं करने लगते हैं तो वह उन कमेटियों और कौंसिलोंके सारे कार्यसे बहुत अच्छा होता है। पेरिसके कम्यून-शासन और बंदरगाहके मजदूरों की बड़ी हड़तालके समय यही तो हुआ था। पंचायती गांवोंमें भी इसके प्रमाण नित्य मिलते है।

: ७ :

कपड़े

१

जब मकानोंपर नागरिकोंका सम्मिलित अधिकार हो जायगा और जब सब आदमियोंको भोजन मिलने लगेगा, तो एक कदम और आगे बढ़ना होगा। इसके बाद सवाल होगा कपड़े का। इसका उपाय भी यही हो सकता है कि जिन-जिन दुकानों और गोदामोंमें कपड़ा बिकता या इकट्ठा रहता है उनपर जनता कब्जा कर ले। वहां सबको आज़ादी रहे कि जिसे जितना चाहे उतना ले सके। वस्त्रोंका समाजीकरण अर्थात् पंचायती भंडारसे अपनी आवश्यकताके अनुसार कपड़े ले लेने या दर्जियोंसे कटवा-सिलवा लेनेका अधिकार तो मकान और भोजनके समाजीकरणका स्वाभाविक परिणाम है।

हमारे समालोचक मजाक और चालाकीसे कहा करते हैं कि तब तो सारे नगरवासियोंके कोट छीन लेने पड़ेंगे, सारे वस्त्रोंका ढेर करना पड़ेगा, और उसमेंसे चिट्ठी डालकर कपड़े बांटने पड़ेंगे। मगर दर-असल इसकी ज़रूरत न होगी। जिसके पास एक कोट है वह उसे उस समय भी रख सकेगा—बल्कि यदि उसके पास दस कोट भी होंगे तो भी लोग उससे छीनना न चाहेंगे, क्योंकि किसी बड़ी तोंदवाले सफेदपोशके 'उतारन'की अपेक्षा तो अधिकांश लोग नये कोटको ही अधिक पसंद करेंगे। नया कपड़ा ही इतना अधिक होगा कि पुराने कपड़ोंके बिना भी काम चल जाय। शायद बच भी रहे।

यदि हम बड़े शहरोंकी दूकानों और भंडारोंके सारे कपड़ोंकी सूची बनायें तो शायद हमें ज्ञात होगा कि पेरिस, लियॅां, बोर्दो और मार्सेल्ज़में इतना काफी कपड़ा है कि समाज सभी स्त्रियों और पुरुषोंको पोशाकें दे

सकता है। और यदि तैयार कपड़े सबको तत्काल ही न मिल सकें तो पंचायती दर्जी शीघ्र बना देंगे। आजकल बढ़िया मशीनोंकी मददसे सिलाईके कारखाने कपड़े सीकर कितनी जल्दी तैयार कर देते हैं, यह हम जानते ही हैं।

हमारे विरोधी कहते हैं—"मगर सब पुरुष बढ़िया ऊनी कोट और सब स्त्रियां मखमली साया जो मांगेंगी ?"

हम ऐसा नहीं मानते। हर एक स्त्री मखमलके लिए मरी नहीं जाती, न हर एक पुरुष बढ़िया सर्ज या जामेवारका ही स्वप्न देखा करता है। आज भी यदि हम प्रत्येक स्त्रीसे अपने कपड़े पसंद करनेको कहें तो कुछ स्त्रियां तड़क-भड़कवाले कपड़ोंकी अपेक्षा सादे कामकाजी कपड़े लेना ही अधिक पसंद करेंगी।

फिर समयके साथ रुचि भी बदलती रहती है। अतः क्रांतिके समय प्रचलित पहनावा सादगीकी तरफ़ जरूर झुकेगा। व्यक्तियोंकी भांति समाजोंका भी बुजदिलीका जमाना होता है। पर वीरताका भी काल आता है। यद्यपि आजकलका समाज संकुचित व्यक्तिगत स्वार्थों और तुच्छ विचारोंमें डूबा हुआ है, पर जब महान् आपद्‌काल आते हैं तब उसका रूप भिन्न हो जाता है। उसकी महानता और उत्साहके दिन भी हुआ करते हैं। जो शक्ति आजकल स्वार्थवादियोंके हाथमें है वह उदार प्रकृतिके मनुष्योंके हाथमें आजायगी। लोगोंमें आत्म-त्यागकी भावना उत्पन्न हो जायगी। महान् कार्यसे महान् कार्य ही उत्पन्न होते हैं। उस समय अहम्मन्य स्वार्थी व्यक्ति भी पीछे रहनेसे लज्जित होंगे, और यदि वे उनका अनुकरण न करेंगे तो कम-से-कम उदार और वीर व्यक्तियोंकी सराहना तो अवश्य करने लगेंगे।

फ्रांसकी सन् १७९३की महान् क्रांतिमें इस प्रकारके उदाहरण भरे पड़े हैं। उच्च भावनाओंके युग व्यक्तियोंकी भांति समाजोंमें भी अपने आप उपस्थित होते हैं। उत्साहके जिस ज्वारसे मानव-जाति आगे बढ़ती है वह ऐसे ही युगोंमें आया करता है।

इन उच्च भावनाओंके प्रभावको अधिक बढ़ाकर वर्णन करनेकी हमारी

इच्छा नहीं है, और न इनके आधारपर हम समाजका आदर्श स्थापित करेंगे। पर यदि हम आशा करें कि इन भावनाओंकी सहायतासे प्रारंभिक कठिनाईके दिन निकल जायंगे तो यह कोई असंगत बात न होगी। हम यह आशा तो नहीं कर सकते कि हमारा दैनिक जीवन निरंतर ऐसे पवित्र उत्साहसे प्रेरित रहेगा, पर प्रारंभमें हम उसकी सहायताकी आशा अवश्य कर सकते हैं। और इतना ही काफी है।

जमीन साफ करने और शताब्दियोंकी दासता और अत्याचारसे इकट्ठे हुए ठीकरों और कूड़े-करकटको झाड़-बुहार कर फेंक देनेके लिए ही नये अराजक समाजको इस भ्रातृप्रेमकी लहरकी आवश्यकता होगी। बादमें आत्म-त्यागकी भावनाके बिना भी समाजका अस्तित्व रह सकेगा, क्योंकि तब अत्याचार मिट जायगा और एकताकी नवीन व्यापक चेतना उत्पन्न हो जायगी।

यदि क्रांतिका रूप वैसा ही हुआ जैसा हमने बताया है तब तो स्वार्थियोंके प्रयत्न विफल हो जायंगे, और व्यक्ति अपनी बुद्धि और प्रयत्नसे इस दिशामें खूब काम कर सकेंगे। कपड़ेके प्रबंधका भार लेनेके लिए हर गली और महल्लेमें स्वयंसेवक दल बन जायंगे। वे ऐसी फेहरिस्तें बना लेंगे जिनमें नगरके सारे मालका इंदराज होगा और वे यह भी मोटे तौरपर जान लेंगे कि उनके पास कितना माल है। बहुत संभव है कि कपड़ेके बंटवारेके विषयमें भी नगरवासी उसी सिद्धांतको ग्रहण करें जो भोजनके विषयमें अपनाया जाय। जो चीज सार्वजनिक भंडारमें बहुतायतसे होगी उसे वे चाहे जितनी लेलेने देंगे, और जो चीज थोड़ी होगी उसको थोड़ा-थोड़ा देंगे।

प्रत्येक पुरुषको बढ़िया कोट और प्रत्येक स्त्रीको साटन या मखमलके कपड़े तो न दिये जा सकेंगे, संभवतः समाज फालतू और जरूरी चीजोंमें भेद करेगा। शायद कुछ समयतक तो पशमीना और मखमल फालतू चीजोंमें ही गिने जायं। जो चीजें आज विलासकी वस्तुएं कहलाती हैं शायद आगे वे ही सबके उपयोगकी मामूली चीजें बन जाय।

अराजक नगरके सब निवासियोंके लिए कपड़ोंका प्रबंध तो किया ही

जायगा, पर जो चीजें उस समय विलास-सामग्री समझी जायंगी वे बीमारों और कमजोरोंके वास्ते रहेंगी। साधारण नागरिकोंके रोजके काममें न आनेवाली चीजें भी कमजोरोंके लिए रहेंगी।

पर कुछ लोग कहेंगे कि "इससे तो सबके कपड़े एक-से हो जायंगे और जीवन और कलाकी सारी सुंदरता ही नष्ट हो जायगी।

पर हमारा उत्तर है कि ऐसा कदापि न होगा। वर्तमान साधनोंसे भी अराजक समाजमें, कलाकी ऊंची-से-ऊंची रुचियां तृप्त हो सकती हैं, और इसके लिए बड़े-बड़े करोड़पतियोंकी संपत्तिकी जरूरत भी नहीं है। यह कैसे होगा, यह हम आगे दिखानेवाले हैं।

: ८ :

उपाय

१

यदि कोई समाज, नगर या प्रदेश अपने निवासियोंके जीवनकी समस्त आवश्यकताओंका प्रबंध करना चाहे तो उसको उन चीजोंपर अधिकार करना पड़ेगा जो उत्पादनके लिए अनिवार्य रूपसे आवश्यक हैं, अर्थात् जमीन, यंत्र, कारखाने, माल लाने-लेजानेके साधन, आदि। व्यक्तियोंके हाथसे छीनकर पूंजी समाजको वापस दे दी जायगी।

हम पहले कह चुके हैं कि मध्यवित्त समाजसे केवल यही बड़ी हानि नहीं हुई है कि उद्योग-धंधों और व्यापारका अधिकांश मुनाफा पूंजीपति खा जाते हैं और बिना श्रम किये ही जीवित रह सकते हैं, किंतु यह भी एक बड़ी हानि हुई है कि सारी उत्पत्ति गलत रास्तेपर चल रही है। आजकल उत्पादनका ध्येय यह नहीं है कि सब सुखी हों, बल्कि कुछ दूसरा ही है। इसी कारण वह निंदनीय है।

व्यापारिक उत्पादन सबके हितकी दृष्टिसे हो भी कैसे सकता है? पूंजीपति तो अपने लिए पैसा पैदा करनेवाला कारखानेदार है। उससे यह आशा करना कि वह सबके हितके लिए उत्पत्ति करे, उससे ऐसी बातकी इच्छा करना है जो वह कर नहीं सकता, और करे तो वह जो कुछ है—धनराशि एकत्र करनेका इच्छुक व्यवसायी—वह रह नहीं सकता। हां उसने एक बात की है। उसने श्रमजीवियोंकी उत्पादन-शक्ति बढ़ा दी है। व्यक्तिगत लाभके लिए बने हुए पूंजीवादी संगठनसे इतना मिल गया, यही क्या कम है? पूंजीपतिने वाष्प-शक्ति, रसायनशास्त्र, यंत्र-कला और इस शताब्दीके अन्य आविष्कारोंकी उन्नतिसे लाभ उठाया, अपने फायदेके लिए मजदूरोंकी उत्पादन-शक्ति बढ़ायी, और अभीतक इसमें

बहुत-कुछ सफल भी हुआ है। पर उससे दूसरी बातोंकी आशा करना अनुचित होगा। उदाहरणार्थ, उससे यह आशा करना कि वह अपने मजदूरोंकी इस बढ़ी हुई उत्पादन-शक्तिका सारे समाजके हितार्थ उपयोग करेगा उससे मानव-जातिप्रेम और त्यागकी मांग करना है। पूंजीवादी व्यवसाय भी कहीं त्यागके आधारपर खड़ा रह सकता है?

यह बढ़ी हुई उत्पादन-शक्ति कुछ खास-खास उद्योग-धंधोंमें ही सीमित है। इसको विस्तृत करने और सार्वजनिक हितमें लगानेका काम समाजके लिए रह जाता है। परंतु यह स्पष्ट है कि मजदूरोंकी इस महान् उत्पादन-शक्तिको सबके सुख-संपादनमें लगानेके लिए समाजको उत्पत्तिके सारे साधनोंपर ही कब्जा करना पड़ेगा।

अर्थशास्त्रज्ञ अपने अभ्यासके अनुसार कहेंगे कि देखिए, वर्तमान प्रणालीने खास-खास उद्योग-धंधोंके विशेषज्ञ ये कितने जवान और तगड़े श्रमिक पैदा किये हैं और इस प्रणालीकी बदौलत ही ये लोग सुखसे जीवन-निर्वाह कर रहे हैं। जब कभी जिक्र आता है तो इन्हीं थोड़ेसे आदमियोंकी ओर गर्वके साथ संकेत किया जाता है। पर यह सुखी जीवन भी, जो बहुत थोड़े ही लोगोंके बांटे पड़ता है, कितने दिन टिक पाता है? संभव है, कल ही लापरवाही, अविचार या कारखानेदारके लोभके कारण इन विशेषाधिकार रखनेवाले लोगोंका काम छूट जाय और जो थोड़े-से दिन इन्होंने आरामके साथ बिताये उसके बदलेमें इन्हें कितनेही महीने और वर्ष दुःख और दरिद्रतामें गुजारने पड़ें। अल्पजीवी व्यवसायोंकी बात जाने दीजिए, कपड़े, लोहे, शक्कर आदिके प्रधान उद्योग-धंधोंको ही लीजिए। कभी सट्टेके कारण, कभी एक की जगह दूसरी चीजके ले लेनेके कारण और कभी पूंजीवालोंकी ही आपसकी प्रतिस्पर्धाके कारण ऐसे कितने ही कारखाने गिरते या बंद होते देखे गये हैं।

माना कि थोड़े-से विशेष श्रेणीके कारीगरोंका जीवन कुछ अंशोंमें सुखी हो जाता है, पर उसके लिए कीमत कितनी भारी देनी पड़ती है? थोड़ा-सा सुख भोगनेवाले इन इने-गिने कारीगरोंके मुकाबिलेमें कितने लाख ऐसे मनुष्य है जो रोजका कमाया रोज खाते हैं, जिन्हें स्थायी काम

नहीं मिलता, और जहां उनकी आवश्यकता होती है वहीं जानेको तैयार हो जाते हैं। नाम मात्रकी आमदनीके लिए कितने किसान दिनमें चौदह-चौदह घंटे पिसा करते है ? पूंजीवाद देहातकी जनसंख्या घटाता है, जिन उपनिवेशों और देशोंमें उद्योग-धंधे उन्नत नहीं हैं उनका शोपण करता है, अधिकांश श्रमजीवियोंको शिल्प-शिक्षासे वंचित रखता है और उन्हें अपने खास कामकी जानकारी भी बढ़ाने नहीं देता।

यह अवस्था संयोग मात्र नहीं है, यह तो पूंजीवादी प्रणालीका अनिवार्य फल है। विशेप श्रेणीके कारीगरोंको अच्छा वेतन देनेके लिए लाजिमी है कि किसान समाजका भार-वाहक पशु बने। शहरोंकी आबादी बढानेके लिए जरूरी है कि देहातका रहना त्याग दिया जाय। बड़े-बड़े कारखानोंका माल छोटी-छोटी आमदनीवाले खरीदारोंको आसानीसे मिल सके, इसके लिए आवश्यक है कि बड़े शहरोंके बाहरी गंदे भागोंमें छोटे-छोटे व्यवसायवाले लोग इकट्ठे हों, और नाम मात्रकी मजदूरी लेकर हजारों छोटी-मोटी चीजें बनाते रहें। बढ़िया कपड़ा कम तनख्वाहवाले श्रमिकोंके हाथ बेचा जा सके, इसीलिए तो बहुत थोड़ी मजदूरीसे संतुष्ट हो जानेवाले दर्जी उनके कपड़े सिया करते हैं। पिछड़े हुए पूर्वीय देश पश्चिमवालोंके हाथों इसीलिए लुटते हैं कि कुछ विशेपाधिकार-प्राप्त कारखानोंके थोड़ेसे कारीगरोंका जीवन थोड़ा अधिक सुखी हो सके।

अतः वर्तमान प्रणालीकी बुराई केवल यही नहीं है कि मालका 'अतिरिक्त मूल्य'* पूंजीवालेकी जेबमें जाता है, जैसा कि रॉडवर्ट्‌स और मार्क्सने कहा है। इससे तो पूंजीवाद-प्रणालीपर साम्यवादी कल्पना और साधारण दृष्टि संकुचित हो जाती है। खुद 'अतिरिक्त मूल्य' ही अनेक गहरे कारणोंका नतीजा है। हरएक पीढ़ीके कुछ फाजिल माल अगली पीढ़ीके लिए छोड़ जानेके बदले पूंजीपतिके लिए 'अतिरिक्त मूल्यके' रूपमें नफा खानेकी

* 'अतिरिक्त मूल्य' (Surplus value) वस्तुका वह मूल्य है जो कच्चे मालकी कीमत और मजदूरको दी गयी मजदूरी निकाल देनेके बाद बच रहता है और जो मजदूरके ॥) पाकर १) का काम कर देनेसे ही उत्पन्न होता है। यह अतिरिक्त मूल्य ही मालिकके मुनाफेका स्रोत है।

गुंजाइश रहना ही बुराई है; क्योंकि इस अतिरिक्त मूल्यकी उत्पत्तिके लिए स्त्री-पुरुषों और बच्चोंको भूखसे मजबूर होकर अपना श्रम, वह जितने मूल्यका माल उत्पन्न करता है या कर सकता है उससे बहुत कमपर, बेच देना पड़ता है। पर यह बुराई तबतक बनी रहेगी जबतक उत्पत्तिके साधन मुट्ठीभर आदमियोंके हाथमें रहेंगे। आज किसान या मजदूरको जमीन जोतने या मशीन चलानेका हक तब मिलता है जब वह जमींदार या कारखानेदारको उत्पत्तिका बड़ा हिस्सा भेंट करदे। उधर जमींदार और कारखानेदारको उपयोगी वस्तुओंके बदले ऐसा माल पैदा करनेकी पूरी स्वतंत्रता है जिससे उनको अधिक-से-अधिक लाभ हो। जबतक यह अवस्था रहेगी तबतक तो सुखी जीवन इने-गिने व्यक्तियोंके भाग्य में ही होगा। वह भी चंदरोजा होगा और समाजके बड़े भागकी दरिद्रतासे ही संभव होगा। किसी रोजगारके नफेको बराबर हिस्सोंमें बांट देना ही काफी नहीं है, जब दूसरी ओर दूसरे हजारों मजदूरोंका खून चूसा जा रहा हो। ठीक तो यही है कि सबका जीवन सुखी बनानेके लिए जिस मालकी आवश्यकता है वही अधिक-से-अधिक उत्पन्न किया जाय, और जन-शक्तिका अपव्यय भी कम-से-कम हो।

संपत्तिके व्यक्ति-स्वामीका उद्देश्य इतना व्यापक कैसे हो सकता है? इसी कारण यदि समाजको उत्पत्तिका यही आदर्श रखना है तो उन सारे साधनोंपर उसे कब्जा करना पड़ेगा जिनसे संपत्ति और सुख दोनोंकी वृद्धि होती है। समाजको जमीन, कारखानों, खानों, रेल जहाज, तार, डाक आदिपर अधिकार करना पड़ेगा। उसे इस बातको भी सोचना-समझना होगा कि किन वस्तुओंसे सर्वसाधारणका सुख बढ़ सकेगा और किन उपायोंसे काफी माल तैयार हो सकेगा।

२

एक आदमीको अपने परिवारके वास्ते अच्छा भोजन, आरामदेह मकान और जरूरी कपड़े प्राप्त करनेके लिए कितने घंटे रोज काम करना पड़ेगा? इस प्रश्नपर साम्यवादी लोगोंने काफी माथापच्ची की है, और

साधारणतः इस नतीजेपर पहुंचे हैं कि केवल चार-पांच घंटे रोजका काम काफी होगा। पर इसमें शर्त यही है कि सब आदमी काम करें। १८ वीं शताब्दीके अंतमें अमेरिकन नीतिज्ञ बेंजमिन फ्रैंकलिनने पांच घंटेका समय नियत किया था। और इस समय अगर सुख-सुविधाकी जरूरत बढ़ गयी है तो उत्पादनकी शक्ति और गति भी अधिक हो गयी है।

आगे कृषिके वर्णनमें हम बतायेंगे कि आदमी आजकल जिस प्रकार प्रायः आड़े-टेढ़े ढंगसे जुती हुई भूमिमें बीज फेंक देता है वैसा न करके यदि वह उचित ढंगसे खेती करे तो जमीनसे बहुत ज्यादा पैदा किया जा सकता है। पश्चिमी अमेरिकाके फार्मोंमें कोई-कोई तो ३०-३० वर्ग-मील के हैं, पर उनकी जमीन सभ्य देशोंकी खादसे तैयार की हुई जमीन की अपेक्षा हल्की है। उन बड़े फार्मोंमें एक एकड़ जमीनमें ८ से लगाकर १२ मनतक ही पैदा होता है, अर्थात् उनमें यूरोप और पूर्वीय अमेरिकाके फार्मोंसे आधी ही पैदावार होती है। फिर भी ऐसी मशीनोंकी कृपासे, जिनसे २ आदमी ही दिनभरमें ४ एकड़ भूमि जोत सकते हैं, एक वर्षमें १०० आदमी इतना अन्न उत्पन्न कर सकते हैं कि वह सालभरतक १०,००० आदमियोंका पेट भर सके।

तो उत्पत्तिके इसी हिसाबको प्रमाण मानते हुए सालभरका अन्न प्राप्त करनेके लिए एक आदमीका ३० घंटे, अथवा ५-५ घंटेके ६ अर्ध-दिन मेहनत करना काफी होगा। ५ व्यक्तियोंके परिवारके लिए अन्न प्राप्त करनेके वास्ते ३० अर्ध-दिनकी मेहनत काफी होगी।

आजकल वैज्ञानिक या उद्योग-प्रधान (Intensive) ढंगसे खेती करनेके जो फल प्राप्त हुए हैं उनसे हम यह भी सिद्ध करेंगे कि यदि हम अधिक उपज देनेवाले ढंगकी खेती करें तो एक पूरे परिवारके रोटी, मांस, शाक और बढ़िया फल प्राप्त करनेके लिए ६ अर्ध-दिनोंसे भी कम काम करना काफी होगा।

आजकल बड़े शहरोंमें श्रमिकोंके लिए जिस प्रकारके घर बनते हैं वैसे घर बनानेके लिए १४०० या १८०० (पांच-पांच घंटेके) अर्ध-दिनोंका काम काफी होगा। इंगलैंडके बड़े-बड़े शहरोंमें मजदूरोंके लिए

जैसे एक दूसरेसे सटे हुए छोटे-छोटे घर होते हैं वैसा एक मकान २५० पौंडमें बन जाता है। और चूंकि इस प्रकारके घरोंकी आयु कम-से-कम ५० साल होती है, इसलिए नतीजा यह निकलता है कि हरसाल २८ से ३६ अर्ध-दिनोंकी मेहनतसे ऐसा मकान तैयार हो सकता है जो जरूरी सामान, तन्दुरुस्ती और आराम, सब बातोंके लिहाजसे एक परिवारके रहनेलायक हो। पर उसी घरके किरायेमें मजदूर अपने मालिकको ७५ या १०० दिनकी कमाई नजर कर देता है।

और यह तो इंगलैंडकी आजकी स्थिति है, जब समाजका संगठन दोषपूर्ण है। बेल्जियममें मजदूरोंके घर इससे बहुत कम लागतमें बने हैं। इसलिए सब बातोंपर विचार करते हुए हम यह मान सकते हैं कि एक सुसंगठित समाजमें एक पूर्ण सुविधायुक्त घर प्राप्त करनेके लिए वर्षमें ३० या ४० अर्ध-दिनोंकी मेहनत काफी होगी।

अब रह जाता है कपड़ा। कपड़ेका ठीक-ठीक मूल्य निर्धारित करना असंभव-सा है, क्योंकि बहु-संख्यक बीचवाले लोगोंके मुनाफेका अंदाजा नहीं लगाया जा सकता। किसी कपड़ेको लीजिए। यदि हम उस सारे करका हिसाब लगाएं जो भूस्वामी, भेड़ोंके मालिक, ऊनके व्यापारी और उनके भी बीचवाले एजेंट, फिर रेलवे कंपनियां, मिल-मालिक, बुनने-वाले, तैयार कपड़ेके व्यापारी, विक्रेता और दलाल आदिने उसके प्रत्येक गजपर लगा रक्खा है, तो हमें मालूम होगा कि अपने पहननेकी एक-एक चीजपर हमें पूंजीवालोंके गिरोहको कितना पैसा देना पड़ता है। इसीलिए तो यह बताना पूर्णतया असंभव है कि जो ओवरकोट आप लंदनकी एक बड़ी दुकानसे ३ या ४ पौंडमें खरीदते हैं वह वास्तवमें कितने दिनके श्रमका कार्य है।

इतना तो निश्चय है कि आजकलके यंत्रोंसे बहुत अधिक माल सस्तेमें और शीघ्रतासे तैयार किया जा सकता है। इसे दिखानेके लिए एक-दो मिसालें ही काफी होंगी। संयुक्त राष्ट्र (अमेरिका)में सूती कपड़ेकी ७५१ मिलोंमें १,७५,००० पुरुष और स्त्रियां २,०३,३०,००,००० गज सूती माल तैयार करते है, और इसके अतिरिक्त बहुत-सा धागा भी

बनाते हैं। औसतन् ९॥ घंटेके ३०० दिनोंकी मेहनतसे १२००० गज अथवा १० घंटेकी मेहनतसे ४० गज सूती कपड़ा तैयार होता है। यदि यह मान लें कि एक परिवारकेलिए २०० गज कपड़ा एक वर्षमें चाहिए तो यह ५० घंटेका, अथवा ५-५ घंटेके १० अर्ध-दिनोंका काम हुआ। सूत-मिले ऊनी वस्त्र बुननेके लिए सूत और सीनेके लिए धागा इसके अलावा होगा।

संयुक्तराष्ट्रके केवल बुनाईके सरकारी आंकड़े बतलाते हैं कि १८७० में श्रमिक १३-१४ घंटे रोज काम करके वर्षमें १०,००० गज सफेद सूती कपड़ा बनालेते थे। सोलह वर्ष बाद (१८८६) में वे हफ्तेमें ५५ घंटे काम करके ही ३०,००० गज बुन लेते थे।

छपाई वाला सूती कपड़ा भी बुनाई और छपाई मिलाकर २६७० घंटेके कामसे वे ३२,००० गज तैयार कर लेते थे, अर्थात् १ घंटेमें १२ गज। इस प्रकार सफेद और छपे हुए २०० गज सूती कपड़ेके लिए सालमें १७ घंटेका परिश्रम काफी होगा। यह भी जान लेना आवश्यक है कि इन कारखानोंमें कच्चा माल प्रायः उसी अवस्थामें पहुंचता है जिस अवस्थामें वह खेतोंसे आता है, और माल तैयार होनेतककी सारी प्रक्रियाएं तथा परिवर्तन इन्हीं १७ घंटोंमें हो जाते हैं। पर इस २०० गज कपड़ेको दुकानदारसे खरीदनेमें एक अच्छा वेतन पानेवाले श्रमिकको कम-से-कम १० घंटेके १५ दिनोंका, अर्थात् १०० या १५० घंटेका श्रम खर्च करना पड़ता है। इंगलैंडके किसानको तो यह शौककी चीज उसे खरीदनेके लिए महीने सवा-महीने घोर परिश्रम करना पड़ेगा।

इस उदाहरणसे प्रकट है कि व्यवस्थित समाजमें हम वर्षमें ५० अर्ध-दिन काम करके आज-कलके सफेद पोश लोगोंसे अच्छा कपड़ा पहन सकते हैं।

इस हिसाबसे हमारे ५-५ घंटेके ६० अर्ध-दिन भूमिसे उपजनेवाली चीजें प्राप्त करनेमें, ४० अर्ध-दिन घर तैयार करनेमें और ५० अर्ध-दिन वस्त्रकी प्राप्तिमें लगे, जो कुल मिलाकर आधे ही वर्षका काम हुआ, क्योंकि छुट्टीके दिनोंको घटा देनेपर वर्ष ३०० श्रम-दिवसोंका ही होता है।

इसके बाद भी १५० अर्ध-दिनोंका श्रम बच रहता है, जो

अन्य आवश्यक वस्तुओं—शकर, मसाले, फरनीचर, सवारी आदिके वास्ते काममें लाया जा सकता है।

यह तो स्पष्ट ही है कि ये गणनाएं केवल करीब-करीब सही हैं। पर ये दूसरे प्रकारसे भी प्रमाणित की जा सकती हैं। जब हम यह हिसाब लगाते हैं कि सभ्य कहलानेवाले राष्ट्रोंमें कितने आदमी तो कुछ भी मेहनत नहीं करते, कितने लोग ऐसे हानिकर और अनावश्यक व्यवसायोंमें लगे हुए हैं जिनका नाश निश्चित है, और कितने निरे निरुपयोगी बिचुए हैं, तब हमें मालूम होता है कि प्रत्येक राष्ट्रमें सच्चे उत्पादक लोगोंकी संख्या दुगुनी हो सकती है। यदि १० आदमीकी जगह २० आदमी उपयोगी वस्तुएं उत्पन्न करनेमें लग जायं और समाज मानव-शक्तिके खर्चमें किफायत करने लगे तो उन २० आदमियोंको केवल ५ घंटे प्रतिदिन काम करना पड़ेगा और उत्पत्ति कम न होगी। अमीर घरानोंमें बीसियों नौकर रक्खे जाते हैं और शासन-प्रबंधमें आठ-दस प्रजाजन पीछे एक राज-कर्मचारी रक्खा जाता है। इससे जन-शक्तिका अपव्यय होता है। यह शक्ति राष्ट्रकी उत्पत्ति बढ़ानेमें लगायी जा सकती है। वास्तवमें जितना माल आज तैयार हो रहा है उतना तो, यदि सब आदमी रोज तीन या चार घंटे काम करें, तो भी तैयार हो सकता है।

इन सारी बातोंपर विचार करनेके बाद हम नीचे-लिखे नतीजे पर पहुंचते हैं। कल्पना कीजिए कि एक ऐसा समाज है जिसमें कई लाख जन हैं और वे कृषि और विविध उद्योग-धंधेंमें लगे हुए हैं। मान लीजिए कि इस समाजमें सारे बच्चे अपने हाथों और अपने मस्तिष्कसे काम करना सीखते हैं, और सिवाय उन स्त्रियोंके जो अपने बच्चोंके शिक्षणमें लगी रहती हैं, बाकी सब स्त्री-पुरुष बीस-बाईस वर्षसे लेकर पैंतालीस-पचास वर्षकी उम्रतक, ५ घंटे प्रति-दिन काम करते हैं। वे इस नगरमें आवश्यक समझे जानेवाले धंधेंमें से किसी एकको खुद पसंद कर लेते हैं। ऐसा समाज अपने सारे सदस्योंको खुशहाल रखनेका वादा कर सकता है, और वह खुशहाली आजकलके मध्यमवर्गकी सुख-समृद्धिसे अधिक ठोस होगी। इसके सिवाय इस समाजके प्रत्येक श्रमिक

के पास कम-से-कम ५ घंटे बच रहेंगे। अपने इस समयको वह विज्ञान, कला और अपनी निजी आवश्यकताओंपर खर्च कर सकेगा, जो आज-कल आवश्यकताकी कोटिमें नहीं आते, पर जब मनुष्यकी उत्पादन-शक्ति बढ़ जायगी और जब वे दुष्प्राप्य या विलासकी वस्तु न समझे जायंगे तब सम्भवतः आवश्यक वस्तुओंकी श्रेणीमें आ जायंगे।

: ६ :

विलास-सामग्रीकी आवश्यकता

१

मनुष्य ऐसा प्राणी नहीं है जिसके जीवनका एकमात्र उद्देश्य खाना, पीना और घर बनाकर रहना ही हो। ज्यों ही उसकी भौतिक आवश्यकताएं पूरी हो जायंगी, दूसरी आवश्यकताएं, जो साधारणतः कलात्मक कही जा सकती हैं, उसके आगे आ खड़ी होंगी। ये आवश्यकताएं अनेक प्रकारकी होंगी और व्यक्ति-व्यक्तिके लिए भिन्न-भिन्न होंगी। समाज जितना ही अधिक सभ्य होगा, व्यक्तित्व उतना ही अधिक विकसित होगा और आकांक्षाएं भी उतनी ही अधिक विभिन्न होंगी।

वर्तमान अवस्थामें भी हम देखते हैं कि स्त्रियां और पुरुष छोटी-छोटी चीजोंके लिए, किसी विशेष इच्छाकी पूर्तिके लिए या किसी मानसिक या भौतिक आनंद की प्राप्तिके लिए, आवश्यक वस्तुओंका भी त्याग कर देते हैं। एक धर्मात्मा या त्यागी व्यक्ति विलास-वस्तुओंकी आकांक्षाको बुरा बता सकता है, पर इन छोटी-मोटी चीजों या बातोंसे ही तो जीवनकी एक-रसता भंग होती है और वह सरस बनता है। जिस जीवनमें इतनी बेगार और इतने क्लेश हैं उसमें यदि रोजके कामके अलावा मनुष्यको अपनी व्यक्तिगत रुचियोंके अनुसार कुछ भी आनंद न मिल सके तो क्या वह जीवन धारण-योग्य होगा?

हम समाजवादी क्रांति इसलिए चाहते हैं कि उसका उद्देश्य सर्वप्रथम तो सबको रोटी देना है। उसका उद्देश्य उस घृणित समाजको बदल देना है जिसमें हर समय अच्छे-अच्छे कारीगर किसी लुटेरे कारखानेदारके यहां काम पानेके लिए मारे-मारे फिरते हैं, जिसमें कुनबे-का कुनबा सूखी रोटियोंपर गुजर करता है, जिसमें स्त्रियां और बच्चे रातमें

इधर-उधर आश्रयके अभावमें भटकते हैं, और जिसमे पुरुषो, स्त्रियों और बालकोंकी कोई खोज-खबर लेनेवाला नही, जिसमे उनको भोजन भी नहीं मिलता। इन अन्यायोंका अंत करनेके लिए ही तो हम विद्रोह करते हैं।

परंतु हम क्रांतिसे केवल इतनी ही आशाएं नहीं रखते। हम देखते हैं कि एक मजदूर है जो बड़ी मुश्किलसे किसी तरह अपना गुजारा कर पाता है। उसे मनुष्यकी शक्तिमे जो उच्चतम आनंदकी वस्तुएं हैं—विज्ञान और वैज्ञानिक आविष्कार, कला और कला-सृष्टि—उन्हें भुला ही देना पड़ता है। ये चीजें उस बेचारेको मिल ही कहां सकती हैं ? जो आनंद आज थोड़ेसे लोगोंके लिए ही है वह हम सबको मिल सके, प्रत्येक व्यक्ति अपनी मानसिक योग्यता बढ़ा सके, और उसके लिए उसको मौका मिल सके, इसीलिए तो समाजवादी क्रांतिको सबके भोजनकी व्यवस्था करनी पड़ेगी। पेट भर चुकनेके बाद अवकाशकी प्राप्ति ही मुख्य साध्य है।

आज-कल लाखों आदमियोंको रोटी, कपड़े, ईंधन और आश्रयका अभाव है। ऐसी अवस्थामें भोग-विलास निस्संदेह अपराध है। उसे प्राप्त करनेके लिए मजदूरोंके बच्चोंको भूखों मरना पड़ता है। पर जिस समाजमें सबको भर-पेट खाना और रहनेको घर मिलता हो उसमें तो जिन चीजोंको आज हम विलास-सामग्री समझते हैं उनकी और भी अधिक जरूरत महसूस होगी। और सब आदमी एकसे नहीं हैं और न हो सकते हैं। विविध प्रकार की रुचियां और आवश्यकताएं होना तो मानव-प्रगतिकी सबसे बड़ी गारंटी है। इसलिए ऐसे स्त्री-पुरुष तो सदा रहेंगे और उनका रहना अच्छा भी है जिनकी इच्छाएं किसी विशेष दिशामें साधारण लोगोंसे आगे जाती हों।

दूरबीनकी जरूरत हर आदमीको नहीं हुआ करती। चाहे शिक्षा सर्वसाधारणमें कितनी ही क्यों न फैल जाय, ऐसे लोग तो रहते ही हैं जो आकाशके नक्षत्रोंको दूरबीनसे देखना उतना पसंद नहीं करते जितना सूक्ष्मदर्शक यंत्रसे सूक्ष्म वस्तुओंका निरीक्षण करना। किसीको मूर्तियां अच्छी लगती हैं, किसीको चित्र। एक आदमी अच्छे हारमो-

नियमकी ही चाह रखता है, दूसरेको सितारसे प्रसन्नता होती है। रुचियां भिन्न-भिन्न हैं, पर कलाकी चाह सबमें मौजूद है। आज-कलके अभागे पूंजीवादी समाजमें आदमी कलाकी अपनी आवश्यकताएं तबतक पूरी नहीं कर सकता जबतक वह किसी बड़ी संपत्तिका उत्तराधिकारी न हो जाय, या कड़ी मेहनत करके डाक्टरी, वकालत आदि अच्छा धंधा करने लायक काफी दिमागी पूंजी इकट्ठी न करले। फिर भी वह यह आशा लगाये रहता है कि मैं किसी-न-किसी दिन अपनी रुचियोंको थोड़ा-बहुत तृप्त कर ही लूंगा। इसी कारण जब उसे मालूम होता है कि आदर्शवादी साम्यवादी समितियोंने भौतिक सुखको ही अपना एकमात्र लक्ष्य बना रक्खा है तब वह उन्हें कोसता है। वह हमसे कहता है—"शायद अपने साम्यवादी भंडारमें तुम सबके लिए रोटियां रक्खोगे। परंतु तुम्हारे पास सुंदर चित्र, दृष्टि सहायक यंत्र, बढ़िया फरनीचर, कलापूर्ण आभूषण आदि, अर्थात् मनुष्योंकी भिन्न-भिन्न अनंत रुचियोंको तृप्त करनेवाली विविध वस्तुएं न होंगी। पंचायती समाजसे तो रोटी और तरकारी तथा नगरकी भली स्त्रियोंतकके पहननेको, सिर्फ मोटी खादी ही मिल सकेगी। तुम इसके अलावा और सब चीजोंका मिलना बंद कर दोगे।"

सब साम्यवादी व्यवस्थाओंको ऐसी शंकाओंका समाधान करना ही पड़ेगा। अमेरिकन मरुभूमियोंमें स्थापित होनेवाले नये समाजोंके संस्थापक इन शंकाओंको नहीं समझ पाये थे। उनका खयाल था कि समुदायके सब व्यक्तियोंके पहनने-लायक काफी कपड़ा प्राप्त हो जाय और एक ऐसा संगीत-गृह तैयार हो जाय जिसमें सब 'भाई' गा-बजा सकें या नाटक खेल सकें; बस इतना काफी है। और अधिक क्या चाहिए? पर वे इस बातको भूल गये कि कलाकी प्रवृत्ति तो किसानमें भी उतनी ही पायी जाती है जितनी शहरातीमें। समाज सबके जीवनकी सामान्य आवश्यकताओंका प्रबन्ध किया, व्यक्तिवाद बढ़ानेवाली शिक्षा-प्रणालीका दमन किया, और बाइबिलके सिवाय और सब विषयोंका पढ़ना बन्द कराया। पर सब व्यर्थ हुआ। व्यक्तियोंमें भिन्न-

भिन्न रुचियां उत्पन्न हो गयीं और उनसे व्यापक असंतोष पैदा हो गया। जब किसी व्यक्तिने एक-आध पियानो या वैज्ञानिक यंत्र खरीदना चाहा तभी झगड़ा खड़ा होगया और प्रगतिके मूल तत्त्व शिथिल पड़ गये। ऐसे समाजका अस्तित्व तभी रह सकता था जब वह सारी व्यक्तिगत भावना, सारी कला-प्रवृत्ति और सारे विकासको कुचल देता।

क्या अराजक समाज भी उसी दिशाकी ओर बढ़ेगा? इसका स्पष्ट उत्तर है, 'नहीं'। वह समझता है कि आधिभौतिक जीवनके लिए आवश्यक सामग्री उत्पन्न करनेके साथ-साथ उसे मनुष्यकी सारी मानसिक वृत्तियोंको तृप्त करनेका प्रयत्न भी करना पड़ेगा। शरीरकी आवश्यकताएं पूरी करनेके साथ-साथ दिल और दिमागकी भूख भी बुझानी होगी।

२

"जिस समाजमें सबके भोजनकी उचित व्यवस्था हो चुकी हो उस का कोई आदमी यदि चाइना-सिल्क या मखमलका कोट पानेकी इच्छा करे तो उसकी तृप्तिके लिए क्या उपाय किया जायगा?" जब हमें सब तरफ़ फैली हुई दरिद्रता और पीड़ाकी अथाह खाईका खयाल आता है और जब हम मजदूरी ढूंढते फिरनेवाले श्रमिकोंका हृदय-विदारक चीत्कार सुनते हैं, तब तो इस प्रश्नपर विचार करनेतककी इच्छा नहीं होती। हम इसका यह उत्तर देना चाहते हैं कि पहले तो हमें रोटीका ही पक्का उपाय कर लेना चाहिए, फिर चाइना-सिल्क या मखमलकी बात सोची जायगी।

पर हम यह मानते हैं कि भोजनके अतिरिक्त मनुष्यकी और आकांक्षाएं भी होती हैं। अराजकवादकी आधार-शिला इसी बातपर है कि वह मनुष्यकी समस्त शक्तियों, समस्त आकांक्षाओं और मनोवृत्तियोंका ध्यान रखता है, एकको भी भुलाता नहीं। इसलिए संक्षेपमें हम यह बतायेंगे कि किस उपायसे मनुष्य अपनी मानसिक और कला-विषयक आवश्यकताओंकी पूर्ति कर सकता है।

यह बात हम पहले ही कह चुके हैं कि ४५-५० वर्षकी उम्रतक रोज ४ या ५ घंटे काम करके मनुष्य आसानीसे उन सब वस्तुओंको पा सकता है जिनसे समाज सुख-सुविधासे रह सके।

मगर मेहनत मजदूरी करनेवालेका दैनिक कार्य ५ ही घंटेका नहीं होता। वह तो सालके ३०० दिनोंमें १० घंटे रोजका होता है, और यही हाल जिंदगीभर रहता है। इसमें शक नहीं कि अगर कोई आदमी किसी मशीनमें जुता रहे तो उसका स्वास्थ्य शीघ्र गिर जायगा और बुद्धि मन्द पड़ जायगी। पर जब उसे कई तरहके काम करनेकी स्वतंत्रता हो, और विशेषतः जब वह शारीरिक कामके बाद मानसिक काम बदल-बदल-कर कर सके, तब तो वह बिना थके बल्कि आनंदके साथ रोज १० या १२ घंटे भी काम कर सकेगा। फलतः जो मनुष्य जीवित रहनेके लिए आवश्यक ४-५ घंटे श्रम कर चुका हो उसके पास ५ या ६ घंटेका समय बच रहेगा। वह इसका उपयोग अपनी रुचिकी तृप्तिके लिए करेगा। यदि वह दूसरोंके साथ मिलकर काम करेगा तो इस ५-६ घंटे रोजके कामसे वह अपने सब शौक़ पूरा कर सकेगा।

सार्वजनिक उत्पादनमें भाग लेना मनुष्यका सामाजिक कर्तव्य है। अतः पहले तो वह खेत, कारखाने आदि में जाकर अपने हिस्सेका काम करके उसे पूरा करेगा। इसके बाद वह अपना बाकी आधा दिन, आधा हफ्ता या आधा साल अपनी कला या विज्ञानकी आवश्यकताएँ या अपने शौक पूरा करनेमें लगायेगा।

उस समय हजारों संस्थाएं प्रत्येक रुचि और प्रवृत्तिकी तृप्तिके लिए पैदा हो जायंगी।

उदाहरणके लिए, कुछ लोग अपने अवकाशके समयको साहित्यमें लगायेंगे। वे ऐसे संघ बना लेंगे जिनमे लेखक, कंपोजीटर, मुद्रक, ब्लाक और नक़्शे बनानेवाले आदि होंगे, और जिनका सामान्य उद्देश्य होगा अपने प्रिय विचारोंका प्रचार करना।

आजकल तो लेखक इस बातको जाननेकी शायद ही कोशिश करता है कि छापाखाना होता कैसा है। वह इतना ही जानता है कि एक आदमी

है जिससे वह कुछ आने रोज देकर अपनी किताब छापनेका काम ले सकता है। यदि कंपोजीटर टाइपके सीसेके विषसे बीमार हो जाय या मशीनपर से कागज उठानेवाला लड़का रक्तहीनतासे मर जाय, तो उसकी बलासे ? उसका काम करनेको लिए दूसरे अभागे बहुतेरे मिल जायंगे।

पर जब एक भी भूखों-मरता आदमी न होगा जो थोड़ेसे पैसेपर अपना श्रम बेचनेको तैयार हो, जब आजका शोषित श्रमिक शिक्षित जन होगा, और जब उसके पास भी अपने निजके विचार होंगे जिन्हें लिखकर दूसरोंतक पहुंचाये, तो मजबूरन लेखकों और वैज्ञानिकोंको आपसमें और छापेखानेवालोंसे भी सहयोग करना होगा, जिसमें उनकी गद्य-पद्य रच-नाएं प्रकाशित हो सकें।

जबतक लोग मोटे कपड़े और शारीरिक श्रमको नीचे दर्जेकी चीज समझते रहेंगे तबतक तो उन्हें इस बातपर आश्चर्य होगा कि एक लेखक खुद ही अपनी किताब कंपोज करे। वे सोचेंगे कि क्या उसके मनोरंजन के लिए व्यायामशाला या खेल-कूद नहीं हैं ? पर जब शारीरिक श्रमके प्रति अनादर-बुद्धि नष्ट हो जायगी, जब सबको अपने हाथों काम करना पड़ेगा, क्योंकि उनका काम करनेवाला दूसरा कोई न होगा, तब लेखक और उनके प्रशंसक लोग शीघ्र ही कंपोजिंग स्टिक और टाइप पकड़ना सीख जायंगे। तब छपनेवाली किताबके प्रशंसकोंको मालूम होगा कि आपसमें मिलकर टाइप जोड़ने, पेज बांधने और अछूती पुस्तकको प्रेससे लेकर पढ़नेमें क्या आनंद होता है। आज-कलकी सुन्दर-सुन्दर मशीनें तो सुबहसे राततक उनपर बैठनेवाले लड़कोंके लिए यातनाके साधन मात्र हैं, पर उस समय जो लोग अपने प्रिय लेखकके विचारोंको प्रकाशित करनेके लिए उनसे काम लेंगे उनके लिए तो वे आनंदकी वस्तु हो जायंगी।

क्या इससे साहित्यको हानि पहुंचेगी ? क्या अपनी रचनाके लिए बाहर जाकर काम करने या उसकी छपाईमें हाथ बटा देनेसे कविका कवित्व कुछ घट जायगा ? एक उपन्यासकार जंगल या कारखानेमें, सड़क

या रेल-लाइन बनानेमें, दूसरे आदमियोंके साथ मिलकर काम करे तो क्या वह मानव-प्रकृतिके अपने ज्ञानको भूल जायगा ? इन प्रश्नोंके दो उत्तर हो ही नहीं सकते।

संभव है कि कुछ पुस्तकें देखनेमें बहुत बड़ी न हों, पर तब थोड़े ही पृष्ठोंमें अधिक सामग्री रहेगी। सम्भव है कि रद्दी कागज कुछ कम छप पाये, पर जो कुछ छपेगा वह अधिक ध्यान देकर पढ़ा जायगा और अधिक आदर प्राप्त करेगा। उन पुस्तकोंके पाठक आजसे अधिक और अधिक शिक्षित और उसका मूल्य आंकनेके अधिक अधिकारी होंगे।

इसके अतिरिक्त छपाईकी कला तो अभी बचपनमें ही है। उसमें गूटेनबर्गके* कालके पश्चात् बहुत ही थोड़ी उन्नति होपायी है। जितना दस मिनिटमें लिख लिया जाता है उसे कंपोज करनेमें दो घंटे लग जाते हैं। परंतु विचारोंको और जल्दी छाप लेने के उपाय ढूंढ़े जा रहे हैं और ढूंढ़ लिये जायंगे।†

कितनी शोचनीय बात है कि लेखक अपनी पुस्तकोंकी छपाईके काममें स्वयं हाथ न बटाये! ऐसा न होता तो अबतक छपाईकी कलाने न जाने कितनी उन्नति कर ली होती! सत्रहवीं शताब्दीकी तरह आज हमें हाथसे उठाये जानेवाले टाइपोंसे ही काम न चलाना पड़ता।

२

सभी लोग आवश्यक वस्तुओंके उत्पादक हों, सभी विज्ञान और कलाकी वृद्धि करने योग्य शिक्षा पाये हुए हों, सबके पास इसके लिए अवकाश भी हो, और फिर वे शारीरिक श्रममें अपना-अपना हिस्सा देकर अपनी पसंदकी पुस्तकोंके प्रकाशनके लिए सहयोग करें—क्या ऐसे समाज की कल्पना स्वप्न मात्र है ? इस समय भी विद्वानों, साहित्यिकों तथा अन्य प्रकारके व्यक्तियोंकी सैकड़ों समितियां या सभाएं हैं। और ये समितियां या सभाएं हैं क्या ? वे ज्ञानकी भिन्न-भिन्न शाखाओंमें दिलचस्पी रखने-

---

* मुद्रण-कलाका प्रसिद्ध जर्मन आविष्कारक।

† अधिक शीघ्रतासे कंपोज करने और छापनेके उपाय अब निकल चुके हैं।

वाले तथा अपने-अपने ग्रंथ प्रकाशित करनेके लिए सम्मिलित होनेवाले लोगोंके स्वेच्छासे बनाये हुए अलग-अलग समुदाय हैं। इन संस्थाओंके सामयिक पत्रोंमें लेख लिखनेवालोंको पुरस्कार नहीं मिलता, और इन सामयिक पत्रोंकी केवल थोड़ी-सी ही प्रतियां विक्रीके लिए होती हैं। उनकी प्रतियां संसारमें सब स्थानोंपर उन दूसरी संस्थाओंको बिना मूल्य भेजी जाती हैं जो उन्हीं ज्ञान-शाखाओंकी वृद्धिमे लगी हुई हैं। ऐसे पत्रमें संस्थाका एक सदस्य समालोचन-स्तंभमें अपने निष्कर्षोंके संबंधमें एक पृष्ठका नोट दे सकता है। दूसरा, जिसने वर्षोंतक किसी विषयका अध्ययन किया है, उसपर अपना ग्रथ प्रकाशित करा सकता है। अन्य सदस्य और आगे अन्वेषण करते हैं और उसकी आलोचनाओं से अपना अध्ययन प्रारंभ करते हैं। पर इस सबसे कोई अंतर नहीं पड़ता। ये लेखक और पाठक अपनी सामान्य रुचिके ग्रंथोंके प्रकाशनके लिए संगठित हुए हैं।

आजकल तो छपाईके लिए जैसे लेखकको वैसे समितिको भी ऐसे छापेखानेकी शरण लेनी पड़ती है जहां छपाईके लिए मजदूर लगे रहते हैं। वर्तमान समयमें जो लोग साहित्यिक सभाओंसे संबंध रखते हैं वे शारीरिक श्रमसे घृणा करते हैं, क्योंकि उस श्रमकी अवस्था आज बहुत ही बुरी हो रही है। परंतु जो समाज अपने सारे सदस्योंको उदार, दार्शनिक और वैज्ञानिक शिक्षा देगा वह तो शारीरिक श्रमको इस ढंगसे व्यवस्थित करेगा जिससे वह मानव जातिके गर्वकी वस्तु बन जाय। उस समाजकी साहित्यिक सभाएं और विद्वत्परिषदें अन्वेषकों, विज्ञान-प्रेमियों और मजदूरोंके संघ होंगी। वे सब लोग शारीरिक-श्रमका कोई धंधा भी जानते होंगे और विज्ञानमें दिलचस्पी भी रखते होंगे।

मान लीजिए, एक संस्था भूगर्भ-विद्याका अध्ययन करती है। तो उस संस्थाके सभी लोग पृथ्वीकी परतोंका अन्वेषण करनेमें योग देंगे। अन्वेषण-कार्यमें आजकल जहां सौ विद्वान लगते हैं उस समय वहां दस हजार विद्वान लग जायंगे और जितना काम हम बीस वर्षोंमें करते हैं उससे अधिक कार्य वे एक वर्षमें कर दिखायेंगे। और जब उनके ग्रंथ

छपने लगेंगे तो विविध काम जाननेवाले दस हजार स्त्री-पुरुष नक्शे बनाने, डिजाइन खोदने, कंपोज और छपाई करनेके लिए तैयार रहेंगे। अपने अवकाशके समयको वे बड़ी प्रसन्नताके साथ गरमीमें बाहर जाकर भौगोलिक अन्वेषण करने या जाड़ेमें घरमें बैठकर काम करनेमें लगायेंगे। और जब उनके ग्रंथ निकलेंगे तो उनके केवल सौ पाठक न होंगे, किंतु अपने शामिल काममें दिलचस्पी रखनेवाले दस हजार पाठक मिल जायंगे।

आज भी इस दिशामें प्रगति हो रही है। जब इंगलैंडको अंग्रेजी भाषाके एक सर्वांगपूर्ण कोशकी आवश्यकता हुई तो इस कार्यके लिए एक साहित्य-महारथीके जन्मकी प्रतीक्षा नहीं की गयी। स्वयं-सेवकोंके लिए अपील निकाली गयी और एक हजार आदमियोंने अपनी सेवाएं अर्पण कर दीं। वे अपने आप बिना कुछ लिये पुस्तकोंमें से एक-एक बात ढूंढ़ निकालने, नोट लिखने और जो काम एक आदमी अपने पूरे जीवन-कालमें समाप्त न कर सकता था उसे थोड़े ही वर्षोंमें पूरा कर डालनेमें जुट गये। मानव-ज्ञानकी प्रत्येक शाखामें यही प्रवृत्ति काम कर रही है। यदि हम यह न समझ पायें कि वैयक्तिक कार्यकी जगहपर अब सहयोग-वाद आरहा है और सहयोगवादके इन प्रयोगोंमें ही आनेवाला युग अपने स्वरूपकी झलक दे रहा है, तो समझना चाहिए कि मनुष्य-जातिके विषयमें हमारा ज्ञान बहुत परिमित है।

इस कोशको सच्चे अर्थमें सम्मिलित कार्य बनानेके लिए भी यह आवश्यक होता कि कितने ही अवैतनिक लेखक, मुद्रक और संशोधक मिलकर काम करते। समाजवादी पत्रोंने इस दिशामें कुछ काम किया भी है। उससे हमें शारीरिक और दिमागी कामके मिलकर किये जानेके उदाहरण मिलते हैं। हमारे समाचारपत्रोंमें ऐसा अकसर होता है कि समाजवादी लेखक खुद ही अपना लेख कंपोज करता है। अवश्य ही ऐसे उदाहरण कम हैं, पर उनसे इतना तो प्रकट होता ही कि विकास-धाराका बहाव किस ओरको है।

ये प्रयत्न स्वाधीनताका मार्ग दिखाते हैं। भविष्यमें जब किसी आदमीको कोई कामकी बात कहनेको होगी—कोई ऐसा संदेश देना होगा

जो उसकी शतीके विचारोंसे भी आगे जाता हो—तो उसे किसी संपादक (प्रकाशक ?)की तलाश न करनी होगी जो उसे आवश्यक पूंजी उधार दे। वह छपाईका काम जाननेवाले कुछ साथी ढूंढ़ लेगा जो उसके नये ग्रंथके विचारोंको पसंद करते होंगे, और फिर सब मिलकर नयी पुस्तक या पत्रिका प्रकाशित कर डालेंगे।

फिर साहित्य-सेवा और अखबार-नवीसी पैसा कमाने या दूसरोंपर अपना बोझ डालकर जीवित रहनेका धंधा न रहेंगी। वर्तमान समयमें तो साहित्य उन लोगोंका गुलाम है जो पहले उसके रक्षक थे पर अब उससे स्वार्थ-साधन करते हैं। साहित्य उस जनताका भी दास है जो उसका उतना ही ज्यादा दाम चुकाती है जितना वह रद्दी होता है, या जितना ही वह अधिकांश जनताकी कुरुचिके अनुसार अपना रूप बना लेता है। पर साहित्य और अखबार-नवीसीकी भीतरी हालतको जाननेवाला क्या कोई ऐसा व्यक्ति है जो उनको इस बंधनसे मुक्त देखनेके लिए बेचैन न हो?

साहित्य और विज्ञान जब पैसेकी गुलामीसे छूट जायंगे और जब केवल उनके प्रेमी ही, उनके प्रेमियोंके लिए, उनकी रचना-साधना करेंगे, तभी वे मनुष्य-जातिकी उन्नतिमें वह सहायता दे सकेंगे जो उनसे मिलनी चाहिए।

४

साहित्य, विज्ञान और कलाकी साधना स्वाधीन जनोंके द्वारा ही होनी चाहिए। तभी राज्य और पूंजीके जुए और मध्यमवर्गके गला घोंटनेवाले प्रभावसे वे अपना छुटकारा करा पायेंगे।

आज-कलके वैज्ञानिकके पास ऐसे कौनसे साधन हैं जिनसे वह अपनी पसंदके किसी विषयमें अनुसंधान कर सके? क्या वह राज्यसे सहायता मांगे? राज्यकी सहायता तो सौ उम्मीदवारोंमें से एकको ही मिलती है, और वह भी उसे जिससे पुरानी लकीर पीटते रहनेकी आशा की जाती हो। हमें स्मरण रखना चाहिए कि फ्रांसकी 'एकेडेमी

ऑव साइंसेज़' (विज्ञान-परिषद) ने डार्विनके मतका खंडन किया था; 'एकेडेमी आव सेंटपीटर्सबर्ग' ने मेंडेलीफका तिरस्कार किया और लंदनकी 'रायल सोसायटी'ने जूलके उस लेखको 'अवैज्ञानिक' कहकर उसे प्रकाशित करनेसे इनकार कर दिया जिसमें उसने ताप-शक्तिके व्यय और उससे होनेवाले कार्यका अनुपात निकाला था। *

इसी कारण तो विज्ञानमें क्रांति कर देनेवाले सारे आविष्कार, सारे बड़े अन्वेषण विज्ञान-परिषदों और विश्वविद्यालयोंसे बाहर ही हुए हैं, और ऐसे लोगोंके द्वारा हुए जिनके पास या तो डार्विन और लायलकी तरह इतना पैसा था कि स्वतंत्र रह सकें, अथवा जिन्होंने दरिद्रतामें और प्रायः बड़े कष्टमें रहते हुए अपना स्वास्थ्य नष्ट कर डाला, जिनका बहुत-सा समय प्रयोगशालाके अभावमें खराब हो गया, जो अनुसंधान चलानेके लिए आवश्यक यंत्र-साधन या पुस्तक भी न जुटा सकते थे, फिर भी निराशासे जूझते हुए अपनी साधनामें लगे रहे, और अकसर अपना लक्ष्य प्राप्त करनेके पहले ही इस लोकसे विदा हो गये। उनके नाम कहांतक गिनाये जायं।

राज्यसे सहायता मिलनेकी प्रणाली इतनी बुरी है कि विज्ञानने सदा अपनेको उससे मुक्त करनेका ही प्रयत्न किया है। यही कारण है कि यूरोप-अमेरिकामें ऐसी हजारों साहित्य-परिषदें और विज्ञान-समितियां है जो लोगोंकी स्वेच्छाकृत सहायतासे चल रही हैं। इनमें से कुछ समितियां तो इतनी बढ़ी हुई हैं कि राज्यसे सहायता पानेवाली सारी समितियोंके साधन और करोड़पतियोंके सारे धनसे भी उनकी निधियां खरीदी नहीं जा सकतीं। कोई भी सरकारी संस्था इतनी धनाढ्य नहीं है जितनी लंदनकी 'जूलाजिकल सोसायटी' (प्राणिशास्त्र-परिषद्), और वह चंदेसे ही चलती है।

लंदनकी 'जूलाजिकल सोसायटी'के बागमें पशु तो हजारोंकी संख्यामें हैं, पर वह उन जानवरोंको खरीदती नहीं। दूसरी समितियां और दुनिया भरके संग्रह करनेवाले लोग उन्हें भेज देते हैं। कभी बंबईकी 'जूलाजिकल

* यह बात हमें प्लेफेयरसे मालूम हुई जिसने जूलके मरनेपर इसे प्रकट किया।

सोसायटी' उपहार-स्वरूप एक हाथी भेज देती है, कभी मिश्रके प्रकृति-विज्ञानका अध्ययन करनेवाले एक हिपोपोटेमस या गैंडा भेज देते हैं। ये महान् उपहार—पक्षी, रेंगनेवाले प्राणी (Reptiles), कीड़े-मकोड़े आदि—संसारके सब स्थानोंसे प्रति-दिन बड़ी संख्यामें आते रहते हैं। इनमें अकसर ऐसे जन्तु भी होते हैं जिन्हें संसारका सारा खजाना भी खरीद नहीं सकता। इसी प्रकार एक पर्यटक अपनी जानको जोखिममें डालकर किसी जानवरको पकड़ता है और उसे बच्चेकी तरह प्यार करने लगता है। वह उसे उस सोसायटीको भेंट करता है, क्योंकि उसे मालूम है कि वहां उसकी ठीक तौरसे देख-भाल की जायगी। उस महान् संस्थामें आनेवाले असंख्य दर्शकोंके प्रवेश-शुल्कसे ही उसका खर्च चल जाता है।

लंदनकी 'जूलाजिकल सोसायटी' और इस तरहकी अन्य संस्थाओंमें कोई कमी है तो यह कि सदस्य-शुल्क श्रमके रूपमें नहीं लिया जा सकता। इस बड़ी संस्थाके जानवरोंकी देख-रेख करनेवाले और बहुसंख्यक नौकर इसके सदस्य नहीं माने जाते। और अनेक सदस्य तो ऐसे भी हैं जो केवल अपने कार्डोंपर F. Z. S (फेलो आव दि जूलाजिकल सोसायटी) लिखनेके लिए ही इस संस्थाके सदस्य बने हैं। संक्षेपमें कह सकते हैं कि सहयोग और अधिक पूर्ण होना चाहिए।

जो बात हमने वैज्ञानिकोंके बारेमें कही है वही आविष्कार करने वालोंके विषयमें भी कह सकते हैं। प्रायः सभी बड़े-बड़े आविष्कारोंके लिए उन्हें करनेवालोंको कितना कष्ट उठाना पड़ा है, यह कौन नहीं जानता? कितनी ही रातें बिना सोये बीत गयीं, बीबी-बच्चे भूखे रह गये, प्रयोगोंके लिए औजार और सामान भी न जुड़ सका। यह है प्रायः उन सब लोगोंका इतिहास जिन्होंने उद्योग-धंधोंको समृद्ध करने और हमारी सभ्यताका गौरव बढ़ानेवाले आविष्कार किये!

पर जिस परिस्थितिको सभी लोग बुरा बताते हैं उसे बदलनेके लिए हमें करना क्या चाहिए? ईजादोंको पेटेंट करानेका तरीका भी आजमा लिया गया और जो परिणाम हुआ वह हमें मालूम है। आविष्कारक

कुछ रुपये लेकर अपना पेटेंट बेच देता है, और उसपर पूंजी लगानेवाला अकसर उससे करोड़ों कमा लेता है। पेटेंट करानेवाला अन्य सब आविष्कारकोंसे अलग भी हो जाता है। उसे अपना आविष्कार गुप्त रखना पड़ता है और इससे वह आविष्कार अधूरा रह जाता है। पर कभी-कभी तो साधारण आदमीकी किसी सीधी-सी सूझसे ही वह आविष्कार समृद्ध हो सकता और कामकी चीज बन सकता है। उद्योग-धंधोंकी उन्नतिमें जिस तरह राज्यके सब प्रकारके नियंत्रण रुकावट डालते हैं उसी तरह पेटेंट-प्रणालीसे भी रुकावट होती है। विचार पेटेंट किये जानेकी चीज नहीं हैं। इसलिए सिद्धांतकी दृष्टिसे पेटेंट प्रथा घोर अन्याय है, और व्यवहारमें उसका परिणाम यह होता है कि आविष्कारकी शीघ्र उन्नति होनेमें एक भारी बाधा खड़ी हो जाती है।

खोज-आविष्कारकी प्रवृत्ति बढ़ानेके लिए जिस बातकी सबसे पहले, आवश्यकता है वह है, विचारोंकी जाग्रति, बड़ी-बड़ी कल्पनाएं करने का साहस। परंतु आजकलकी हमारी सारी शिक्षा इन्हीको निर्जीव बना देती है। वैज्ञानिक शिक्षाका विस्तार होनेसे अन्वेषकोंकी संख्या सौगुनी हो जायगी। सभी बड़े-बड़े आविष्कारकोंको इस विश्वास और आशासे ही स्फूर्ति मिली है कि उनके कार्यसे मानव-समाज एक कदम आगे बढ़ेगा, उसकी भलाई होगी। समाजवादी क्रांतिसे ही विचारकी यह स्फूर्ति, यह साहस, यह ज्ञान, और सबके कल्याणके लिए कार्य करनेका यह विश्वास मिल सकता है।

उस समय हमारे पास बड़ी-बड़ी संस्थाएं होंगी, उनमें मोटर-(चालक) शक्ति और सब प्रकारके औजार होंगे, बड़ी-बड़ी औद्योगिक प्रयोग-शालाएं होंगी जो सब अन्वेषकोंके लिए खुली रहेंगी। समाजके प्रति अपने कर्त्तव्यका पालन कर चुकनेके बाद लोग वहां अपनी कल्पनाओं को कार्य-रूप दे सकेंगे। उस समय हमारे पास बड़े-बड़े यंत्रालय होंगे, जहां लोग अपनी फ़ुरसतके पांच-छः घंटे बिता सकेंगे। वहां उन्हें दूसरे साथी भी मिलेंगे जो किसी गहन विषयका अध्ययन करने आये होंगे और जो किसी दूसरे उद्योग-धंधेके विशेषज्ञ होंगे। वे एक-दूसरेकी सहा-

यता तथा ज्ञान-वृद्धि कर सकेंगे। उनके विचारों और अनुभवोंके संघर्ष से सबकी समस्या हल हो जायगी। और यह कोई स्वप्नकी-सी बात नहीं है। पीटर्सबर्गमें 'सोलेनोय गोरोडोक' नामकी संस्थाने यंत्रों और कला-कौशलके संबंधमें अंशतः इस बातको कर दिखाया है। इस कारखानेमें सब तरहके औजार हैं और वह सबके लिए निःशुल्क है। औजार और चालक-शक्ति मुफ्त दी जाती है। सिर्फ धातुओं और लकड़ीके दाम लिये जाते हैं, वह भी लागत मात्र। दुर्भाग्यसे कारीगर लोग वहां केवल रातको ही जाते हैं। उस समय वे बेचारे वर्कशॉपके दस घंटेके कामसे थके हुए होते हैं। इसके अतिरिक्त वे बड़ी सावधानीके साथ एक-दूसरे से अपने आविष्कार छिपाते रहते हैं। पेटेंट-प्रणाली और पूंजीवाद, जो वर्तमान समाजका अभिशाप और बौद्धिक तथा नैतिक उन्नतिके रास्तेका रोड़ा है, उनके दिमागमें बुरी तरह घुसा हुआ है।

५

और कलाका क्या हाल है? आज तो सब तरफसे हमें कलाके ह्रासका रोना सुनाई देता है। पुनर्जागरण (Renaissance) के महान कलाकारोंसे सचमुच हम बहुत पिछड़ गये हैं। कलाके नियमोंमें तो इधर बड़ी प्रगति हुई है, हजारों प्रतिभा-सम्पन्न पुरुष कलाकी प्रत्येक शाखाको आगे बढ़ाने का काम कर रहे हैं; पर हमारी संस्कृतिसे कला दूर भागती हुई दिखाई देती है। नियम-कायदे तो आगे बढ़ रहे हैं, पर कलाकारोंके कलाभवनोंमें स्फूर्ति बहुत ही कम आया करती है।

वह आये भी कहांसे? कोई महान विचार ही तो कलाकी स्फूर्ति दे सकता है। हमारे आदर्शके अनुसार कला सृष्टि (Creation) का समानार्थक शब्द है। उसकी दृष्टि बहुत आगे जानी चाहिए। पर थोड़ेसे अपवादोंको छोड़कर शेष व्यवसायी कलाकार तो इतने जड़वादी हो गये हैं कि कोई नयी कल्पना उनके दिमागमें आ ही नहीं सकती।

इसके अतिरिक्त यह स्फूर्ति पुस्तकोंसे नहीं मिल सकती, वह तो जीवन से ही आनी चाहिए। पर वर्तमान समाज उसको जगा नहीं सकता।

राफेल* और म्यूरिलो† उस युगमें चित्रकारी करते थे जब पुरानी धार्मिक परंपराओंकी रक्षा करते हुए भी नये आदर्शोंकी तलाश चल सकती थी। वे दोनों गिरजाघरोंको सजानेके लिए चित्र बनाया करते थे। ये गिरजाघर भी नगरकी कई पीढ़ियोंके पवित्र श्रमसे बने थे। अपने अद्भुत दृश्य और ऐश्वर्यके सहित गिरजेका बेसीलिक भवन स्वयं नगरके जीवन से संबद्ध था, और चित्रकारके हृदयमे स्फूर्ति उत्पन्न कर सकता था। वह चित्रकार सार्वजनिक इमारतोंके लिए काम करता था। वह अपने साथी नगरवासियोंसे बात-चीत किया करता था और इससे उसे स्फूर्ति मिलती थी। लोगोंको वह उसी प्रकार भाता था जिस प्रकार गिरजाघरका मध्य-भाग, उसके खंभे, रंगी हुई खिड़कियां, मूर्तियां और खुदे हुए किवाड़। आज-कल सबसे बड़ा संमान, जिसकी इच्छा एक चित्रकार कर सकता है, यह है कि उसका चित्र सुनहरे फ्रेममें जड़कर किसी अजायब-घरमें लगा दिया जाय। अजायबघर तो एक तरहकी प्राचीन अद्भुत वस्तुओंकी दूकान ही होता है। वहां प्रसिद्ध-प्रसिद्ध कलाकारों की सुंदर कृतियां भिखारियों और राजाओंके कुत्तोंके चित्रोंकी बगलमें रक्खी जाती हैं। मूर्ति-निर्माण कलाके वे उत्कृष्ट नमूने, जो यूनानके नगरोंके सर्वोच्च स्थानपर खड़े रहते थे और लोगोंको स्फूर्ति प्रदान करते थे, अब पेरिसके कला-संग्रहमें लाल पर्दोंके नीचे पड़े हुए हैं!

जब यूनानी मूर्तिकार अपने संगमरमरपर छेनीसे काम करता था तब वह अपने नगरकी भावना और हृदयको प्रकाशित करनेका प्रयत्न करता था। नगरके सारे मनोभाव, उसके गौरवकी सारी परंपराएं उसकी कृतिमें आकर फिरसे सजीव होना चाहती थीं। पर आज तो संयुक्त नगर-की भावना ही नहीं रही। अब विचारोंका वह मिलन—आदान-प्रदान नहीं होता। अब तो नगर ऐसे लोगोंका संयोग-सिद्ध समूह मात्र है जो न तो एक-दूसरेको जानते हैं, और न एक-दूसरेको लूटकर धनी बनने के सिवाय जिनका दूसरा कोई सामान्य स्वार्थ है। मातृभूमिका तो

* इटलीका प्रसिद्ध चित्रकार, समय १४८३–१५२० ई०।

† स्पेनका प्रमुख चित्रकार, समय १६१८–१६८२ ई०।

रिक्शा चालक चुप रह गया। नन्दरानी का कहना उसने यथार्थ समझा। नन्दरानी ने दूसरे ही क्षण कहा—'अच्छा, जरा जाकर यहां के अध्यक्ष को बुला तो लाओ।' रिक्शा चालक चला गया। नन्दरानी सोचती रही कि वह कौन सौभाग्यवती वेश्या है, जिसका विवाह भले आदमी से हो रहा है। राधा के सम्बन्ध में उसे कुछ मालूम ही नहीं था। आज राधा का ही विवाह केशव लाल के साथ सम्पन्न होने जा रहा था। समाज की उन्नति और विकास के हित केशव लाल ने इस वैवाहिक सम्बन्ध को सहर्ष स्वीकार कर लिया था। और राधा एक बार पुनः अपनी मांग सिन्दूर से भरने जा रही थी। नन्दरानी को यह सब मालूम ही कहां था। वह तो उत्सुक हृदय से इस पर सोच ही रही थी कि तनिक देर बाद एक गोरा युवक उसके रिक्शा की बगल में आ खड़ा हुआ। बोला—'क्या आज्ञा है देवी जी?' बिन्दु ने उसे पर्दे के अन्दर से ही देखा, और देखते ही चौंक सी उठी। पता नहीं वह क्यों बिल्कुल आड़ में हो रही। नन्दरानी पर्दे के अन्दर से ही बोली—'मुझे आपसे कुछ बातें करनी हैं।'

'आइये, मैं आपकी सेवा के लिये सदैव प्रस्तुत हूँ।' युवक मृदु स्वर में बोला, नन्दरानी ने बिन्दु की ओर मुड़ते हुए धीमे स्वर में कहा—'चलो।'

उसके कान के पास मुँह ले जाकर बिन्दु ने कुछ फुसफुसा कर कहा।

नन्दरानी ने मुस्करा कर विहँसती निगाहों से उसकी ओर देखा, बिन्दु के सलोने मुखड़े पर रक्तिम आभा झलक उठी, पता नहीं क्यों उसके विशाल नेत्र झुक गये।

नन्दरानी रिक्शे से उतर पड़ी। मगर, वह बैठी ही रह गई।

+ + +

'सिनेमा हाल से निकल कर, नन्दरानी और बिन्दु एक रिक्शे पर

जा बैठीं और रिक्शा चालक से स्टेशन चलने को कहा। रिक्शा चल पड़ा स्टेशन की ओर। शहर की काली काली पीचदार सड़क की चौड़ी छाती को रौंदता कुछ देर बाद, रिक्शा आ रुका स्टेशन के पास। नन्दरानी और बिन्दु, रिक्शे से उतर पड़ीं। रिक्शा चालक को पैसे देकर चली गईं, प्लेटफार्म पर स्टेशन के अन्दर।

'प्लेट फार्म' यात्रियों से खचाखच भरा था। विद्युत के प्रकाश बाहुल्य में विशाल स्टेशन भवन का कोना-कोना विहंस रहा था। नन्दरानी और बिन्दु दोनों युवतियां उसकी सौन्दर्य छटा को निरखती, यात्रियों की भीड़ को चीरती धीरे-धीरे एक ओर बढ़ी जा रही थीं आगे पीछे और साथ ही किसी को ढूंढ़ भी रही थीं, अपनी उत्सुक निगाहों से।

गाड़ी आने में अभी पन्द्रह बीस मिनट की देर थी।

नन्दरानी एक जगह रुक गई। बोली—'किसी को नहीं देखती हूँ। न गिरधारी, राजू और न वह समाज सुधार समिति का सेक्रेटरी।'

बिन्दु भी खड़ी हो गई थी। कह उठी—'सब के सब आ जाएँगे अभी तो गाड़ी आने में देर है।'

'हां, वह तो है।' नन्दरानी ने कहा—'चलो तो स्टाल की तरफ देखूँ।'

दोनों एक ओर मुड़ पड़ीं। चलने लगीं, स्टाल के निकट आकर उन्होंने देखा, गिरधारी और राजू दोनों, चाय पी रहे थे बैठे। नन्दरानी को देखते ही गिरधारी ने राजू से कुछ कहा, और उठकर उसके पास चला आया। बोला—'ओफ नन्दरानी तुम आ गईं, मुझे तो भरोसा नहीं था।'

नन्दरानी बीच ही में बोल पड़ी—'नन्दरानी जो कुछ भी कहती उससे कभी पीछे नहीं हटती।'

'सन्देह नहीं, आज से तुम्हारी यह बात तो माननी ही पड़ेगी।'

मुस्कुराता हुआ बोला गिरधारी—'अच्छी बात है, अब तुम लोग जाकर 'वेटिंग रूम' में बैठो, हम टिकट खरीद लावें।'

'हां, अब टिकट खरीदने में देर मत करो, गाड़ी का समय तो हो चला है।'

नन्दरानी बोली और वेटिंग-रूम की तरफ मुड़ पड़ी। उसके पीछे बिन्दु भी चली। गिरधारी पुनः राजू के पास जा रहा।

'वेटिंग-रूम' में प्रवेश करते, नन्दरानी ने कहा—'अब तुम यहीं बैठो, मैं बाहर जाकर समिति के मंत्री जी को देखती हूँ। अभी तक आये नहीं हैं। पता नहीं, क्या बात हुई।'

नन्दरानी पुनः बाहर निकल पड़ी। बिन्दु अन्दर ही रही। बाहर निकल कर नन्दरानी इधर-उधर देखती हुई एक ओर चलने लगी, धीरे-धीरे। तनिक दूर जाने के बाद ही समिति के मंत्री से उसकी मुलाकात हो गई। उसे देखते ही वह बोल उठी—'आप, आप आ गये हैं! धन्यवाद।'

'यूँ नहीं,...बिल्कुल तैयार होकर।' मंत्री ने प्रसन्न मुद्रा में कहा।

'आपको वचन दे चुका था, फिर आता नहीं कैसे! आपको धोखा देता! यह कैसी बात होती। समिति के कार्यालय से निकल कर आप उधर गईं, और मैं इस काम के इन्तजाम में लग गया।'

'धन्यवाद, कष्ट के लिये क्षमा चाहती हू।' नन्दरानी के चेहरे पर प्रसन्नता की लालिमा झलक रही थी।

'न तो धन्यवाद की आवश्यकता है और न क्षमा याचना की। यह तो हमारा कर्त्तव्य है।' मंत्री कह उठा।

नन्दरानी कुछ नहीं बोली। चुपचाप खड़ी रही। मंत्री के साथ और भी दो चार व्यक्ति आये थे, उसके पीछे खड़े थे। रह रह कर वह उनकी तरफ आँखें उठा कर देखती और फिर नत कर लेती। वे सब

भी उसकी तरफ बड़े गौर से देख रहे थे। इसी बीच मंत्री पूछ उठा—'वह लड़की कहां है?'

'यहीं, स्टेशन के अन्दर ही है।' उत्तर में बोली नन्दरानी।

'और वे बदमाश अभी तक आये हैं या नहीं?' मंत्री तत्क्षण दूसरा प्रश्न कर बैठा।

'हां वे लोग भी आकर डटे हैं, टिकट खरीदकर बिल्कुल तैयार बैठे हैं।'

'अच्छी बात है, अब तो गाड़ी का समय भी हो चला। आप जाकर उन लोगों के साथ ही रहें। हम लोग आपकी अगल बगल ही रहेंगे।'

उसके कथनानुसार नन्दरानी मुड़कर पुनः 'वेटिंग-रूम' की ओर चल पड़ी। वहां पहुँचकर उसने देखा, राजू और गिरधारी बाहर खड़े थे, आपस में बातें कर रहे थे।

नन्दरानी को देखते ही गिरधारी कह उठा उससे—'नन्दरानी, गाड़ी अब आ चली है। तुम लोग जल्दी से सेकेण्ड-क्लास डब्बे के पास आ जाओ। हम लोग वहीं रहेंगे।'

नन्दरानी ने देखा, गाड़ी सचमुच ही स्टेशन के अन्दर प्रविष्ट हो रही थी। इञ्जिन की तेज रोशनी सीधी 'प्लैटफार्म' पर पड़ रही थी।

मुसाफिर सब उठकर खड़े हो गये थे, गाड़ी में चढ़ने की तैयारी कर रहे थे, कोई हाथ में, कोई अपने सर पर सामान लेकर खड़ा था।

'मैं जल्द ही आ जाऊँगी। तुम लोग पहले जाकर, कम से कम जगह ठीक कर रखोगे।' कहते-कहते नन्दरानी 'वेटिंग-रूम' के अन्दर चली गई। इधर हनहनाती-सनसनाती गाड़ी भी तनिक देर बाद

अस्तित्व ही नहीं रहा। एक अंतर्राष्ट्रीय महाजन और सड़कपर चिथड़े बटोरनेवालोंकी कौनसी समान मातृभूमि हो सकती है? जब नगर, कस्बे, प्रदेश राष्ट्र या राष्ट्रोंके समुदाय अपने जीवनको फिरसे स्नेह-सामंजस्य-युक्त बना लेंगे तभी सामान्य आदर्श बनेंगे और उनसे कलाको स्फूर्ति मिल सकेगी। उस समय कारीगरी जाननेवाला व्यक्ति नगरके ऐसे स्मारक-भवनका नकशा सोचेगा जो मंदिर, कारागार या किला न होगा। उस समय चित्रकार, मूर्तिकार, नक्काशीका काम करनेवाला और आभूषणकार यह जान जायंगे कि अपने चित्रों, मूर्तियों और शृंगार-साधनोंको किस स्थानपर लगाना चाहिए। जीवनके उसी स्रोतसे वे सब शक्ति-स्फूर्ति प्राप्त करेंगे और सब मिलकर गौरवके साथ भविष्यकी ओर बढ़ते जायंगे।

पर उस स्वर्ण-युगके आनेतक तो कला केवल अपना अस्तित्व-भर बनाये रक्खेगी। वर्तमान कलाकारोंके सबसे सुंदर चित्र प्रकृति, ग्रामों, घाटियों, तूफानी समुद्रों और वैभवशाली पर्वतोंके होते हैं। पर खेतोंमें काम करनेमें जो कवित्व है उसे वह चित्रकार कैसे चित्रित कर सकता है जिसने खेतोंमें काम करके स्वयं कभी उसका आनंद नहीं उठाया, केवल उसका अनुमान या कल्पना भर की है, जिसे उस प्रदेशका ज्ञान उतना ही है जितना कि मौसिमी चिड़ियोंको रास्तेमें पड़नेवाले देशका होता है, जिसने नयी जवानीकी उमंगमें बड़े सवेरे खेतमें जाकर हल नहीं चलाया, जिसने अपने संगीतसे वायुमण्डलको भर देनेवाली सुंदर युवतियोंसे प्रतिस्पर्धा करते हुए मेहनती घसियारोंके साथ हंसिया भर-भरकर घास काटनेका आनंद नहीं लिया? भूमि और भूमिपर जो कुछ उगा हुआ है उसका प्रेम तो तूलिकासे चित्र बना देने मात्रसे प्राप्त होता नहीं, वह तो उसकी सेवा करनेसे उपज है। जिससे प्रेम ही नहीं उसका चित्र कैसे बनेगा? इसी कारण तो अच्छे-से-अच्छे चित्रकारोंने इस दिशामें जो कुछ बनाया है वह भी बिलकुल अपूर्ण है, वास्तविक जीवनसे दूर है, और प्रायः भावुकताकी व्यंजना मात्र है। उसमें जान नहीं है।

काम करके घर लौटते हुए यदि आपने अस्त होते हुए सूर्यको देखा हो, यदि आप किसानोंके बीच किसान बनकर रहे हैं, तो उस कालका वैभव आपकी आंखोंमें रहेगा। दिन और रातके सब समयोंमें यदि आप मछुओंके साथ समुद्रमें रहे हों, खुद मछली मारी हो, लहरोंसे लड़े हों, तूफ़ानका सामना किया हो, और इस परेशानीके बाद जालके बहुत-सी मछलियां समेट लानेके हर्ष या खाली वापस आनेकी निराशाका अनुभव किया हो, तो आप नाविक-जीवनके काव्यको समझ सकते हैं। मनुष्यकी शक्ति को समझने और उसे कलाके रूपमें प्रकट करनेके लिए जरूरी है कि आपने कभी कारखानेमें समय बिताया हो, निर्माण-कार्यके सुख-दुःखको जाना हो, बड़ी-बड़ी भट्टियोंके प्रकाशमें धातुको ढाला हो, यंत्र-जीवनका अनुभव किया हो। जनताकी भावनाओंका वर्णन करनेके लिए आवश्यक है कि वास्तवमें वे भावनाएं आपमें ओत-प्रोत हो जायं।

जिस प्रकार प्राचीन कालके कलाकारोंकी कृतियां बेचनेके लिए नहीं बनती थीं उसी प्रकार जनताका ही जीवन बितानेवाले भविष्यके कला-कारोंकी कृतियां भी बिक्रीके लिए तैयार न होंगी। वे तो संपूर्ण जीवनका एक अंग होंगी। जीवन उनके बिना पूर्ण न होगा और न वे उसके बिना पूर्ण होंगी। कलाकारकी कृति देखनेके लिए लोग खुद उसके नगरको जायंगे, और इस प्रकारकी रचनाओंकी सजीव तथा शांत सुंदरता हृदय और मस्तिष्कपर अपना हितकर प्रभाव डालेगी।

यदि कलाकी उन्नति करनी है तो उसे बीचकी सैकड़ों कड़ियों द्वारा उद्योग-धंधेसे संबद्ध कर देना पड़ेगा, या जैसा रस्किन और महान् साम्य-वादी कवि मॉरिसने अनेक बार सिद्ध कर दिखाया है, दोनोंको एकमें मिला देना होगा। गलियों या बाजारोंमें, सार्वजनिक स्मारकोंके भीतर और बाहर, मनुष्यके आस-पासकी प्रत्येक वस्तु शुद्ध कलामय रूपमें होनी चाहिए।

पर यह बात उसी समाजमें हो सकती हैं जिसमें हर आदमीको आवश्यक सुख-सुविधा और अवकाश प्राप्त हो। तभी ऐसी कला-परिषदें बन सकेंगी जिनमें प्रत्येक सदस्यको अपनी योग्यताके उपयोगका अवसर मिले, क्योंकि कलाके साथ-साथ सैकड़ों तरहके हाथके और यांत्रिक

काम भी रहेंगे ही। जिस प्रकार ऐडिनबराके दयालु युवक चित्रकारोंने अपने नगरमें गरीबोंके लिए बने हुए बड़े अस्पतालकी दीवारों और छतोंको चित्रित किया था उसी प्रकार ये कला-समितियां अपने सदस्योंके घरोंको सजानेका काम करेंगी।

एक चित्रकार या मूर्तिकार, जो अपनी आंतरिक भावनाको व्यक्त करने के लिए कोई चीज बनायेगा, उसे अपनी प्रेयसी या किसी मित्रको देगा। उसकी कृति, जो केवल प्रेमकी खातिर और प्रेमकी ही प्रेरणासे बनी है, क्या उस कृतिसे, जिसपर आजके जड़वादी कलाकारको गर्व है, घटिया होगी—केवल इस कारण कि उसपर अधिक पैसा लगा है?

जो आनंदकी वस्तुएं जीवनकी आवश्यकताओंमें नहीं आतीं उन सबके विषयमें भी यही करना पड़ेगा। जिसे एक बड़ा हारमोनियम चाहिए वह बाजा बनानेवालोंके संघमें प्रवेश करेगा। उस संघको अपने अर्धदिनोंके अवकाशका कुछ भाग देकर वह अपनी अभीष्ट वस्तु पा सकेगा। यदि किसीको खगोल-विद्याके अध्ययनका शौक है तो वह ज्योतिर्विज्ञान-वेत्ताओंके संघमें सम्मिलित हो जायगा। उस संघमें उस विषयके विचारक, निरीक्षक, गणक, खगोल-संबंधी यंत्रोंके कारीगर, वैज्ञानिक, उस विषयसे रुचि रखनेवाले—सभी होंगे। वह व्यक्ति सम्मिलित कार्यमें अपना हिस्सा देकर अपनी पसंदकी दूरबीन प्राप्त कर सकेगा; क्योंकि वेधशालामें तो विशेषकर मोटे काम—ईंटें जोड़ने, लकड़ीके काम, ढलाई और मिस्त्रीके काम—की ही आवश्यकता होती है। कलाका विशेषज्ञ तो सूक्ष्म यंत्रोंपर 'आखिरी कूची' भर फेर देता है।

खुलासा यह कि आवश्यक वस्तुओंकी उत्पत्तिमें कुछ घंटे लगा देनेके बाद प्रत्येक व्यक्तिके पास जो पांच-छः घंटे बच रहते हैं वे सब प्रकारके शौक पूरे करनेके लिए काफी होंगे। शौक और आरामके सामान जुटानेके लिए हजारों संस्थाएं तैयार हो जायंगी। जो आज इने-गिने लोगोंका विशेषाधिकार है वह सबको सुलभ हो जायगा। विलास-सामग्री मध्यमवर्गका बेहूदा दिखावा न रहकर कलायुक्त आनंदका साधन बन जायगी।

इससे प्रत्येक व्यक्ति अधिक सुखी हो जायगा। किसी अभीष्टकी

सिद्धि, अपनी इच्छाकी कोई पुस्तक, कोई कला-कृति या कोई शौककी चीज प्राप्त करनेके लिए जो सम्मिलित कार्य खुशी-खुशी किया जायगा उसमें प्रत्येक व्यक्तिको स्वयं उत्साह होगा और वह कार्य जीवनको सुखद बनानेके लिए आवश्यक मनोरंजन बन जायगा।

मालिक और गुलामका भेद मिटानेकी कोशिश करना दोनोंके ही सुखका, बल्कि सारी मनुष्य-जातिके सुखका प्रयत्न करना है।

: १० :

मन-चाहा काम

१

समाजवादी जब यह कहते हैं कि जब समाज पूंजीपतियोंके शासनसे मुक्त हो जायगा उस समय काम करना सबको रुचेगा, और अरुचिकर, अस्वास्थ्यकर पिसाई मिट जायगी, तो लोग उनपर हंसते हैं। मगर आज भी हम देखते हैं कि इस दिशामें बहुत प्रगति हो रही है। जहां-जहां यह प्रगति हुई है वहां-वहां उसके फलस्वरूप शक्तिकी जो बचत हुई है उसपर मालिकोंने अपने आपको बधाई दी है।

यह स्पष्ट है कि एक कारखाना भी उतना ही स्वास्थ्यकर और सुखद बनाया जा सकता है जितनी एक प्रयोगशाला। और यह भी स्पष्ट ही है कि ऐसा करना लाभदायक होगा। कुशादा और हवादार कारखानेमें काम अच्छा होता है। ऐसे छोटे-छोटे सुधार आसानीसे किये जा सकते हैं जिनसे समय या श्रमकी बचत होती है। आज जो अधिकतर कारखाने गंदे या अस्वास्थ्यकर दिखाई देते हैं उसका कारण यही है कि कारखानोंके प्रबंधमें मजदूरका कोई मूल्य नहीं समझा जाता और मानव शक्तिकी बुरी तरह बर्बादी होना वर्तमान औद्योगिक संगठनकी एक विशेषता है।

फिर भी समय-समयपर हमें ऐसे सुव्यवस्थित कारखाने देखने को मिलते हैं जिनमें काम करना सच्चा आनंद हो सकता है, यदि वह प्रति-दिन चार या पांच घंटेसे अधिकका न हो और अपनी-अपनी रुचिके अनुसार बदला जा सके।

इंगलैंडके एक मध्यवर्ती जिलेमें बहुतसे कारखाने हैं, जो दुर्भाग्यसे युद्ध-सामग्री बनानेके काममें लगे हुए हैं। स्वास्थ्यकर और बुद्धियुक्त प्रबंध

की दृष्टिसे वे सर्वांगपूर्ण हैं। वे पचास एकड़के घेरेमें हैं जिनमेंसे पंद्रह एकड़पर तो कांचकी छत है। फर्श आगसे न जलनेवाली ईंटोंसे जड़ा हुआ है और खान खोदनेवालोंकी कुटियोंकी तरह साफ रक्खा जाता है। कांचकी छतको बहुतसे श्रमिक सदा साफ करते रहते हैं जिनसे दूसरा काम नहीं लिया जाता। इस कारखानेमें पांच-पांच सौ मनके बल्ले तपाये और बनाये जाते हैं। बड़ी-बड़ी भट्टियोंकी ज्वालामें हजार-हजार डिग्रीसे भी अधिक ताप होता है, पर आप उनसे १० गजपर भी खड़े रहें तो आपको उनके अस्तित्वका पतातक न चलेगा। चलता है तब जब उनका मुंह लोहेके भीमकाय टुकड़ोंको बाहर निकालनेके लिए खुलता है। उस गर्म लोहेके दैत्यको केवल तीन-चार श्रमिक सम्हाल लेते है। वे कभी यहां, कभी वहां कोई नल खोल देते हैं, और पानीके दबावसे ही विशालकाय क्रेन इधर-उधर घुमा लिये जाते हैं।

इस कारखानेमें प्रवेश करते समय आप सोचते होंगे कि लोहा पीसने वाले यंत्रोंकी कान फोड़देनेवाली आवाज सुनाई देगी, पर वहां वे होते ही नहीं। तीन-तीन हजार मनकी बड़ी-बड़ी तोपें और ऐटलांटिक महासागरके पार जानेवाले जहाजोंके लिए पहियोंके भारी-भारी डंडे, सब पानीके दबावसे ढाले जाते है। उस लौह-राशिकी मोटाई कितनी ही क्यों न हो, धातुके उस बड़े पिंडको किसी भी शकलका बनानेके लिए कारीगरको सिर्फ पानीके नलका मुंह उधर कर देना पड़ता है, और उससे धातुकी बिलकुल यकसां चीज तैयार हो जाती है।

मैं आशंका करता था कि लोहेको रेतते समय जो घिसाई होती है उसका अति कर्कश शब्द मुझे सुनना होगा। पर मैंने दस-दस गज लंबे इस्पातके भारी टुकड़ोंको काटनेवाली मशीनें देखीं, उनसे उतना ही शब्द होता था जितना आलू काटनेमें होता है। जब मैंने इसकी प्रशंसा उस इंजीनियरसे की जो हमें सब दिखा रहा था तो उसने उत्तर दिया—

"यह तो केवल मितव्ययिताका प्रश्न है। यह मशीन जो इस्पातको रेतकर सम करती है, बयालीस बरससे चल रही है। यदि इसके पुरजे

ठीकसे जुड़े न होते, परस्पर भिड़ते रहते, और सम करनेवाले औजारके आने-जानेपर आवाज करते, तो यह दस साल भी न चलती।

"इसी प्रकार लोहा गलानेकी भट्टियोंमें गरमीको फिजूल निकलने देना बड़ा भारी अपव्यय है। जो गरमी भट्टीसे छिरकर बाहर निकल जाती है वह तो सैकड़ों मन कोयलेसे पैदा होती है। फिर ढालनेवालेको क्यों भूना जाय?

"जिन लोहा पीटनेवाले यंत्रोंकी धमकसे १५-१५ मीलतककी इमारतें हिल पड़ें वे भी अपव्यय रूप थे। लोहेको पीटकर बनानेकी अपेक्षा दबाकर बनाना अच्छा है, उससे खर्च भी कम होता है और हानि भी कम होती है।

"इस कारखानेमें हर एक बेंचके लिए जितनी रोशनी, सफाई और खुली जगह रक्खी गयी है उसमें भी मितव्ययिता ही उद्देश्य है। जो काम आप करते हैं उसको यदि आप अच्छी तरह देख सकें, आपके पास हाथ-पैर हिलानेको काफी जगह हो, तो काम अधिक अच्छा होगा।"

"यह सही है कि यहां आनेसे पहले हमें बड़ी तकलीफ हुई थी। शहरोंके करीब जमीन बहुत महंगी होती है, जमींदार बड़े लालची होते है।"

खानोंमें भी यही हाल है। जोलाके वर्णनों और समाचारपत्रोंकी रिपोर्टोंसे हमें मालूम है कि खानें आज-कल कैसी होती हैं। पर भविष्यकी खानोंमें हवाका खूब इंतजाम होगा, और उनका ताप उतनी ही सरलतासे नियंत्रित हो सकेगा जितनी सरलतासे पुस्तकालयका होता है। जमीनके नीचे दफन होनेके लिए घोड़े न होंगे। वहां बोझ खींचनेका काम अपने आप चलनेवाले रस्सों (Automatic cables) से लिया जायगा जो खानके मुंहपरसे चलाये जायंगे। 'वेंटिलेटर' (हवा पहुँचानेवाले यंत्र) सदा काम करते रहेंगे और धड़ाके कभी होंगे ही नहीं। यह कोई स्वप्न नहीं है। इंगलैंडमें ऐसी खान मौजूद है और मैं उसमें हो आया हूं। यहां भी सुंदर प्रबंधमें मितव्ययिता है। जिस खानका मैं वर्णन कर रहा

हूं वह ४६६ गज गहरी है। पर उससे भी प्रतिदिन अट्ठाईस हजार मन कोयला निकलता है। केवल २०० खनिक हैं—प्रत्येक रोजाना १४ मन कोयला निकालता है। इसके विरुद्ध उस समय इंगलैंडकी दो हजार खानोंका सालाना औसत मुश्किलसे फी आदमी ८४०० मन था।

आवश्यक हो तो इसके और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं कि फूरियेके भौतिक संगठनका स्वप्न मनोराज्य नहीं था।

परंतु साम्यवादी समाचार-पत्रोंमें इस प्रश्नपर इतनी बार चर्चा हो चुकी है कि लोगोंको इस विषयमें काफी जानकारी होनी चाहिए। कारखाने, भट्ठियां और खानें इतनी स्वास्थ्यकर और सुंदर बन सकती हैं जितनी वर्तमान विश्वविद्यालयोंकी बढ़िया-से-बढ़िया प्रयोगशालाएं। और प्रबंध जितना अच्छा होगा, मनुष्य-श्रम उतना ही अधिक उत्पन्न करेगा।

यदि यह सत्य है तो समान व्यक्तियोंके जिस समाजमें मजदूर अपने श्रमको बेचने और चाहे जैसा काम करनेको मजबूर न होंगे, उसमें श्रम करना क्या आनंद और मनोरंजन न हो जायगा? अरुचिकर काम न रहेगा, क्योंकि यह तो स्पष्ट है कि इन अस्वास्थ्यकर अवस्थाओंसे सारे समाजकी ही हानि होती है। गुलाम चाहे इन अवस्थाओंमें रह सकें, पर स्वाधीन लोग तो नयी परिस्थिति पैदा करेंगे और उनका श्रम आनंददायक तथा अत्यधिक उत्पादक होगा। आज जो बातें कहीं-कहीं हैं, अपवादरूप हैं, कल वही बातें—वही अवस्थाएं सामान्य, सार्वत्रिक हो जायंगी।

जिस घरेलू कामको समाजने आज दासी रूपमें पिसनेवाली स्त्रीपर डाल रक्खा है उसके रूपमें भी ऐसा ही सुधार होगा।

२

जो समाज क्रांतिके द्वारा नवजीवन प्राप्त करेगा वह घरेलू गुलामीको भी मिटा देगा। घरेलू दासता दासताका अंतिम रूप है। शायद यह सबसे ज्यादा सख्त-जान है, क्योंकि यह सबसे प्राचीन भी है। परंतु

यह काम सामूहिक आवास-वादी दलके सोचे हुए मार्गसे न हो सकेगा, और न सत्तावादी साम्यवादियोंकी सोची हुई रीतिसे ही।

सामूहिक आवास लाखों आदमियोंको नहीं भाते। इसमें तो संदेह नहीं कि अधिक-से-अधिक एकांत-सेवी व्यक्ति भी सामान्य काम पूरा करनेके लिए अपने साथियोंसे मिलनेकी आवश्यकता अनुभव करता है, और जितना ही वह अपनेको महान् समष्टिका एक भाग समझने लगता है, यह सामान्य श्रम उतना ही आकर्षक हो जाता है। पर अवकाशका समय तो आराम करने और घनिष्ट व्यक्तियोंके साथ रहनेके लिए होता है। सामूहिक आवास-वादी और कुटुंबवादी या तो इस बातपर विचार ही नहीं करते, या वे अपना एक कृत्रिम समुदाय बनाकर इस आवश्यकताको पूरा करनेका यत्न करते हैं।

संयुक्त आवास वस्तुतः एक बड़े होटलके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वह कुछ लोगोंको सब समय या शायद सभी लोगोंको कुछ समयके लिए पसंद आ सके। पर अधिक लोग तो कुटुंबका जीवन ही पसंद करते हैं। अवश्य ही हमारा मतलब भविष्यके पारिवारिक जीवनसे है। लोग पृथक्-पृथक् घर अधिक चाहते हैं। अंग्रेज लोग तो यहांतक बढ़े हुए हैं कि वे छः-सात कमरोंके घर पसंद करते हैं, जिनमें एक कुटुंब या मित्र-समूह पृथक् रह सके। सामूहिक आवास कभी-कभी आवश्यक होते हैं, पर वे सबके और सब समयके लिए बना दिये जायं तो अप्रिय हो जायंगे। मनुष्यकी यह साधारण इच्छा होती है कि कभी तो समाजके बीच रहकर समय बिताये और कभी अलग भी रहे। इसी कारण जेलमें एकांतका न मिलना एक घोरतम कष्ट होता है, और यदि सामाजिक जीवन न मिल पाये, बंदी तनहाईकी कोठरीमें बंद कर दिया जाय तो वह भी ऐसा ही असह्य हो जाता है।

सामूहिक आवासके पक्षमें जो मितव्ययिताकी दलील दी जाती है वह तो बनियेपनकी-सी बात है। सबसे अधिक महत्त्व और बुद्धिमत्ताकी जो मितव्ययिता है वह है सबके जीवनको आनंदमय बनाना, क्योंकि जो आदमी अपनी स्थितिसे प्रसन्न है वह उस व्यक्तिकी अपेक्षा बहुत

अधिक उत्पादन कर सकता है जो अपनी परिस्थितिको कोसा करता है।

दूसरे साम्यवादियोंको सामूहिक आवासकी व्यवस्था पसंद नहीं। पर जब आप उनसे पूछते हैं कि गृह-कार्यका प्रबन्ध किस प्रकार हो सकता है तो उनका जवाब होता है कि—"सब लोग अपना-अपना काम करेंगे। मेरी पत्नी घरके काम करती है; मध्यमवर्गकी पत्नियां भी इतना तो कर ही सकती हैं।" और यदि कहनेवाला साम्यवादपर व्यंग करनेवाला कोई मध्यमवर्गीय हो तो वह हंसकर अपनी पत्नीसे कह सकता है—"प्रिये, क्या साम्यवादी समाजमें तुम बिना नौकरके काम न चला सकोगी? हमारे-दोस्त अहमद या रामू मिस्तरीकी पत्नीकी तरह क्या तुम भी अपना काम करना पसन्द न करोगी?"

वह नौकर हो या पत्नी, पुरुष घरके कामके लिए सदा स्त्रीका ही भरोसा करता है।

परंतु मानव-जातिकी मुक्तिमें स्त्री भी तो अपना हिस्सा मांगेगी ही। वह अब घरमें "पीर-बावर्ची-भिश्ती-खर" बनकर रहना नहीं चाहती। अपने बच्चोंके पालन-पोषणमें जीवनके कई वर्ष लगा देना ही वह अपना काफी काम समझती है। अमेरिकाकी स्त्रियां अपना अधिकार प्राप्त करनेमें आगे बढ़ रही हैं, इसलिए संयुक्तराष्ट्रमें अब यह आम शिकायत है कि वहां घरेलू काम करनेवाली औरतोंकी कमी है। लोग कहते हैं कि हमारी मेम साहिबा तो कला, राजनीति, साहित्य या खेल अधिक पसंद करती हैं। नौकरानी बननेवाली स्त्रियां कम मिलती हैं और नौकर तो और भी कठिनाईसे मिलते है। फलतः इसका सरल उपाय अपने-आप निकल आया है। गृह-कार्यका तीन-चौथाई अब मशीन कर देती है।

आप अपने जूतेपर पालिश करते हैं और जानते हैं कि यह कैसा भद्दा काम है। ब्रशसे बीस या तीस बार बूटको रगड़ते बैठनेसे अधिक मूर्खताका काम क्या होगा? रहनेको एक गंदी कोठरी या झोंपड़ा और अध-पेट भोजन पानेके लिए यूरोपके हर दस पीछे एक आदमीको अपना शरीर बेचना पड़े, और स्त्री अपनेको दासी समझे, महज इसलिए कि लाखों स्त्रियां रोज सवेरे यह क्रिया करती रहें।

पर बाल संवारनेवालोंके लिए बालोंको ब्रश करके रेशम-जैसे चमकदार या ऊन-जैसे मुलायम बनानेके लिए मशीनें निकल चुकी हैं। जब सिरका सिगार मशीनके मत्थे मढ़ा गया तब पांवकी सेवा भी उसीको क्यों न सौंपी जाती? अतः इसकी भी कल निकल आयी और आज-कल जूतेपर पालिश करनेकी मशीनें अमेरिका और यूरोपके बड़े-बड़े होटलोंमें सब जगह काममें आ रही हैं। होटलोंके बाहर भी इनका उपयोग बढ़ रहा है। इंगलैंडके बड़े-बड़े स्कूलोंमें, जहां विद्यार्थी अध्यापकोंके घरपर रहते हैं, एक मशीन रख लेना काफी होता है वह रोज सवेरे एक हजार जोड़े जूतोंको ब्रश कर देती है।

और बर्तन मांजनेकी बात? भला ऐसी कौन स्त्री है जो इस लंबे और मैले कामसे घबराती न हो? यह काम प्रायः हाथसे ही किया जाता है, और केवल इसलिए कि घरकी लौंडीके श्रमका कोई मूल्य नहीं।

अमेरिकामें इसका अच्छा उपाय निकल आया है। वहां अब ऐसे बहुतसे शहर हैं जहां घरोंमें गरम पानी उसी तरह पहुंचाया जाता है जैसे यूरोपमें ठंडा पानी। इससे मसला आसान हो गया, और एक महिला श्रीमती कोचरेनने उसे हल कर लिया। उनकी मशीन तीन मिनटसे भी कममें बारह दर्जन तश्तरियां धो देती और सुखा डालती है। इलिन्वायका एक कारखाना इन मशीनोंको इतनी सस्ती बेचता है कि मध्यमवर्गके लोग आसानीसे खरीद सकते हैं। छोटे-छोटे कुनबोंको तो चाहिए कि वे जूतोंकी तरह अपने बर्तन भी किसी ऐसे कारखानेमें भेज दें। यह भी संभव है कि जूतोंपर ब्रश करना और बर्तन मांजना दोनों काम एक ही कार्यालय करने लगे।

बरतन मांजना और कपड़े धोना, जिसमें हाथकी खाल घिस जाती है, झाड़ू देना और दरी-कालीनपर ब्रश करना, जिससे धूल उड़-उड़कर ऐसी जगह जम जाती है जहांसे उसे हटाना कठिन होता है—यह सारा काम आज भी इसीलिए हो रहा है कि स्त्री अब भी दासी ही है। पर यह मिटता भी जा रहा है, क्योंकि मशीनसे यह काम कहीं अच्छा हो सकता है। कुछ दिनोंमें सब तरहकी मशीनें घरोंमें पहुंच

जायंगी, और घर-घर चालक-शक्ति पहुंचा दी जानेपर लोग बिना हाथ-पांव हिलाये ही उनसे काम ले सकेंगे।

इन मशीनोंके बनानेमें खर्च भी थोड़ा ही पड़ता है। वे जो आज भी इतनी मंहगी हैं इसका कारण यही है कि इनका इस्तेमाल अभी बढ़ा नहीं। और असल कारण तो यह है कि जो बड़े आदमी ठाट-बाटसे रहना चाहते हैं और जिन्होंने जमीन, कच्चा माल, पक्का माल बनाने, बेचने, पेटेंट कराने और उसपर लगनेवाले करोंके बारेमें सट्टे कर रखे हैं उन्होंने हर एक मशीनपर बहुत भारी कर लाद दिया है।

पर घरेलू कामसे छुटकारा केवल छोटी-छोटी मशीनोंसे नहीं होगा। कुटुंब अब अलग-अलग रहनेकी अवस्थासे ऊपर उठ रहे हैं, और जो काम वे अकेले करते थे उसे अब दूसरे परिवारोंके साथ मिलकर करने लगे हैं।

वास्तवमें भविष्यमें जूतोंपर ब्रश करनेकी एक मशीन, बर्तन साफ करनेकी दूसरी मशीन, कपड़े धोनेकी तीसरी मशीन, इस तरह कई मशीनें हर घरमें न रखनी पड़ेंगी। बल्कि यह होगा कि शहर या जिले भरके सारे मकानोंमें गरमी पहुंचानेवाला एक ही ताप-यंत्र लगा दिया जायगा, जिससे हर कमरेमें गरमी पहुंच जाय और आग जलानेका झंझट न करना पड़े। अमेरिकाके कुछ शहरोंमें ऐसा हो भी गया है। नगरके मध्यभागमें एक बड़ासा भट्ठा या ताप-गृह बन जाता है और वह नलोंके जरिये शहरके सारे घरों और कमरोंमें गरमी पहुंचा देता है। कमरेकी गरमी घटाने-बढ़ानेके लिए आपको केवल टोंटी घुमा देनी पड़ेगी। और अगर आपको किसी खास कमरेमें खूब तेज आगकी जरूरत हो तो केंद्रीय भंडारसे गरम करनेके लिए जो गैस मिलती है उसको जला सकते हैं। आग जलाने और धूम-मार्गों (चिमनियों) को साफ रखनेका भारी काम—जिसमें कितना समय लग जाता है, यह स्त्रियां ही जानती हैं—अब खत्म होता जा रहा है।

दियों, लैंपों और गैस-बत्तियोंके दिन भी अब बीत गये। अब तो सारे शहरमें प्रकाश करनेके लिए एक बटन दबा देना ही काफी होता है। बिजलीकी रोशनीका सुख आपको मिलनेके लिए वास्तवमें केवल

शक्तिकी मित-व्ययिता और ज्ञानकी आवश्यकता है। अमेरिकामें तो लोग ऐसे संघ बनानेकी बात सोचने लगे हैं जिनसे घरेलू काम खत्म ही हो जाय। इस व्यवस्थामें घरोंके प्रत्येक समूहके लिए एक-एक विभाग बना देना होगा। एक गाड़ी होगी, जो हर मकानपर जायगी और वहांसे पॉलिश करनेके जूते, साफ किये जानेवाले बर्तन, धुलाईके कपड़े, मरम्मत-की छोटी-मोटी चीजें और पोंछे जानेवाले दरी-कालीन ले जायगी। दूसरे दिन सवेरे सारी चीजें साफ होकर आ जायंगी। कुछ ही घंटे बाद गरम चाय और दूध आपकी मेजपर पहुँच जायगा। अमेरिका और इंगलैंडमें बारहसे दो बजेतक लगभग चार करोड़ आदमी दोपहरका खाना खाते हैं। उसमें कुल मिलाकर दस-बारह तरहकी ही चीजें होती हैं। पर उन्हें पकानेके लिए कम-से-कम ८० लाख स्त्रियोंको अलग-अलग चूल्हा जलाना और अपना कई घंटेका वक्त लगा देना पड़ता है।

एक अमेरिकन स्त्री ने हालमें ही लिखा था कि जहां केवल एक चूल्हा काफी हो सकता है वहां आज पचास चूल्हे जलते हैं। आपकी इच्छा हो तो आप अपने ही घर, अपनी ही मेज या चौकीपर, अपने बाल-बच्चोंके साथ भोजन कर सकते हैं; पर इतना जरूर सोच लें कि सिर्फ कुछ प्याले चाय और रोटी-तरकारी पकानेके लिए क्यों पचास स्त्रियां सुबहका अपना सारा समय नष्ट कर दें। जब ये सब चीजें एक ही चूल्हेपर दो आदमी पका सकते हैं तब पचास चूल्हे क्यों जलाये जायं? आप अपनी पसंदकी चीजें खाइये और तरकारीमें जितना मिर्च-मसाला चाहिए डाल लीजिए। पर रसोईघर एक और चूल्हा भी एक ही रखिए। उसका प्रबंध जितना अच्छा आप कर सकते हों, कीजिए।

स्त्रीके कामका भी कुछ मूल्य क्यों नहीं समझा जाता? प्रत्येक परि-वारके रसोई-संबंधी काममें गृहस्वामिनी और नौकरानियां अपना इतना समय लगानेको क्यों मजबूर की जाती हैं? इसीलिए कि जो लोग मनुष्य-जातिका उद्धार करना चाहते हैं उन्होंने अपने उस स्वप्नमें स्त्री को शामिल नहीं किया है। उन्होंने 'रसोईका प्रबंध' स्त्रीपर ही छोड़ रक्खा है, उसपर विचार करना वे अपनी 'मर्दानगीकी शान'के खिलाफ समझते हैं।

स्त्रियोंके लिए विद्यालयों, अदालतों और व्यवस्थापिका सभाओंके दरवाजे खुल जाना ही नारी-जातिका उद्धार नहीं है, क्योंकि 'मुक्त' स्त्री घर-गिरस्तीके काम सदा किसी दूसरी स्त्रीपर डाल देगी। नारीकी मुक्तिका अर्थ है, उसको रसोईघर और धुलाई-घरके पशु बना देनेवाले श्रमसे मुक्त करना। उसका अर्थ है, गृह-कार्यका ऐसा प्रबंध कर देना जिससे चाहे तो वह अपने बच्चोंका स्वयं पालन-पोषण करे, और सामाजिक जीवनमें योग देनेके लिए उसके पास यथेष्ट अवकाश भी बच रहे।

ऐसा होगा भी। जैसा कि हम कह चुके हैं, प्रगति तो हो ही रही है। केवल हमें इस बातको अच्छी तरह समझ लेना है कि स्वतंत्रता, समानता, एकता आदि सुंदर शब्दोंकी मस्तीसे भरी हुई क्रांति कभी सच्ची क्रांति नहीं हो सकती, अगर वह घरोंकी गुलामीको बनाये रक्खेगी। फिर चूल्हेकी गुलामीमें बंधी हुई आधी मानव-जातिको शेष आधी जातिके विरुद्ध विद्रोह करना पड़ेगा।

: ११ :

आपसी समझौता

१

हमने परंपरासे कुछ ऐसी धारणाएं बना ली हैं, और सब जगह सरकार, कानून-कायदे और मजिस्ट्रेटों आदिके उपकारोंके विषयमें ऐसी गलत शिक्षा पायी है कि हम यह विश्वास करने लगे हैं कि जिस दिन पुलिस रक्षा करना छोड़ देगी उसी दिन एक आदमी दूसरेको जंगली जानवरकी तरह चीर-फाड़ डालेगा, और यदि क्रांतिके समय राजशक्ति उलट दी गयी तो घोर अव्यवस्था उत्पन्न हो जायगी। परंतु मनुष्योंके ऐसे हजारों समुदाय हैं जो स्वेच्छासे कानूनके किसी प्रकारके हस्तक्षेपके विना संगठित हुए हैं। और वे जो फल प्राप्त करते हैं वे सरकारी संरक्षणमें प्राप्त होनेवाले फलोंसे हजार गुना अच्छे होते हैं, पर हम उन्हें देखते हुए भी नहीं देखते।

आप किसी दैनिक समाचारपत्रको खोलकर देखिए, उसके पन्ने आपको सरकारी काम-काज या राजनैतिक चालबाजियोंकी बातोंसे ही भरे होंगे। उसे पढ़कर दूसरी दुनियाका कोई आदमी तो यही समझेगा कि शेयर-बाजारके काम-काजके सिवाय यूरोपमें एक पत्ता भी किसी मालिकके हुक्मके विना नहीं हिलता। उस पत्रमें आपको उन संस्थाओंके विषयमें कुछ भी न मिलेगा जो मंत्रियोंके आदेशके विना भी उत्पन्न होती, बढ़ती और उन्नति करती हैं। सचमुच आपको एक अक्षर भी न मिलेगा! किसी पत्रमें 'विविध विषय' शीर्षक होता भी है तो इसीलिए कि उसमें पुलिससे संबंध रखनेवाली बातें रहती हैं। किसी पारिवारिक नाटक या विद्रोहकी चर्चा भी इसीलिए होती है कि उसमें पुलिस पहुंच गयी है।

पैंतीस करोड़ यूरोप-वासी* एक दूसरेसे प्रेम या द्वेष करते हैं, कोई-न-कोई काम करते हैं और अपनी कमाईपर जीवन निर्वाह करते है; पर साहित्य, नाटक या खेलको छोड़कर समाचारपत्रोंके लिए उनका अस्तित्व ही नहीं होता, जबतक कि सरकार उनके जीवनमें किसी-न-किसी रूपमें हस्तक्षेप नहीं करती। यही हाल इतिहासका भी है। किसी राजा या पार्लमेंटके जीवनकी छोटी-से-छोटी तफसीलें हम जानते हैं। राजनीतिज्ञोंने जो अच्छी और बुरी वक्तृताएं दी हैं वे सभी सुरक्षित हैं। एक पुराने पार्लमेंट-सदस्यके शब्दोंमें "वे ऐसी वक्तृताएं हैं जिनका किसी भी सदस्यके मतपर कभी कुछ प्रभाव नहीं हुआ।" राजाओंकी यात्राएं, राजनीतिज्ञोंके अच्छा-बुरा मिजाज, उनका हंसी-मजाक और साजिशें सब कुछ भावी पीढ़ियोंके लिए लिखकर रख दिया गया है। पर यदि हम मध्य-युगके किसी नगरका नकशा बनाना चाहें, हांस नगरों†के बीच होनेवाले विशाल व्यापारकी व्यवस्थाको समझना चाहें, या यह जानना चाहें कि रूआं नगर अपने बड़े गिरजाघरको किस प्रकार बना पाया, तो हमें अत्यंत कठिनाई होगी। यदि कोई विद्वान इन प्रश्नोंके अध्ययनपर अपना जीवन लगाये तो उसके ग्रंथ गुमनामीमें ही पड़े रह जाते हैं, और पार्लमेंटोंके इतिहास, जो समाजके जीवनके एक ही पक्षको अपना विषय बनानेके कारण एकांगी होते हैं, बढ़ते जाते हैं। उनका प्रचार किया जाता है, वे स्कूलोंमें पढ़ाये जाते हैं।

इस प्रकार हमें उस विशाल कार्यकी कल्पनातक नहीं हो पाती जो स्वेच्छासे काम करनेवालोंके संघों द्वारा रोज हो रहा है और जो हमारी शताब्दीका मुख्य कार्य है।

हम इनमें से कुछ मुख्य-मुख्यके उदाहरण यहां देंगे, और दिखायेंगे कि जब मनुष्योंके स्वार्थ बिलकुल परस्पर-विरोधी नहीं होते तब वे किस

---

*पुस्तकके आंकड़े उसके रचना-काल या उससे थोड़ा पहलेके हैं, वर्तमान समयके नहीं।

†मध्ययुगके स्वाधीन जर्मन नगर। इनका व्यापारिक संघ बड़ा प्रभावशाली था।

तरह मिल-जुलकर काम करते हैं और बड़े-बड़े पेचीदा ढंगके सम्मिलित कार्य कर डालते हैं।

वर्तमान समाजका आधार व्यक्तिगत संपत्ति, या यों कहिए कि लूट और संकुचित एवम् मूर्खतापूर्ण व्यक्तिवाद है। ऐसे समाजमें इस प्रकारके उदाहरण थोड़े ही हो सकते हैं। परस्परके समझौते सदा पूर्ण स्वेच्छासे ही नहीं होते और उनका उद्देश्य यदि अति घृणित नहीं तो प्रायः क्षुद्र तो होता ही है।

हमें ऐसे उदाहरण नहीं देना है जिनपर लोग आंख मूंदकर चल सकें, और वे आजके समाजमें मिल भी नहीं सकते। हमें तो यह दिखाना है कि यद्यपि सत्तावादी व्यक्तिवाद हमारा गला घोंट रहा है, फिर भी समष्टि-रूपसे हमारे जीवनका एक बहुत बड़ा भाग ऐसा है जिसमें हम आपसी समझौतेसे ही व्यवहार करते हैं, और इस कारण राज्यके बिना काम चलाना जितना कठिन समझा जाता है वह उतना कठिन नहीं है बल्कि बहुत सरल है।

हम अपने मतके समर्थनमें पहले रेलवेका उल्लेख कर चुके हैं, अब फिर उसी विषयपर कुछ और कहते हैं।

यूरोपमें रेलवे लाइनोंका संगठन १,७५,००० मीलसे भी अधिक लंबा है! रेलवेके इस जालपर कोई भी व्यक्ति उत्तरसे दक्षिण, पूर्वसे पश्चिम, माड्रिडसे पीटर्सबर्ग और कैलेसे कुस्तुनतुनियातक, बिना विलंब के और (यदि एक्सप्रेस गाड़ीसे जाय तो) बिना डिब्बा बदले भी यात्रा कर सकता है। इससे भी अधिक विस्मयकी बात यह है कि किसी स्टेशन से भेजा हुआ पार्सल, केवल उसपर पानेवालेका नाम-पता भर लिख देनेसे, तुर्की या मध्य-एशियाके किसी भी स्थानमें पानेवालेको मिल जायगा।

यही काम दो तरहसे हो सकता था। कोई नेपोलियन या बिसमार्क या और कोई सत्ताधारी यूरोपको विजय करके पेरिस, बर्लिन या रोमसे रेल-लाइनका एक नकशा बनाता और रेलगाड़ियोंके आने-जानेके समयका नियंत्रण करता। रूसके जार निकोलस प्रथमने अपनी शक्तिसे यही काम करनेका स्वप्न देखा था। जब उसको मास्को और पीटर्स-

वर्गके बीच बननेवाली रेलके कच्चे नकशे दिखाये गये तो उसने एक रूलर उठाया और रूसके नकशेपर एक सीधी लकीर खींचकर कहा—'पक्का नकशा यह है।' तदनुसार रेल-लाइन बिलकुल सीधी बनायी गयी, जिसमें गहरे-गहरे नाले और खड्ड पाटने पड़े, ऊंचे-ऊंचे पुल बनाने पड़े, और अंतमें फी मील १,२०,००० से लेकर १,५०,००० पौंडतक खर्च उठाकर वह काम छोड़ देना पड़ा।

यह तो एक रास्ता था। पर प्रसन्नताकी बात है कि यह काम दूसरे तरीकेसे किया गया। छोटी-छोटी रेल-लाइनें बनीं, वे सब एक-दूसरेसे जोड़ दी गयीं, और इन रेलवे लाइनोंकी मालिक सैकड़ों विभिन्न कंपनियोंने धीरे-धीरे आपसमें गाड़ियोंके आने-जानेके समय और एक-दूसरेकी लाइनपरसे सब देशोंकी गाड़ियोंको गुजरने देनेके बारेमें समझौते कर लिये।

यह काम आपसी समझौतेसे हुआ, आपसमें पत्र और प्रस्ताव भेजनेसे हुआ और ऐसे सम्मेलनोंके द्वारा हुआ जिसमें प्रतिनिधिगण कुछ विशेष बातोंपर, जो पहलेसे ही तै कर दी गयी थीं, बहस और समझौता करनेके लिए गये थे, कानून बनाने नहीं गये थे। सम्मेलन समाप्त होनेपर प्रतिनिधि वहांसे अपनी-अपनी कम्पनियोंके लिए कोई कानून लेकर नहीं वापस गये, बल्कि आपसी मुआहिदेका एक मस्विदा लेकर गये, जिसको मंजूर या नामंजूर करना उनकी मर्जीपर था।

इस रास्तेमें कठिनाइयां अवश्य आयीं। बहुतसे ऐसे हठी आदमी भी थे जिन्हें समझाना कठिन था। पर सबका स्वार्थ एक होनेसे अंतमें उन्हें समझौता करना ही पड़ा। दुराग्रहियोंको दबानेके लिए फौज नहीं बुलानी पड़ी।

परस्पर-संबद्ध रेलोंका यह विशाल जाल, उससे होनेवाला जबर्दस्त व्यापार और आवागमन निस्संदेह उन्नीसवीं सदीकी सबसे बड़ी विशेषता है। और यह सब आपसी समझौतेका ही फल है। इसी बातको अस्सी वर्ष पहले कोई भविष्यद्वक्ता कह देता तो हमारे पुरखे उसे मूर्ख या पागल बताते। उन्होंने कहा होता—"सैकड़ों कम्पनियोंके हिस्सेदारोंको तुम इस

बातपर कभी राजी नहीं कर सकते। यह तो केवल स्वप्न है, या नानीकी कहानी है। एक केंद्रीय सरकार और उसका 'फौलादी' अधिनायक ही अपने नादिरशाही हुक्मसे ऐसा करा सकता है।"

इस संगठनमें सबसे मजेदार बात यह है कि यूरोपभरकी रेलोंकी कोई 'केंद्रीय सरकार' नहीं है! कुछ भी तो नहीं—कोई रेलवे-मंत्री नहीं, कोई 'डिक्टेटर' या अधिनायक नहीं, महाद्वीप भरकी कोई पार्लमेंट नहीं, एक संचालन समितितक तो नहीं! सब कुछ आपसके समझौतेसे ही हो रहा है।

राज-शक्तिमें विश्वास रखनेवाले लोग कहते हैं कि "एक केंद्रीय सरकारके बिना हमारा काम चल ही नहीं सकता, चाहे हमें सड़कपर आवागमनका नियंत्रण ही क्यों न करना हो।" पर हम उनसे पूछते हैं—"यूरोपकी रेलें बिना सरकारोंके कैसे काम चला लेती हैं? वे किस प्रकार लाखों मुसाफिर और माल-असबाबके पहाड़ महाद्वीपके आर-पार ले जाया करती हैं? रेल-लाइनोंकी मालिक-कंपनियां जब आपसमें समझौता कर सकीं तो इन्हीं रेलोंपर कब्जा करनेवाले रेलवे मजदूर भी उसी तरह समझौता क्यों न कर सकेंगे? यदि पीटर्सबर्ग-वारसा कम्पनी और पेरिस-बेलफोर्ट कंपनी आपसमें मिलकर काम कर सकती हैं और उन्हें अपने सिरपर किसी 'शामिल कमांडर'का फालतू बोझ लादनेकी जरूरत नहीं होती, तो स्वतंत्र श्रमिकोंके समुदायोंसे बने हुए समाजमें हमें सरकारकी आवश्यकता क्यों होगी?"

२

हम उदाहरणोंसे इस बातको सिद्ध करनेको कोशिश करते हैं कि आज भी, जब समाजका संगठन समष्टि-रूपसे अन्यायमूलक है, यदि लोगोंके स्वार्थ बिलकुल ही परस्पर-विरोधी नहीं होते तो वे राज्यके हस्तक्षेपके बिना ही आपसमें समझौता कर लेते हैं। पर ऐसा करते हुए हम उन आपत्तियोंकी उपेक्षा नहीं करते जो इसके विरुद्ध उपस्थित की जा सकती हैं।

ऐसे सब उदाहरणोंमें दोष-पक्ष भी रहता ही है, क्योंकि ऐसा तो एक भी संगठन बता सकना असंभव है जिसमें सबल द्वारा निर्बलका, धनिक द्वारा निर्धनका शोषण न होता हो। इसी कारण राज्यवादी अपनी यह दलील दुहराये बिना न रहेंगे कि "देख लिया आपने, इस शोषणका अंत करनेके लिए राज्यका हस्तक्षेप कितना आवश्यक है ?"

पर वे इतिहासकी शिक्षाको भूल जाते हैं। वे यह नहीं बतलाते कि 'सर्वहारा' या अकिंचनवर्गकी सृष्टि कर और उसे शोषकोंके हाथ सौंपकर राज्यने वर्तमान अवस्था उत्पन्न करनेमें खुद कितना भाग लिया है। उन्हें इस बातको साबित करनेकी याद नहीं रहती कि शोषणके मूल कारण—निजी पूंजी और कंगालीके, जिनका दो-तिहाई खुद राज्यका पैदा किया हुआ है, मौजूद रहते हुए भी शोषण बंद हो सकता है।

जब हम रेलवे कंपनियोंके आपसके मेल का जिक्र करते हैं तो हम मध्यमवर्गकी सरकारके भक्तोंसे यह जवाब पानेके लिए तैयार रहते हैं कि "तुम नहीं देखते कि रेलवे कंपनियां अपने नौकरों और मुसाफिरोंके साथ कितना बुरा बर्ताव करती हैं ? और इसका एकमात्र उपाय यही है कि श्रमिकों और जनताकी रक्षाके लिए राज्य हस्तक्षेप करे।"

पर हमने तो इस बातको बार-बार कहा और दुहराया है कि जब तक पूंजीपति हैं तबतक शक्तिका दुरुपयोग होता ही रहेगा। जिस राज्यके विषयमें कहा जाता है कि वह आगे चलकर हमारा बड़ा उपकार करेगा उसीने तो उन कंपनियोंको हमारे ऊपर वह इजारा और वे विशेषाधिकार दिये थे जो आज उन्हें प्राप्त हैं ? क्या राज्यने इन्हीं रेलोंको ठेके और गारंटियां नहीं दीं ? क्या उसने हड़ताल करनेवाले रेलवे मजदूरोंको दबानेके लिए अपने सिपाही नहीं भेजे ? पहली आजमाइशोंमें तो उसने रेलवेके पूंजीपतियोंके विशेषाधिकारोंको इतना बढ़ा दिया था कि अखबारोंको रेलवे दुर्घटनाओंके समाचार छापनेतककी मनाही करदी, जिसमें उसके हिस्सोंके दाम, जिसकी गारंटी राज्यने दे रखी है, कम न हो जायं। जिस एकाधिकारसे रेलवे कंपनियोंके कुछ संचालक 'अपने समयके बादशाह' बने हुए हैं वह क्या राज्यके अनुग्रहसे ही नहीं मिला है ?

इसलिए अगर हम मिसालके तौरपर रेलवे कंपनियोंके अप्रत्यक्ष समझौतेका जिक्र करते हैं तो यह न समझ लेना चाहिए कि यह आर्थिक प्रबंध या औद्योगिक संगठनका भी आदर्श है। वह तो यह दिखानेके लिए है कि दूसरोंको मूंडकर अपने हिस्सोंका मुनाफा बढ़ानेका ही उद्देश्य रखनेवाले पूंजीपति जब बड़ी सफलताके साथ और बिना कोई अंतर्राष्ट्रीय महकमा कायम किये रेलोंका उपयोग कर सकते हैं, तो श्रमिकोंके संघ भी उतनी ही या उससे अधिक अच्छी तरह, यूरोप भरकी रेलोंके लिए किसी मंत्रिमंडलकी नियुक्ति हुए बिना, उनका संचालन कर सकेंगे।

एक आपत्ति और भी उपस्थित की जाती है, और सरसरी निगाहमें वह कुछ ज्यादा वजनदार भी लगती है। कहा जा सकता है कि जिस समझौतेका हम जिक्र करते हैं वह सोलहो आने स्वेच्छासे नहीं हुआ है, छोटी कंपनियोंको बड़ी कंपनियोंका बनाया हुआ कानून मानना पड़ता है। मिसालके तौरपर यह कहा जा सकता है कि राज्यसे सहायता पानेवाली एक मालदार जर्मन कंपनी अपने मुसाफिरोंको, जो बर्लिनसे बाल जाना चाहते हैं, लाइपत्सिगके रास्ते न जाने देकर, कोलोन और फ्रांकफोर्टके मार्गसे जानेको लाचार करती है। या यह कहा जा सकता है कि वह कंपनी अपने प्रभावशाली हिस्सेदारोंके लाभ और छोटी कंपनियोंका सर्वनाश करनेके लिए मालको एक सौ तीस मीलका व्यर्थ चक्कर दिलाती है। संयुक्तराष्ट्र (अमेरिका)में वहांके धन-कुबेरोंकी जेबें भरनेके लिए बहुधा मुसाफिरों और मालको बहुत ही लंबे चक्कर देकर जाना पड़ता है।

हमारा उत्तर यहां भी वही है—जबतक व्यक्तिगत पूंजी रहेगी तबतक बड़ी पूंजी छोटी पूंजीका दलन करती ही रहेगी। पर दलन केवल पूंजीसे ही पैदा नहीं होता। जो सहायता राज्यसे उनको मिलती है, जो इजारे राज्यने उनके हकमें कायम कर दिये हैं, उनके कारण भी बड़ी कंपनियां छोटी कंपनियोंपर अन्याय करती हैं।

आजसे बहुत पहले इंगलैंड और फ्रांसके समाजवादी यह दिखा

चुके हैं कि इंगलैंडके कानूनोंने छोटे-छोटे धंधोंका नाश करने, किसानोंको कंगाल बना देने, और हजारों आदमियोंको, जो चाहे जितनी कम मजदूरीपर काम करनेको मजबूर थे, धनी व्यवसायियोंके हाथोंमें सौंप देनेके लिए अपनी शक्तिभर कुछ उठा नहीं रखा। रेलवेके कानूनने भी यही किया। सैनिक उपयोगकी लाइनें, राज्यसे सहायता पानेवाली लाइनें, अंतर्राष्ट्रीय डाकका इजारा रखनेवाली कंपनियां, इत्यादि सब बातें इसीलिए की गयीं कि बड़े-बड़े महाजनोंके स्वार्थोंकी सिद्धि हो। जब सारे यूरोपीय राज्योंको कर्ज देनेवाला कोई धन-कुबेर किसी रेल-लाइनमें पूंजी लगाता है तो उन राज्योंके मंत्री, जो उसके 'वफादार प्रजाजन' होते हैं, वही काम करेंगे जिससे उसकी कमाईमें 'बढ़ंती' हो।

जिस संयुक्तराष्ट्रको सत्तावादी लोग आदर्श लोकतंत्र राज्य बताते हैं उसीमें रेलोंकी हर बातमें अत्यंत घृणित धोखेबाजी घुसी हुई है। अगर किसी एक कंपनीका किराया दूसरी कंपनीसे सस्ता है, जिससे दूसरी कंपनी मुकाबिलेमें टिक नहीं सकती, तो प्रायः इसका कारण यही है कि राज्यने उस कंपनीको जमीन मुफ्त दे दी है। हालमें अमेरिकाके गेहूं के व्यापारके संबंधमें कुछ कागजात प्रकाशित हुए थे। उनसे पूरी तरह प्रकट होता है कि सबल द्वारा निर्बलका शोषण होनेमें राज्यका कितना हाथ था। यहां भी यही देखनेमें आता है कि राज्यकी सहायतासे संचित पूंजीकी शक्ति दसगुनी और सौगुनी हो गयी। फलतः जब हम देखते हैं कि रेलवे कंपनियोंके संघ (Syndicates), जो आपसी समझौतेके परिणाम हैं, बड़ी कंपनियोंके मुकाबिलेमें अपनी छोटी कंपनियोंकी रक्षा करनेमें सफल हुए हैं, तब हमें आपसी समझौतेकी सहज शक्तिका पता लगता है। इसके द्वारा तो राज्यकी कृपापात्र सर्वशक्तिमती पूंजीका भी मुकाबिला किया जा सकता है।

यह एक सच्ची बात है कि बड़ी कंपनियोंकी ओर राज्यका पक्षपातके होते हुए भी छोटी कंपनियां जीवित हैं। फ्रांस यद्यपि केंद्रीकरणका देश है फिर भी वहां हमें पांच या छः बड़ी कंपनियां ही दिखाई देती हैं। पर ग्रेटब्रिटेनमें वे एकसौ दससे भी अधिक हैं। इनका आपसका मेल काफी

अच्छा है और माल-मुसाफिरको जल्दी पहुंचा देनेका प्रबंध भी फ्रेंच और जर्मन कंपनियोंसे निश्चयपूर्वक अच्छा है।

फिर सवाल यह नहीं है। बड़ी पूंजी तो राज्यका अनुग्रह पाकर सदा छोटी पूंजीको कुचल सकती है, यदि ऐसा करना राज्यके लिए लाभदायक हो। पर हमारे लिए तो महत्त्वकी बात यह है कि जो समझौता यूरोपकी रेल-लाइनोंकी मालिक सैकड़ों कंपनियोंके बीच हुआ वह विविध संस्थाओंके लिए कानून बनानेवाली किसी केंद्रीय सरकारके हस्तक्षेपके बिना ही हुआ। वह समझौता उन सम्मेलनोंके जरिये कायम रहा जिनमें विभिन्न रेलवे कंपनियोंके प्रतिनिधि अपनी-अपनी कंपनियोंके लिए कानून नहीं किंतु प्रस्ताव तैयार करनेके लिए आते हैं और उन तजवीजोंपर बहस करके अपनी-अपनी कंपनीमें पेश करते हैं। यह तो एक नया सिद्धांत है जो सब प्रकारके राज्य-विषयक सिद्धांतों—एकतंत्र-शासन या प्रजातंत्र-शासन, निरंकुश शासन या प्रतिनिधि-शासन—से बिलकुल भिन्न है। यह एक नयी रीति है जो यूरोपकी परंपरामें चुपके से घुस आयी पर अब वहां जम गयी है।

३

राज्य-सत्ताके प्रेमी समाजवादियोंने भी बहुधा अपने लेखोंमें पूछा है—"क्यों जी, फिर आपके भावी समाजमें नहरोंसे होनेवाली आमद-रफ्त का नियंत्रण कौन करेगा? अगर आपके किसी अराजक साम्यवादी 'काम-रेड'के मनमें यह बात आयी कि वह नहरके बीचमें अपना बजरा खड़ा कर दे और हजारों नावोंका आना-जाना रोक दे, तो उसे अकलके रास्ते-पर कौन लायेगा?"

हमें यह कल्पना कुछ ऊटपटांगसी मालूम होती है। फिर भी यह शंका उठ सकती है कि "यदि कोई एक ग्राम-पंचायत, म्युनिसिपलिटी या इनका संघ अपने बजरोंको दूसरेसे पहले ले जाना चाहे, तो वह अपने पत्थर-लदे बजरोंसे ही नहरको रोक रक्खेगा और दूसरे ग्राम या नगरके लिए

आवश्यक गेहूंको रास्ता न मिलेगा। उस अवस्थामें सरकार के सिवा गमनागमनका नियंत्रण और कौन करेगा ?"

परंतु वास्तविक जीवनके अनुभवने दिखा दिया है कि और बातों की तरह यहां भी सरकारकी आवश्यकता नहीं है। स्वेच्छासे किया हुआ समझौता और संगठन उस अनीतिमय और खर्चीली व्यवस्था (राज्य) की जगह काम करेगा और उससे अच्छा काम करेगा।

हालैंडके लिए नहरें बड़ी जरूरी चीज हैं। वे उसकी सड़कें हैं। जो कुछ माल-असबाब हमारी सड़कों और रेलोंसे आता जाता है वह हालैंडमें नहरोंसे नावोंपर जाता है। वहां आपको अपनी नावें दूसरोंसे पहले निकालनेके लिए लड़नेका कारण मिल सकता है। वहां गमनागमनके नियंत्रणके लिए सरकार सचमुच दखल दे सकती है।

फिर भी ऐसा होता नहीं। बहुत जमाना पहले हालैंड-वासियोंने इस बातको अधिक व्यावहारिक ढंगसे तै कर लिया। उन्होंने नाववालोंके संघ बना लिये। ये स्वेच्छासे बने हुए संघ थे और नाव चलानेकी आवश्यकता से ही बने थे। नाववालोंके रजिस्टरमें जिस क्रमसे नाम लिखे गये उसी क्रमसे नावोंको गुजरनेका हक होता था। वे अपनी-अपनी बारीसे एकके बाद एक जाती थीं। संघसे निकाल दिये जानेके दंडसे डरकर कोई दूसरोंसे पहले अपनी नाव लेजानेकी कोशिश न करता था। निश्चित दिनसे अधिक घाटपर कोई ठहर न सकता था। किसी नाव-मालिकको उतने समयमें ले जानेके लिए कोई माल न मिलता तो उसे अपनी खाली ही नाव लेकर नये आनेवालोंके लिए जगह खाली कर देनी पड़ती। इस प्रकार रास्ता रुक जानेकी कठिनाई दूर हो गयी, यद्यपि नावोंके-मालिकोंकी प्रतिस्पर्धा बनी रही। यह प्रतियोगिता न होती तो उनका समझौता और भी मित्रतापूर्ण होता।

कहनेकी आवश्यकता नहीं कि जहाज-मालिकोंका उस संघमें शामिल होना या न होना उनकी इच्छापर था। पर उनमेंसे अधिकांशने उसमें सम्मिलित होना ही पसंद किया। इसके अतिरिक्त इन संघोंसे इतने अधिक लाभ थे कि ये राइन, वेज़र, और ओडर नदियोंपर और बर्लिन

तक फैल गये थे। ये नाववाले इस इंतजारमें बैठे नहीं रहे कि कोई बिस-मार्क आये, हालैंडको जीतकर जर्मनीमें मिलाले, और वह अपनी व्यवस्था से 'सुप्रीम हेड कौंसिलर ऑव दि जेनेरल स्टेट्स केनाल नेविगेशन' (राजकीय नहरोंका प्रधान अधिकारी) नामक किसी पदाधिकारीको नियुक्त करे, जिसकी आस्तीनोंपर उतनी ही सुनहरी धारियां हों जितनी लंबी उसकी उपाधि हो। उन संघोंने एक अंतर्राष्ट्रीय समझौता कर लेना पसंद किया। इसके सिवाय जिन जहाज-मालिकोंके जहाज जर्मनी और स्कॅंडिनेविया तथा रूसके बीच चलते थे वे भी बाल्टिक सागरके गमना-गमनको व्यवस्थित करने और जहाजोंके पारस्परिक' व्यवहारमें कुछ अधिक सामंजस्य पैदा करनेकी गरजसे इन्हींके संघोंमें सम्मिलित हो गये। ये संघ स्वेच्छासे बने और इनमें सम्मिलित होनेवाले अपनी मर्जीसे ही शामिल हुए हैं। सरकारोंसे इनकी कुछ भी समानता नहीं है।

फिर भी बहुत संभव है कि यहां भी बड़ी पूंजी छोटी पूंजीको दबाती हो। संभव है इस संघमें भी एकाधिपत्यकी प्रवृत्ति मौजूद हो, खासकर उस अवस्थामें जब उसे राज्यकी ओरसे खासा संरक्षण मिलता हो। राज्यने तो यहां भी अपनी टांग अड़ाही दी। हमें यह न भूलना चाहिए कि ये संघ ऐसे लोगोंके प्रतिनिधि हैं जिन्हें अपने व्यक्तिगत स्वार्थकी ही रक्षा करनी होती है; यदि उत्पत्ति, उपभोग और विनिमयका समाजी-करण हो जानेसे ये जहाज-मालिक समाजवादी प्रादेशिक सरकारोंके किसी संघसे, या अपनी आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिए अन्य बीसियों संस्थाओं से संबद्ध होते, तो अवस्था दूसरी ही होती। जहाज-मालिकोंका संघ समुद्रपर शक्तिशाली होते हुए भी स्थलपर कमजोर होगा, और रेलों, कारखानों और दूसरे संघोंके साथ समझौता करनेके लिए उसे अपने दावे घटा देने होंगे।

जो हो, भविष्यमें क्या होगा, इसपर बहस न करके हम एक और स्वेच्छासे बनी संस्थाका जिक्र किये देते हैं जो सरकारके बिना चलती है।

जब जहाजों और नावोंकी चर्चा चल रही है तो हम एक ऐसी संस्थाका वर्णन क्यों न कर दें जो उन्नीसवीं सदीकी उत्कृष्टतम संस्थाओंमें है और जिसपर हम सचमुच गर्व कर सकते हैं। वह है 'इंगलिश लाइफ-बोट एसोसिएशन।'

यह तो सबको मालूम है कि हर साल एक हजारसे भी अधिक जहाज इंगलैंडके समुद्र-तटपर नष्ट होते हैं। गहरे समुद्रमें तो अच्छे जहाजके लिए तूफानका भय कम ही होता है, किनारेके पास ही खतरा अधिक रहता है। कभी क्षुब्ध समुद्र जहाजके पिछले भागको तोड़ देता है; कभी अचानक 'हवाका तेज झोंका आ जाता है और जहाजके मस्तूल और बादबान उड़ा ले जाता है; कहीं ऐसी प्रखर जल-धारा होती हैं जिनमें जहाज बे-काबू हो जाता है; कहीं पानीमें चट्टानोंका सिलसिला या रेता होता है, जिसपर जहाज फंस जाता है।

प्राचीन कालमें भी समुद्र-तटके रहनेवाले इसलिए आग जलाया करते थे कि उसे देख जहाज वहां आ जायं और पानीके अंदरकी चट्टानों पर चढ़ जायं, और फिर वे उन्हें लूटलें। पर उस समय भी वे नाविकोंकी जान बचानेका सदा प्रयत्न करते थे। वे किसी जहाजको मुसीबतमें पड़ा देखते तो तुरत अपनी नावें डाल देते और भग्न-पोतकी नाविकोंकी सहायताके लिए पहुँच जाते थे। अकसर खुद उन्हें भी जल-समाधि मिल जाती थी। समुद्र-तटकी हर एक कुटियाकी वीरताकी कहानियां हैं, जिनमें पुरुषों और स्त्रियोंने विपद्ग्रस्त मल्लाहोंकी जान बचानेमें अपनी जान जोखिममें डाली थी।

निस्संदेह राज्य और विज्ञानवेत्ताओंने जहाजी दुर्घटनाओंकी संख्या घटानेमें थोड़ी-बहुत सहायता पहुंचायी है। सिग्नलों, दीप-स्तंभों नक्शों और वायुमंडल तथा मौसिम संबंधी सूचनाओंने उन्हें बहुत कम कर दिया है। फिर भी हरसाल हजारों जहाजों और कई हजार आदमियों की बलि तो चढ़ाही जाती है।

इस कार्यके लिए कुछ सत्पुरुष आगे बढ़े। वे खुद अच्छे नाविक और जहाजरान थे। इसलिए उन्होंने ऐसी रक्षा-नौका-

(लाइफ बोट) का आविष्कार किया जो तूफानमें भी न टूटे, न उलटे। वे अपने कार्यमें जनताकी दिलचस्पी बढ़ाने और वैसी नौकाएं बनाने तथा उन्हें तटपर जहां आवश्यक हो वहां रखनेके लिए धन-संग्रह करनेके काममें लग गये।

ये लोग चरमपंथी राजनीतिज्ञ तो थे नहीं जो सरकारका मुंह ताकते। उन्होंने सोचा कि इस उद्योगकी सफलताके लिए स्थानीय नाविकोंके सहयोग, उत्साह, खास कर उनके स्थानिक ज्ञान और आत्मत्याग-भावकी आवश्यकता है। उन्होंने यह भी सोचा कि जो लोग संकटकी सूचना मिलते ही रातमें अपनी नाव क्षुब्ध समुद्रमें डाल देंगे, अंधकार या ऊंची लहर देखकर झिचकेंगे नहीं, और विपद्ग्रस्त जहाजतक पहुंचनेके लिए पांच, छः या दस घंटेतक भी प्रयास करते रहेंगे—जो दूसरोंकी जान बचानेके लिए अपनी जान खतरेमें डालनेको तैयार होंगे—ऐसे आदमियों को प्राप्त करनेके लिए एकता और आत्मत्यागकी भावना होनी चाहिए, जो बिगड़ बातोंसे खरीदी नहीं जा सकती। इसलिए रक्षा-नौकाओंका यह आंदोलन पूर्णतः स्वेच्छाप्रसूत था, और वैयक्तिक प्रेरणा तथा समझौतेसे ही उत्पन्न हुआ था। समुद्रके किनारे सैकड़ों स्थानीय संघ बन गये। संघकी नींव डालनेवालोंमें इतनी समझ थी कि वे मालिक बनकर नहीं रहे। उन्हें विश्वास था कि मछुओंकी कुटियोंमें भी समझदारी मिल सकती है। जब कभी कोई धनिक किसी गांवके किनारे रक्षा-नौकाका स्टेशन बनानेके लिए १००० पौंड भेज देता था और वह स्वीकार कर लिया जाता था, तो दाता स्थान पसंद करनेका काम स्थानीय मछुओं और नाविकोंपर ही छोड़ देता था।

नयी नावोंके नमूने जलसेना-विभागमें पेश नहीं किये गये। लाइफ-बोट एसोसिएशनकी एक रिपोर्टमें लिखा है—"चूंकि रक्षा-नौका चलाने वालोंको अपनी नावपर पूरा भरोसा होना आवश्यक है, इसलिए कमेटी इस बातका खास तौरसे ध्यान रखेगी कि नौकाएं उन्हें चलानेवालोंकी प्रकाशित इच्छाके अनुसार ही बनें और उनके बताये हुए साधनोंसे युक्त हों।" इसका फल यह है कि हर साल उनमें नये-नये सुधार होते

रहते हैं। कमेटियां और स्थानीय संघ बनाकर स्वयंसेवक ही सब काम चलाते हैं। सारा काम आपसके सहयोग और समझौतेसे होता है। यह है अराजकोंकी कार्यावली! इसके सिवाय करदाताओंसे वे एक कौड़ी नहीं मांगते, पर सालमें ४०,००० पौंडतक उन्हें चंदेसे मिल जाता है।

यदि पूछा जाय कि काम कितना हुआ तो उसका जवाब यह है— सन् १८९१ में एसोसिएशनके पास २९३ रक्षा-नौकाएं थीं। उस वर्ष उसने डूबे हुए जहाजोंके ६०१ नाविकों और ३३ छोटे-बड़े जहाजोंको बचाया। जबसे संस्थाका जन्म हुआ तबसे उसने ३२,६७१ आदमियोंकी जान बचायी है।

१८८६में तीन रक्षा-नौकाएं और उनमें सवार आदमी समुद्रमें डूब गये। तब सैकड़ों नये स्वयंसेवकोंने अपने-अपने नाम लिखाये और अपने स्थानीय संघ बना लिये। उस समयके आंदोलनका फल यह हुआ कि बीस नयी रक्षा-नौकाएं बन गयीं। इस बीच हमें यह भी जान लेना चाहिए कि यह एसोसिएशन हर साल मछुओं और नाविकोंको अच्छे-अच्छे बैरोमीटर (वायुभार-सूचक यंत्र) बाजारसे तिहाई मूल्यपर भेजता है। यह वायुमंडल-विज्ञानका प्रचार करता है और वैज्ञानिकोंके बताये हुए मौसिमके आकस्मिक परिवर्तनोंकी पूर्व-सूचना लोगों को देता है।

हम फिर बता देते हैं कि कोई लाट-पादरी इन सैकड़ों कमेटियों और स्थानीय संघोंको बनाने नहीं गया था। उनमें केवल स्वयं-सेवक, रक्षा-नौकाए चलानेवाले और इस कार्यमें रुचि रखनेवाले लोग ही हैं। केंद्रीय कमेटी केवल पत्र-व्यवहारका केंद्र है; वह किसी बातमें दखल नहीं देती।

यह सच है कि जब किसी जिलेमें शिक्षा या स्थानीय कर लगानेके किसी प्रश्नपर वोट लिये जाते हैं तो वहांकी इंग्लिश लाइफ बोट एसोसिएशनकी कमेटियां, अपनी उस हैसियतसे, उन विवादोंमें कोई भाग नहीं लेतीं। खेद है कि निर्वाचित संस्थाओंके सदस्य इस नम्रताका अनुकरण नहीं करते! पर साथ ही ये वीर पुरुष समुद्रमें आदमियोंकी जान बचानेके बारेमें उन लोगोंको कोई कानून नहीं बनाने देते जिन्होंने कभी

तूफ़ानका सामना नहीं किया। खतरेकी पहली सूचनापर ही वे अपनी नावें लेकर दौड़ पड़ते हैं। उनके पास सुनहरे कामकी वर्दियां नहीं हैं, पर उनमें दया और सहृदयता भरपूर है।

अब इसी प्रकारकी एक दूसरी संस्था 'रेड क्रॉस सोसायटी' या 'स्वस्तिक संघ' की मिसाल लीजिए। नाम कुछ भी हो, हमें तो उसका काम देखना है।

मान लीजिए पचास साल पहले कोई आदमी कहता—"राज्य रोज बीस हजार आदमियोंका वध करने और पचास हजारको जख्मी करनेकी ताक़त रखता है, पर वह अपने ही हाथों घायल हुए लोगोंकी सहायता करनेमें असमर्थ है। इसलिए जबतक युद्धका अस्तित्व है तबतक अपनी निजकी प्रेरणासे लोग इस काममें पड़ें और दयाभाव रखनेवाले लोग इस परोपकार-कार्यके लिए अंतर्राष्ट्रीय संघ बना लें!" जो आदमी ऐसी बात मुंहसे निकालनेका साहस करता उसका कितना मजाक उड़ाया जाता! पहले तो लोग उसे हवाई किले बनानेवाला कहते। यदि वह इससे चुप न होता तो उससे कहते—"यह कितनी ऊटपटांग बात है! तुम्हारे स्वयं-सेवक वहां तो पहुंचेंगे नहीं जहां उनकी सबसे ज्यादा जरूरत होगी। तुम्हारे स्वयंसेवक-अस्पताल तो किसी निरापद स्थानमें केंद्रित होंगे और मैदानोंके चलते-फिरते अस्पतालोंमें कोई सामान ही न होगा। तुम्हारे जैसे स्वप्न देखनेवाले लोग यह भूल जाते हैं कि उन में काम करने वालोंमें भी राष्ट्रगत ईर्ष्या-द्वेष होगा। और वे गरीब सिपाहियोंको यों ही बिना दवा-दारू के मरने देंगे।" जितने मुंह उतनी बातें कही जातीं। लोगोंको इस ढंगकी बातें करते किसने नहीं सुना है?

पर वास्तवमें हुआ क्या, यह हमें मालूम है। सब जगह, सब देशोंमें, हजारों स्थानोंपर लोगोंने स्वेच्छासे स्वस्तिक-संघ बना लिये। जब फ्रांस-जर्मनीमें १८७०-७१ का युद्ध छिड़ा तो स्वयंसेवक कार्यमें जुट गये। स्त्री-पुरुष सभी सेवाके लिए आगे आये। हजारों स्थिर और चलते-फिरते अस्पतालोंका संगठन हुआ। रसद, कपड़ा और घायलोंके लिए मरहम-पट्टीका सामान ले जानेवाली ट्रेनें छोड़ी गयीं। इंगलैंडकी कमेटीने भोजन, वस्त्र और औज़ारोंकी भरपूर सहायता भेजी, और युद्धसे उजड़े हुए

प्रदेशोंमें खेतीके लिए बीज, हल खींचनेवाले जानवर, भापके हल और उन्हें चलानेके लिए आदमीतक भेजे। गुस्ताव मोनिये लिखित 'La Croix Rouge' नामक पुस्तक देख लीजिए। आपको देखकर आश्चर्य होगा कि कितना भारी काम किया गया।

जो भविष्यवक्ता दूसरोंके साहस, समझदारी और बुद्धिको सदा ही अस्वीकार करते हैं और जो डंडेके जोरसे दुनियापर हुकूमत करनेकी योग्यता केवल अपनेमें ही मानते हैं, उनकी एक भी भविष्यद्वाणी पूरी न उतरी। स्वस्तिक-स्वयंसेवकोंकी लगनकी जितनी भी तारीफ की जाय, कम होगी। बड़े-से-बड़े खतरेकी जगहोंपर काम करनेको वे उत्सुक रहते थे। जब प्रुशियन सेना बढ़ने लगी तो नेपोलियनके वेतन-भोगी डाक्टर अपने कम्पौंडरों आदिके साथ भाग खड़े हुए। पर स्वस्तिक-स्वयं-सेवकोंने गोलोंकी वर्षामें भी अपना काम जारी रक्खा। बिस्मार्क और नेपोलियनके अफसरोंकी पाशविकताको सहन करते हुए वे सब राष्ट्रोंके घायलोंकी समान भावसे सेवा करते रहे। हालैंड, इटली, स्वीडेन, बेल्जियम, और चीन-जापानके लोगोंने भी बड़ी खूबीसे मिलकर काम किया। जब जैसी आवश्यकता दिखाई देती उसके अनुसार वे अपने अस्पतालोंको विभिन्न स्थानोंमें बांट देते थे। वे अपने काममें एक दूसरेसे प्रति-स्पर्धा करते थे, खासकर अस्पतालोंकी सफाईमें। अब भी ऐसे अनेक फ्रांस-वासी हैं जो स्वस्तिक अस्पतालोंके डच या जर्मन स्वयं-सेवकोंकी स्नेह-भरी सेवाका आंतरिक कृतज्ञताके साथ बखान करते हैं। परंतु सत्तावादीकी दृष्टिमें इस सबका मूल्य ही क्या है? उसका आदर्श तो है राज्यसे वेतन पानेवाला फौजी डाक्टर। नर्सें अगर सरकारी कर्मचारी न हुईं तो वह स्वस्तिक-संघ और उसके बढ़िया अस्पतालोंको क्या समझता है?

स्वस्तिक संगठन अभी कलका बच्चा है। फिर भी इसके मेंबरोंकी संख्या लाखों है। इसके पास चलते-फिरते अस्पताल हैं, अस्पताली ट्रेनें हैं, वह घावोंके इलाजके नये-नये तरीके निकालता है। और यह है कुछ लगनवाले व्यक्तियोंके अपने आप पैदा हुए उत्साहका फल।

कहा जा सकता है कि इस संगठनसे राज्यका भी तो संबंध है। बेशक, राज्योंने इस संस्थाको अपने कब्जेमें करनेके लिए उसपर हाथ रखा है। इसकी प्रबंधक समितियोंके अध्यक्ष वे लोग हैं जिन्हें खुशामदी शाही खानदानके बताते हैं। सम्राट् और सम्राज्ञियां अपने राष्ट्रके संघोंकी खूब सरपरस्ती करती हैं। पर इस संगठनकी सफलताका कारण यह संरक्षण नहीं है। उसका कारण हैं प्रत्येक राष्ट्रकी हजारों स्थानीय कमेटियां, व्यक्तियोंका उद्योग और उन लोगोंकी लगन जो युद्धमें घायल होनेवालोंकी सेवा करना चाहते हैं। और यह लगन बहुत अधिक हो जाय, यदि राज्य इसमें टांग अड़ानेकी हिमाकत न करे।

जो हो, १८७१ के युद्धमें घायलोंकी सेवाके लिए अंग्रेजों और जापानियों, स्वीडनवालों और चीनवासियोंने जो सहायता भेजी वह किसी अंतर्राष्ट्रीय संचालक-मंडलके हुक्मसे नहीं भेजी। आक्रांत प्रदेश और युद्ध-क्षेत्रमें जो अस्पताल खोले गये वे किसी अंतर्राष्ट्रीय मंत्रिमंडलकी आज्ञासे नहीं खुले। यह तो प्रत्येक देशसे आये हुए स्वयं-सेवकोंकी अपनी ही प्रेरणा और प्रयत्नसे हुआ। मौकेपर पहुंचनेके बाद वे एक-दूसरेसे, जैसा कि सब राष्ट्रोंके चरम-पंथी राजनीतिज्ञोंका अनुमान था, गुथ नहीं गये, किंतु देश-राष्ट्रके भेदोंको भूलकर काममें जुट गये।

हमें इसका खेद हो सकता है कि इतना बड़ा प्रयास ऐसे बुरे कामके सहायतार्थ करना पड़ा। मगर कवि-कल्पित बालककी भांति हम भी पूछ सकते हैं—"अगर बादमें उसकी मरहम पट्टी करनी है तो फिर किसीको चोट पहुंचाते ही क्यों हो?" पूंजीपतिकी शक्ति और मध्यमवर्गके अधिकारके नाशका प्रयत्न करके हम युद्ध नामधारी जन-संहारकी समाप्ति करना चाहते हैं, और हमारी दृष्टिसे अधिक अच्छा हो कि स्वस्तिक-स्वयंसेवक (हमारे साथ) युद्धका ही अंत करानेमें अपनी शक्ति लगायें। पर इस विराट संगठनका जिक्र हमने इस बातकी एक और मिसालके तौरपर किया है कि स्वेच्छासे किये हुए समझौते और सहायतासे क्या कुछ हो सकता है।

नर-संहारकी कलासे लिये हुए उदाहरण यदि हम देने लगें तो उनका

कभी अंत न होगा। अतः केवल उन समितियोंका उल्लेख कर देना काफी होगा जो जर्मन सेनाके बलका मुख्य कारण हैं। उसके बलका आधार केवल उसका अनुशासन नहीं है, जैसा कि आम तौरपर समझा जाता है। हमारा तात्पर्य उन समितियोंसे है जो युद्धोपयोगी ज्ञानका प्रचार करती हैं।

सैनिक मित्रताके उद्देश्यसे हुए एक पिछले सम्मेलनमें २४५२ समितियों से, जिन्होंने आपसमें मिलकर संघ बना लिया था और जिनकी कुल सदस्य-संख्या १,५१,७१२ थी, प्रतिनिधि आये थे। इनके अतिरिक्त लक्ष्यवेधन, सैनिक खेल, युद्ध-कलाके खेल और भौगोलिक अध्ययनकी बहु-संख्यक समितियां हैं। इनमें ही जर्मन-सेना युद्ध-कला सीखती है, न कि छावनियोके स्कूलोंमें। सब प्रकारकी समितियोंका यह एक जबर्दस्त जाल है। ये समितियां अपने-आप बनती हैं, संगठित और परस्पर-संबद्ध होती हैं, और बहस-मुबाहसा, भौगोलिक अन्वेषण आदि करती हैं। इनमें सैनिक और असैनिक, भूगोलवेत्ता और व्यायाम-विशारद, खिलाड़ी और विशेषज्ञ सभी तरहके लोग हैं। ये स्वेच्छा-प्रसूत और स्वाधीन संस्थाएं ही जर्मन सेनाकी रीढ हैं।

इन समितियोंका उद्देश्य घृणित है—जर्मन साम्राज्यका पोषण करना। पर इससे हमें मतलब नहीं। हमारा प्रयोजन तो केवल यह दिखलाना है कि यद्यपि सैनिक संगठन ही 'राज्यका महान ध्येय' है, पर इस दिशामें भी, जितना ही वह समुदायोंके स्वेच्छापूर्वक समझौते और व्यक्तियोंकी स्वतंत्र-प्रेरणा और प्रयत्नपर छोड़ दिया जाता है उतनी ही अधिक सफलता मिलती है।

इस प्रकार युद्धसे संबंध रखनेवाली बातोंमें भी आपसी समझौतेकी जरूरत होती है। अपने दावेके सबूतमें हम इन संघटनोंके नाम और दे सकते हैं—स्विटजरलैंडका शोधक दल जिसके सदस्य पहाड़ी दर्रोंका ब्यौरेवार अध्ययन करते हैं, फ्रांसका वायुयान-दल, ब्रिटेनके तीन लाख स्वयंसवकोंका दल, ब्रिटिश नैशनल आर्टिलरी (तोपखाना) एसोसिएशन, वह दल जो इंगलैंडके समुद्र-तटकी रक्षाके लिए बन रहा है, साइक्लिस्ट कोर और निजी मोटरों तथा आपकी नावोंके नये संगठन।

सब जगह राज्य अपना अधिकार त्याग रहा है और अपने पवित्र कर्त्तव्य साधारण जनोंको सौंप रहा है। सब जगह स्वेच्छापूर्वक स्थापित संगठन उसकी अधिकार-सीमामें घुस रहा है। पर जो उदाहरण हमने दिये है उनसे तो हमें उस समयकी अवस्थाकी झलक-भर मिलती है जब राज्यका अस्तित्व मिट जायगा और हमारे सब काम आपसी समझौतेसे होने लगेंगे।

: १२ :

आपत्तियां

१

अब हम उन मुख्य-मुख्य आपत्तियोंकी समीक्षा करेंगे जो साम्यवाद के विरुद्ध उठायी जाती हैं। उनमेंसे अधिकांश तो महज गलतफहमीसे पैदा हुई हैं, पर वे कुछ महत्त्वके प्रश्न उठाती हैं इसलिए विचारणीय हैं।

सत्तावादी साम्यवादकी आपत्तियोंका उत्तर हमें नहीं देना है—हम खुद उन्हें ठीक मानते हैं। व्यक्तिके उद्धार, वैयक्तिक स्वाधीनताकी स्थापनाके लिए सभ्य राष्ट्र इतनी लंबी लड़ाई लड़ और उसमें इतना कष्ट उठा चुके हैं कि वे अपनी पिछली कमाईसे दस्तबरदार नहीं हो सकते, और न ऐसे राज्यको सहन कर सकते हैं जिसके अस्तित्वका नागरिकके जीवनकी छोटी-सी-छोटी बातोंमें भी अनुभव होता हो। यदि सत्तावादी साम्यवादी समाज कभी स्थापित हो भी जाय तो वह टिक न सकेगा। जनताका असंतोष या तो शीघ्र उसका अंत कर देगा, या उसे स्वाधीनताके सिद्धांतोंपर नये रूपमें अपना संगठन करनेको मजबूर करेगा।

हम तो उस अराजक साम्यवादकी बात कहने जारहे हैं जो व्यक्ति की पूर्ण स्वाधीनताको मानता है, किसी शासन-शक्तिकी आवश्यकता स्वीकार नहीं करता, और जो आदमीसे काम लेनेके लिए जोर-जबर्दस्ती का सहारा नहीं लेता। हम प्रश्नके आर्थिक पहलूपर ही विचार करेंगे और देखेंगे कि क्या ऐसे समाजका, जिसके सदस्य वैसे ही आदमी होंगे जैसे आज हैं—न उनसे अच्छे, न बुरे, न उनसे अधिक परिश्रमी, न कम—सफल विकास होना संभव है।

यह शंका तो सर्वविदित है कि "अगर हर एक आदमीके जीवित रहनेका प्रबंध हो जाय, और पैसा कमानेकी आवश्यकता मनुष्यको

काम करनेके लिए मजबूर न करे, तो कोई भी काम न करेगा। हर आदमी अपने कामका भार दूसरेपर डाल देगा, अगर उसे खुद करने की मजबूरी न हो।" इस बारे में पहली बात तो यह है कि यह आपत्ति बड़ी गैर-जिम्मेदारीके साथ उठायी जाती है। इतना सोचनेकी जरूरत भी नहीं समझी जाती कि इस एतराजमें असली सवाल महज यह मालूम कर-लेना है कि मजदूरी-प्रथाके जो फल बताये जाते हैं वे सचमुच ठीक तौरपर उससे मिलते हैं या नहीं, और दूसरे अब भी मजदूरी की प्रेरणासे किये जानेवाले कामसे जो उत्पत्ति होती है, स्वेच्छासे किये हुए श्रमसे क्या उसकी अपेक्षा अधिक उत्पत्ति नहीं होती? यह ऐसा प्रश्न हैं जिसपर ठीक-ठीक विचार करनेके लिए गंभीर अध्ययनकी आवश्यकता है। यद्यपि वैज्ञानिक और शास्त्रीय विषयोंमें लोग इससे बहुत कम महत्त्वके और कम पेचीदा प्रश्नोंपर भी अपनी राय गहरी खोज और सावधानीसे तथ्य इकट्ठे करने तथा उनकी छान-बीन कर लेनेके बाद ही देते हैं, पर इस प्रश्नपर वे तुरत अपना 'कतई फैसला' सुना देंगे जिसकी कहीं 'अपील' भी न हो सके। कोई एक घटना, जैसे अमेरिकाके किसी समाजवादी संघकी असफलता, उनके पक्की राय कायम कर लेनेके लिए काफी हैं। वे उस वकीलकी तरह हैं जिसकी दृष्टिसे विपक्षका वकील बहसमें उसका प्रतिद्वंद्वी, उसे खाहमखाह तंग करनेवाला भर है, मामलेके एक पक्ष या उसके विरुद्ध मतका प्रतिनिधि नहीं। और कोई मुंहतोड़ जवाब मिल जाता है तो फिर वह अपने पक्षका समर्थन करना भी जरूरी नहीं समझता। इस कारण, मानव-श्रमका कमसे-कम अपव्यय करके समाजको उपयोगी वस्तुएं अधिक-से-अधिक परिमाणमें मिलनेके लिए सबसे अधिक अनुकूल परिस्थिति क्या हो सकती है—इस प्रश्नका, जो सारे अर्थशास्त्रका मुख्य आधार है, अध्ययन आगे नहीं बढ़ पाता। या तो लोग सुनी-सुनाई बाजारी बातोंको दुहराया करते हैं, या हमारे दावोंके अज्ञानका बहाना बना लेते हैं।

इस बारेमें सबसे मारकेकी बात यह है कि पूंजीवादी अर्थशास्त्रमें भी आजकल कुछ ऐसे लेखक हैं जो अपने शास्त्रके प्रवर्त्तकोंके इस

'निर्भ्रांत' सिद्धांतपर कि 'भूखका भय ही मुख्यतः मनुष्यको काम करनेके लिए प्रेरित करता है' शंका करनेको विवश हो रहे हैं। वे अनुभव करने लगे हैं कि उत्पत्तिमें कुछ 'सामूहिक तत्त्व' भी होता है, जिसकी अभी तक बहुत उपेक्षा की गयी है, और वह वैयक्तिक लाभसे अधिक महत्त्वका हो सकता है। मजदूरीके लिए किया जानेवाला काम घटिया होता है, आज-कलकी खेती और कल कारखानोंमें मानव-शक्तिका भीषण अपव्यय होता है, आराम-तलबोंकी संख्या दिन-दिन बढ़ रही है जो अपना काम दूसरोंपर लाद देते हैं, उत्पादन-कार्यमें उत्साहका अभाव अधिकाधिक स्पष्ट होता जारहा है—ये बातें अब 'प्रामाणिक' अर्थशास्त्रके अनुयायियोंके दिमागमें भी चक्कर लगाने लगी हैं। उनमें से कुछ सोचने लगे हैं कि हम गलत रास्तेपर तो नहीं चले आये। वह काल्पनिक प्राणी, जिसके बारेमें यह मान लिया गया था कि वह पैसे या मजदूरीके लालचसे ही काम करता है, वास्तवमें कहीं है भी। यह 'शास्त्र-विरुद्ध' मत विश्वविद्यालयोंमें भी पहुंच गया हैं, वह पुराण-पंथी अर्थशास्त्रकी पुस्तकोंमें भी पाया जाता है।

फिर भी वहुतसे समाजवादी सुधारक हैं जो आजभी व्यक्तिगत वेतनके पक्षपाती बने हुए है। वे मजदूरी-प्रथाके पुराने दुर्गकी रक्षा कर रहे हैं, यद्यपि उस दुर्गके पहलेके रक्षक उसका एक-एक बुर्ज आक्रमणकारियोंके हवाले करते जारहे हैं। उन्हें डर है कि दबाव न रहनेसे लोग काम न करेंगे।

पर हमारे जीवन-कालमें भी तो यह भय दो बार प्रकट किया जा चुका है। अमेरिकामें हबशी (नीग्रो) जातिको गुलामीसे छुटकारा मिलनेके पहले विरोधियोंने यही भय प्रकट किया था। इसके बाद रूसके रईसों और जमींदारोंने बंधुए किसानो या हलवाहों (Serfs) की मुक्तिके मौकेपर भी यही हल्ला मचाया था। हबशियोंकी आजादीका विरोधी कहता था कि "कोड़ेके बिना हबशी काम नहीं करनेका।" रूसी हलवाहोंका मालिक कहता था कि "मालिककी निगरानी न रही तो खेत परती हो रह जायंगे।" फ्रांसके सरदारोंकी भी १७८९में यही रट थी। यही मध्ययुग-

की रट थी, बल्कि यह रट उतनी ही पुरानी है जितनी पुरानी खुद दुनिया है। जब-जब किसी प्रचलित अन्यायको हटानेका यत्न किया जाएगा तब-तब यह चिल्लाहट सुनाई देगी। और हर बार असलियत उसे झूठी साबित कर देती है। १७९२ में फ्रांसके स्वतंत्रता-प्राप्त किसानोंने अपने पुरखोंकी अपेक्षा बहुत अधिक उत्साहसे खेती की, मुक्ति-प्राप्त हबशी आजकल अपने बाप-दादोंसे अधिक काम करता है, और रूसका किसान भी, जबसे उसे स्वतंत्रता मिली है तबसे बड़े जोशसे काम करता है। जहां जमीन उसकी अपनी है वहां वह जी-तोड़ मेहनत करता है। हबशियोंकी मुक्तिके विरोधीकी चिल्लाहट दास-स्वामियोंके लिए मूल्यवान् हो सकती है; पर खुद गुलामोंके लिए उसकी कितनी कीमत है यह वे ही जानते हैं, क्योंकि उन्हें उसका असली मतलब मालूम है।

इसके अतिरिक्त अर्थशास्त्रियोंने ही तो हमें यह बताया है कि मजदूरी पर काम करनेवाला अकसर मन लगाकर काम नहीं करता और जो आदमी जानता है, कि जितनी मेहनत मैं करूंगा उतनी ही मेरी कमाई बढ़ेगी वही खूब मेहनतसे काम करेगा और उसका श्रम अधिक उत्पादक भी होगा। व्यक्तिगत संपत्तिके सारे स्तोत्रोंका सार यही निकाला जा सकता है।

अर्थशास्त्री लोग जब व्यक्तिगत संपत्तिका गुण-गान करने लगते है तब वे कहते हैं कि जो भूमि पहले अनुत्पादक, दलदल और पथरीली थी वह उस समय अच्छी फस्लें देने लगती हैं जब कृषक उस भूमिका स्वामी बनकर खेती करने लगता है। पर इससे तो उनकी व्यक्तिगत संपत्तिका औचित्य किसी तरह सिद्ध नहीं होता। जब अर्थशास्त्री स्वयं स्वीकार करते हैं कि हमारी गाढ़े पसीनेकी कमाई दूसरोंकी जेबमें न चली जाय, इसका विश्वसनीय उपाय केवल यही है कि श्रम अथवा उत्पादनके साधनोंपर अपना कब्जा हो—और यह सही भी है—तो वे इसी बातको सिद्ध करते हैं कि जब मनुष्य स्वाधीन रूपमें काम करता है, जब उसने अपना धंधा आप पसंद किया हो, जब उसके काममें बाधा डालनेवाला कोई निरीक्षक न हो, और जब वह देखता है कि उसके श्रमका लाभ उसे और उसके जैसे अन्य श्रमिकोंको ही मिलता

है, आलसियोंको नहीं, तभी वह सबसे अधिक उत्पादन कर सकता है। उनकी दलीलोंसे इसके अतिरिक्त और कोई नतीजा नहीं निकाला जा सकता, और यही बात हम स्वयं मानते हैं।

श्रमके साधनोंपर किस तरहका कब्जा होना चाहिए, अर्थशास्त्री इस बारेमें अप्रत्यक्ष रूपसे इतना ही कहते हैं कि किसानको इस बातका इतमीनान होना चाहिए कि वह अपनी मेहनतसे जो माल पैदा करेगा और खेतका जो सुधार करेगा उसके लाभसे वह वंचित न होगा। इसके अतिरिक्त, यदि उन्हें यह साबित करना है कि व्यक्तिगत स्वामित्व ही अधिकारका सर्वोत्तम प्रकार है, और किसी तरहका कब्जा इष्ट नहीं है, तो उन्हें यह दिखाना चाहिए कि पंचायती स्वामित्वकी व्यवस्थामें जमीनसे उतनी उपज नहीं होती जितनी व्यक्तिगत अधिकारकी अवस्थामें होती है। पर इसे वे साबित नहीं कर सके हैं। वस्तुतः बात इसके विपरीत होती देखी गयी है।

वॉड (स्विटजरलैंड) प्रदेशके किसी पंचायती गांवकी मिसाल लीजिए। जाड़ेके दिनोंमें गांवके सब आदमी जंगलमें लकड़ी काटने जाते हैं। जंगल पंचायती है अर्थात् सबकी शामिल मिल्कियत है। 'श्रमके इन्हीं त्यौहारों'में लोगोंमें कामके लिए सबसे अधिक उत्साह दिखाई देता है, और मनुष्यकी शक्तिका सबसे अच्छा प्रदर्शन होता है। मजदूरीका यानी पैसेके लिए किया जानेवाला काम या व्यक्तिगत स्वामीके सारे प्रयत्न उसका मुकाबिला नहीं कर सकते।

अथवा रूसके किसी गांवको लीजिए। गांवके सभी मर्द-औरत किसी पंचायती खेतकी फसल काटने जाते हैं। उस वक्त आपको मालूम होगा कि यदि मनुष्य सार्वजनिक उत्पादनके लिए सबके साथ काम करे तो वह कितना पैदा कर सकता है। पुरुष अधिक-से-अधिक हंसिया फैलाकर काटनेमें एक-दूसरेसे प्रतिस्पर्धा करते हैं, और स्त्रियां उनके पीछे-पीछे बढ़ी आती हैं, जिसमें वे काटनेवालोंसे पीछे न छूट जायं। वह 'श्रमका त्यौहार' होता है। कुछ घंटोंमें ही सौ आदमी इतना काम कर डालते हैं जितना यदि वे अलग-अलग करते तो कई दिनमें न होता। मिलकर

काम करनेवाले इन लोगोंके सामने अलग रहकर काम करनेवाला खेत-मालिक कितना दयनीय मालूम होता है !

इस विषयमें हम बीसियों उदाहरण अमेरिकामें पहले पहुंचनेवालों या स्विटजरलैंड, जर्मनी, रूस और फ्रांसके कुछ गावोंसे दे सकते हैं। रूसमें कुछ राज, बढ़ई, मल्लाह, मछुए आदि मिलकर कोई काम लेते हैं और किसी बीचवालेकी मदद लिये बिना उपज या मजदूरी आपस में बांट लेते हैं। इंगलैंडके कारखाने भी इसकी मिसाल हो सकते हैं, जहां इसी उसूलसे (सबको इकट्ठी) मजदूरी दी जाती है। खानाबदोश जातियोंके बड़े-बड़े शामिल शिकारों और कुछ आदमी मिलकर संयुक्त रूपसे आजकल जो बहुतसे उद्योग-व्यापार करते हैं उनका भी इस सिल-सिलेमें जिक्र किया जा सकता है। प्रत्येक उदाहरणमें हम दिखा सकते हैं कि मजदूरीपर काम करनेवाले या अकेले काम करनेवाले वैयक्तिक मालिकके कार्यकी अपेक्षा मिलकर किया हुआ शिराकती काम कहीं अच्छा होता है।

सुख-प्राप्ति, अर्थात् शारीरिक, कला या सौंदर्य-संबंधी और नैतिक-आवश्यकताओंकी पूर्ति सदा मनुष्यके काम करनेके लिए सबसे बड़ी प्रेरणा रही है ? मजदूरीपर काम करनेवाला व्यक्ति कठिनाईसे भोजन-वस्त्रभर पैदा कर पाता है, पर स्वाधीन व्यक्ति उससे कहीं अधिक शक्ति और बुद्धि काममें लगाता है और उसकी अपेक्षा बहुत अधिक सामग्री उत्पन्न करता है, क्योंकि वह जानता है कि मैं जितना ही श्रम करूंगा उतनी ही अधिक सुख-सुविधा मेरी और दूसरोंकी बढ़ेगी। पहले प्रकारका श्रमी दरिद्रता और दुरवस्थाके ही विचारोंमें गर्क रहता है, और दूसरा भविष्यमें सुख-सुविधा पाने और अपने शौक-आरमान पूरे कर सकनेकी आशा रखता है। इसी अंतरमें सारा रहस्य है। इसलिए जो समाज यह चाहता है कि सब लोग सुखसे रहें, सबका जीवन सभी दृष्टियोंसे सफल-सार्थक हो सके, वह लोगोंको अपनी खुशीसे काम करनेकी सुविधा देगा। गुलामी और मजदूरीकी प्रथासे अबतक जो कुछ उत्पत्ति हुई है, स्वेच्छापूर्वक किया हुआ काम उससे कहीं अधिक उत्पा-दन करेगा, और वह उससे कहीं अच्छा भी होगा।

२

आजकल जीवित रहनेके लिए जो श्रम अनिवार्य है उसे हर एक आदमी दूसरेपर लादनेकी कोशिश करता है, और लोग समझते हैं कि सदा यही हाल रहेगा।

मनुष्य-जीवनके लिए जो काम अनिवार्य रूपसे आवश्यक है वह मुख्यतः हाथका या शारीरिक है। हम कलाकार हों या वैज्ञानिक, पर रोटी, कपड़े, सड़कें, जहाज, रोशनी आदि शारीरिक श्रमसे पैदा होनेवाली चीजोंके बिना किसीका भी काम नहीं चल सकता। इसके सिवा हमारी रुचियां-इच्छाएं कितनी ही उच्च कलामय या सूक्ष्म दार्शनिक क्यों न हों, उनकी पूर्ति तो शारीरिक श्रमसे ही हो सकती है और इसी श्रमसे, जो जीवनका आधार है, हर एक वचना चाहता है।

हम अच्छी तरह समझते हैं कि आजकी स्थितिमें यह अनिवार्य है।

कारण यह कि आजकल शारीरिक श्रम करनेका अर्थ होता है अपने आपको किसी अस्वास्थ्यकर कारखानेमें रोज दस या बारह घंटे बंद रखना और उसी काममें बीस या तीस वर्षतक, संभव है सारी जिंदगी, बंधे रहना।

उसका अर्थ है नाम-मात्रकी मजदूरी या वेतन मिलना, कल कैसे गुजारा होगा इसका कुछ ठीक न होना, कामके बिना बैठे रहना, अकसर रोटी-कपड़ेको मुहताज रहना, और अपने और अपने बच्चोंके बदले दूसरोंको खिलाने, पहनाने, उनका मन-बहलाव करने और उन्हें पढ़ाने-लिखानेके लिए चालीस साल काम करनेके बाद बहुधा किसी अस्पतालमें जाकर मर जाना।

उसके मानी होते हैं जीवनभर नीचा समझा जाना। राजनीतिज्ञ लोग शारीरिक श्रम करनेवालेकी कितनी ही बड़ाई क्यों न करते रहें, वह दिमागी काम करनेवालेसे सदा नीचा ही समझा जाता है। और जो आदमी दस घंटे कारखानेमें मशक्कत कर चुका हो उसके पास न इतना समय रहता है और न इतने साधन कि वह विज्ञान और कलाका

आनंद उठाये, या इनमें रस लेने लायक ही बन सके। उसे तो विशेषाधिकार-प्राप्त जनोंकी जूठनसे ही संतोष करना पड़ता है।

हम समझते है कि ऐसी अवस्थामें शारीरिक श्रम करना क्यों दुर्भाग्य या अभिशाप माना जाता है।

हम जानते हैं कि सब मनुष्योंका यही स्वप्न है—यही आकांक्षा है कि हम और हमारे बच्चे इस नीची दशासे ऊपर उठ जायं, अपने लिए 'स्वतंत्र' स्थिति बनालें, जिसका अर्थ यही तो होता है कि वे भी दूसरों के श्रमपर जीवित रहने लगें।

जबतक देहसे काम करनेवालों और दिमागसे काम करनेवालोंके दो पृथक्-पृथक् वर्ग रहेंगे तबतक यही हाल रहेगा।

जब मजदूरको मालूम है कि उसके भाग्यमें तो सदा छुटाई, गरीबी और कल क्या होगा इसकी चिंता लगी रहना ही है तो इस बेगार-जैसे काममें उसको क्या दिलचस्पी हो सकती है। इसलिए जब हम लाखों आदमियोंको रोज सवेरे उठकर हल-हथौड़ा सम्हालते देखते हैं तो उनके अध्यवसाय, अपने कार्यके प्रति उत्साह और मशीनकी तरह आज्ञापालन तथा भविष्यके लिए कोई आशा न रखते हुए भी इस दुःख-भरे जीवनका बोझ ढोते रहनेकी आदतपर आश्चर्य होता है। वे कभी यह स्वप्न भी नहीं देख सकते कि जिस मनुष्य-जातिके पास उदार प्रकृतिके सारे खजाने और ज्ञान-विज्ञान तथा कलाके सारे आनंद हैं और जो आजकल कुछ विशेषाधिकार प्राप्त व्यक्तियोंके लिए ही सुरक्षित हैं, किसी दिन हम या हमारे बच्चे भी उसी मनुष्य-जातिके अंग बन सकेंगे।

शारीरिक और मानसिक श्रमका यह बिलगाव मिटा देनेके लिए ही तो हम मजदूरी-प्रथाका अंत कर देना और साम्यवादी क्रांति चाहते हैं। उस समय श्रम करना दुर्भाग्य या पूर्वकृत पापका फल न प्रतीत होगा। तब उसका रूप वह होगा जो होना चाहिए—अर्थात मनुष्यकी सारी शक्तियोंका स्वेच्छासे, बिना दबाव या मजबूरीके, काममें लाया जाना।

यहीं इस परंपरा-प्राप्त धारणाकी भी परीक्षा कर लेनी चाहिए कि 'चांदीके चाबुक'—मजदूरीके लालचसे काम अच्छा होता है।

यदि आपको वर्तमान उद्योग-धंधोंमें होनेवाला जन-शक्तिका भारी अपव्यय देखना हो तो आप 'नमूनेके कारखानों' (Model Factories) में, जो जहां-तहां दिखाई पड़ जाते हैं, न जाकर दो-चार मामूली कारखानोंमें जाइए। अगर आपको एक कारखाना ऐसा मिला जिसका प्रबंध थोड़ा बहुत समझदारीसे किया जाता हो तो सौ या इससे भी अधिक ऐसे मिलेंगे जिनमें मनुष्यकी मेहनत बुरी तरह बरबाद की जाती है, और जिसका उद्देश्य बस इतनाही होता है कि मालिकको कुछ रुपये और मिल जायं।

इन कारखानोंमें आप देखेंगे कि बीससे पच्चीस बरसतकके युवक बेंचोंपर सारे दिन बैठ रहते हैं। उनकी कमरें झुकी और छातियां धंसी हुई हैं, और वे अपने सिर और शरीरको झकझोरकर, बाजीगरकी जैसी फुरतीसे, सूत या फीतेके कर्घोंपरके बचे हुए बेकार टुकड़ोंके दोनों सिरों को जोड़ रहे हैं। ये 'सुखंडी मारे हुए' लोग अपने देशको कैसी संतानें दे जायंगे? पर मालिक कहता है कि "ये लोग मेरे कारखानेकी दो बित्ते ही जगह तो लेते हैं, और हरएकके कामसे एक अठन्नी तो अपनी हो ही जाती है।"

लंदनके एक बड़े भारी कारखानेमें हमने देखा कि सत्रह-सत्रह साल की लड़कियां दियासलाइयोंकी टोकरियां सिरपर उठाकर एक कमरेसे दूसरेमें ले जाती हैं, और इससे उनके सिरके बाल इसी उम्रमें झड़ गये हैं। कोई छोटी-सी मशीन इस कामको कर सकती थी। पर मालिक तो कहेगा कि "इसमें हमारे बहुत थोड़े पैसे खर्च होते हैं। जो स्त्रियां कोई खास धंधा नहीं जानतीं वे सस्ती मिल जाती हैं। फिर हमें मशीनकी क्या जरूरत? जब ये काम करने लायक न रहेंगी तो दूसरी इनकी जगह आ जायंगी। सड़कोंपर इतनी तो मारी-मारी फिरती हैं!"

किसी बड़े मकानकी सीढ़ियोंपर जाड़ेकी बर्फीली ठंडवाली रातमें आपको नंगे पांव सोता हुआ एक बालक मिलेगा, जिसकी बगलमें अखबारोंका बंडल दबा होगा। ...बच्चोंकी मजदूरी इतनी सस्ती पड़ती है कि रोज शामको आठ आनेके अखबार बेच लेनेके लिए कोई भी लड़का रक्खा जा सकता है, जिसमेंसे आना, डेढ़ आना उसको मिलेगा। बड़े-बड़े

शहरोंमें आप बराबर देखेंगे कि सयाने और तगड़े आदमी तो सड़कोंपर मारे-मारे फिर रहे है और महीनोंसे बेकार हैं, और उनकी लड़कियां कारखानोंकी गरम भापमें काम करके पीली पड़ गयी हैं, उनके लड़के डब्बोंमें हाथसे काला पालिश भर रहे हैं, या जिस उम्रमें उन्हें कोई काम सीखना चाहिए था उसी उम्रमें साग-तरकारीका टोकरा ढोते फिरते हैं, और अठारह या बीसकी उम्रमेंही बारहमासी बेकार बन जाते हैं।

सनफ्रांसिस्कोसे लेकर मास्कोतक और नेपुलससे लगाकर स्टाकहोम तक, सर्वत्र यही दशा है। मानव-शक्तिका अपव्यय ही हमारे उद्योग-धंधों की मुख्य विशेषता है। व्यापारका तो कहना ही क्या, वहां तो उसकी और भी भारी बर्बादी होती है।

जो शास्त्र वस्तुतः मनुष्य-शक्तिके अपव्ययका विज्ञान है, मजदूरी-व्यवस्था में उसी को 'राजनीतिक मितव्ययिता-शास्त्र' (Political Economy) का नाम दिया गया है। कैसा करुण व्यंग्य है !

इतना ही नहीं, आप किसी सुव्यवस्थित कारखानेके संचालकसे बातें करें तो वह आपसे बड़े भोलेपनके साथ कहेगा कि "आजकल होशियार, फुर्तीले और मन लगाकर काम करनेवाले आदमी नहीं मिलते। हर सोमवारको काम चाहनेवाले बीस-पचीस आदमी हमारे पास आते हैं। यदि कोई कामका आदमी आये तो हम अपने और आदमियोंको हटाकर भी उसे रख लें। ऐसे आदमीको हम देखते ही पहचान लेते और रख लेते हैं, चाहे इसके लिए हमें अपने किसी पुराने आदमीको विदा क्यों न कर देना पड़े।" जो आदमी इस प्रकार निकाला जाता है और जो दूसरे दिन निकाले जायगे वे सब बेकार श्रमिकोंकी गिनती बढ़ाते हैं। यही बेकार-वर्ग पूंजी-पतियोंकी 'रक्षित सेना' है। जब काम बढ़ जाता है या हड़तालियोंको दबाना होता है तभी ये बेकार श्रमिक कारखानोंमें काम करनेको बुलाये जाते हैं। और जो मजदूर साधारण प्रकारका ही काम कर सकते हैं, जिन्हें काम कम होते ही प्रथम श्रेणीके कारखाने हटा देते हैं, उनका क्या होता है ? वे ढलती उम्रके और मन लगाकर काम न करने वाले श्रमिकों की विशाल सेनामें भरती हो जाते हैं। ये लोग उन द्वितीय

श्रेणीके कारखानोंमें चक्कर काटा करते हैं जिनका खर्च मुश्किलसे निकलता है, जो गाहकको चाल और धोखेमें फंसाकर जीवित रहते हैं, और विशेषतः दूर देशोंके खरीदारोंमें अपना माल खपाते हैं।

अगर आप खुद उन श्रमिकोंसे ही मिलें और बातचीत करें तो आप को मालूम होगा कि इन कारखानोंमें पूरा काम न करना ही नियम है। जब कोई आदमी ऐसे कारखानेमें काम करने जाता है तो सबसे पहला उपदेश जो उसे साथी मजदूरोंसे मिलता है वह होता है—"जितना दाम, उतना काम!"

कारण यह है कि काम करनेवाले जानते हैं कि अगर हम उदारताके उद्रेकमें मालिककी बिनतीसे गीले हो गये और किसी जरूरी ऑर्डरको पूरा करनेके लिए तेजीसे हाथ चलाकर कुछ ज्यादा काम कर दिया तो आगे मजदूरीकी साधारण दरमें ही हमसे उतना काम लिया जायगा। इसलिए ऐसे सभी कारखानोंमें वे जितना माल तैयार कर सकते हैं उतना करते नहीं। कुछ उद्योग धंधोंमें तो माल जानबूझकर कम तैयार किया जाता है जिसमें वह सस्ता न हो जाय, और कभी-कभी मजदूर सांकेतिक शब्दों में परस्पर कह देते हैं—"जैसा दाम, वैसा काम।"

मजदूरीपर किया जानेवाला काम गुलामीका काम है। मजदूरी-प्रथा से पूरी उत्पत्ति नहीं हो सकती, होनी चाहिए भी नहीं। अब समय आ गया है कि 'उत्पादक कार्यके लिए मजदूरी ही सबसे प्रबल प्रेरक है'—इस वहमको लोग अपने दिमागसे निकाल दें। हमारे दादा-परदादाके समयसे आज जो कल-कारखानोंकी कमाई सौगुनी हो गयी है उसका कारण मजदूरी देकर काम लेनेवाला पूंजीवादी संगठन नहीं है, बल्कि पिछली शताब्दीके अंतमें पदार्थ-विज्ञान और रसायन-विज्ञानका छलांग मारकर बहुत आगे निकल जाना है।

३

जिन्होंने इस प्रश्नका गंभीर अध्ययन किया है वे साम्यवादके लाभों को अस्वीकार नहीं करते, बशर्ते कि वह पूर्ण स्वतंत्र साम्यवाद अर्थात् अराजक साम्यवाद हो। वे मानते हैं कि यदि श्रमके बदलेमें रुपया दिया

जायगा—, भले ही उसका नाम 'लेबर-चेक' (मजदूरीकी हुंडी)* हो और वह राज्य-द्वारा नियंत्रित श्रमिक संघोंको ही दिया जाय—तो मजदूरी-प्रथाकी विशेषताएं और बुराइयां उसमें बनी ही रहेंगी। उत्पत्ति के साधन समाजके हाथमें आ जायं तो भी सारी व्यवस्थाको उससे हानि पहुंचेगी। वे यह भी मानते हैं कि जब सब बालकोंको सर्वांग-पूर्ण शिक्षा दी जायगी, जब सभ्य समाजका स्वभाव श्रम करनेका हो जायगा, जब लोगोंको अपने धंधे पसंद करने और बदलनेकी आजादी होगी, और जब सबके सुखके लिए अपने बराबरवालोंके साथ काम करनेका सबको आकर्षण होगा, तब साम्यवादी समाजमें ऐसे उत्पादकोंकी कमी न रहेगी जो कुछ ही दिनोंमें जमीनकी उपज चौगुनी या दसगुनी कर दें, और उद्योग-धंधोंमें उन्नतिका नया उत्साह उत्पन्न कर दें।

हमारे विरोधी इस सबको मानते हैं, पर वे कहते हैं—"खतरा तो उन थोड़े-से काहिलोंसे होगा जो काम न करेंगे, चाहे कार्यका रूप और परिस्थिति कितनी ही सुंदर हो जाय, और न अपनी आदतोंको नियमित बनायेंगे। आज भूखों मरनेकी आशंका अड़ियल-से-अड़ियलको भी दूसरों के साथ कदम बढ़ानेके लिए मजबूर करती है। जो वक्तपर काम करने नहीं आता वह निकाल दिया जाता है। पर एक मछली भी सारे तालाबको गंदा कर देती है। दो-तीन सुस्त या उद्दंड मजदूर दूसरोंको भी बिगाड़ देंगे और कारखानेमें अव्यवस्था तथा विद्रोहकी भावना फैला देंगे, जिससे काम होना असंभव हो जायगा। फलतः अंतमें हमें फिर बल-प्रयोगका कोई तरीका निकालना ही पड़ेगा जिससे इन सरगनोंको ठीक किया जा सके। तब क्या मजदूरी—जितना काम, उतना दाम—की व्यवस्था ही एकमात्र ऐसी व्यवस्था नहीं है जिससे दबाव भी पड़ सकता है और काम करनेवालेकी स्वतंत्रताकी भावनाको चोट भी नहीं लगती? और सभी उपायोंमें एक अधिकारीके हस्तक्षेपकी आवश्यकता सदा बनी रहेगी, और यह स्वतंत्र मनुष्यको पसंद नहीं है।" हम समझते हैं कि इस आपत्ति को हमने ठीक तरहसे उपस्थित कर दिया।

---

* इस व्यवस्थाका कुछ विस्तृत परिचय अगले परिच्छेदमें दिया गया है।

पहली बात तो यह है कि यह आपत्ति उन्हीं दलीलोंकी श्रेणीकी है जिनसे राज्य, फौजदारी कानून, जज और जेलरकी आवश्यकता सिद्ध की जाती है।

सत्तावादी कहते हैं—"समाजमें कुछ लोग तो ऐसे होते ही हैं जो सामाजिक या सहयोगकी रीतियोंको नहीं मानते। इसलिए हमें मजिस्ट्रेट, कचहरियां और कारागार रखने ही पड़ेंगे, यद्यपि इनसे सब प्रकारकी दूसरी बुराइयां पैदा हो जाती हैं।"

इसलिए हम भी अपना वही जवाब दुहरा देते हैं जो हम हर तरह की शासन-शक्तिके संबंधमें अनेक बार दे चुके हैं—"एक संभाव्य दोपसे बचनेके लिए आप ऐसे उपाय करते हैं जो खुद उससे भी बड़ी बुराई हैं, और जिनसे वही खराबियां पैदा होजाती हैं जिन्हें आप दूर करना चाहते हैं। आपको याद रखना चाहिए कि जिस वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्थाकी बुराइयोंको अब आप मानने लगे हैं वह मजदूरी-प्रथासे, अर्थात् अपनी मेहनत बेचनेके सिवा जीवन-निर्वाहका दूसरा उपाय न होनेके कारण ही पैदा हुई है।" इसके सिवा इस तरहकी दलीलें देना वर्तमान प्रणालीके दोषोंका हेत्वाभास द्वारा या गलत दलील देकर समर्थन करना मात्र है। मजदूरी या वेतनकी व्यवस्था साम्यवादके दोषोंको दूर करनेके लिए नहीं की गयी, उसका जन्म तो राज्य और व्यक्तिगत स्वामित्वकी तरह दूसरे कारणोंसे ही हुआ। यह तो गुलामी और 'हलवाहे किसान' (Serf) की प्रथाकी ही देन है, केवल इसका भेसभर आधुनिक है। अतः व्यक्तिगत संपत्ति और राज्यके पक्षमें पेश की जानेवाली दलीलें जैसी लचर हैं, मजदूरी-प्रथाके समर्थनमें दी जानेवाली युक्तियां भी वैसी ही निस्सार हैं।

फिर भी हम इस आपत्तिकी समीक्षा करके देखेंगे कि उसमें कुछ दम है या नहीं।

पहली बात तो यह है कि यदि स्वेच्छा-श्रमके सिद्धांतपर स्थापित समाजको सचमुच नाकारोंका खतरा हुआ, तो आजकलकी सी डंडेके जोर से काम लेनेवाली व्यवस्था और मजदूरी-प्रथाको अपनाये बिना भी वह दूर किया जा सकेगा।

मान लीजिए, कुछ स्वयं-सेवक किसी विशेष कार्यके लिए अपना संघ बनाते हैं। वे दिलसे चाहते हैं कि उन्हें अपने कार्यमें सफलता मिले, इसलिए मन लगाकर काम करते हैं। केवल एक साथी ऐसा है जो अकसर अपने कामपर गैरहाजिर रहता है। तो क्या इस कारण उन्हें अपने संघको तोड़ देना, जुर्माना करनेके लिए एक अध्यक्ष चुन लेना, और एक दंड-विधान बना डालना होगा? जाहिर है कि इनमेंसे एक भी बात नहीं की जायगी, बल्कि एक दिन उस साथीसे कह दिया जायगा— "दोस्त, हम लोग तो तुम्हारे साथ काम करना चाहते हैं, पर तुम अकसर गैरहाजिर रहते हो और अपना काम भी लापरवाहीसे करते हो, इसलिए हमारा साथ अब नहीं चल सकता। तुम दूसरे साथी ढूंढ़ लो जो तुम्हारी लापरवाहीको बर्दाश्त कर लें।"

यह मार्ग इतना स्वाभाविक है कि आज-कल भी सब जगह, सब उद्योग-धंधोंमें यह बरता जाता है, और जुर्माना करने, तनख्वाह काटने और कड़ी निगरानी रखने आदि उपायोंके मुकाबिलेमें टिक सका है। एक आदमी नियत समयपर कारखानेमें काम करने आता है, पर अगर उसका काम खराब होता है, अपनी सुस्ती या किसी और दोषसे वह दूसरोंके काम में बाधक होता है, या वह झगड़ालू है, तो एक दिन बर्दाश्तकी हद हो जाती है और उसे कारखाना छोड़ देना पड़ता है।

सत्तावादी कहते हैं कि सर्वशक्तिमान् मालिक और उसके निरीक्षकों के कारण ही काम नियमसे और अच्छा होता है। पर सच यह है कि हर एक टेढ़े या पेचीदा काममें, जिसमें तैयार होनेसे पहले चीजको कई हाथों से गुजरना पड़ता है, खुद कारखाना ही, अर्थात् समष्टि-रूपसे वहांके श्रमिक ही, मिलकर इस बातका ध्यान रखते हैं कि काम अच्छा हो। इसी कारण इंग्लैंडके अच्छे निजी कारखानोंमें निरीक्षक कम होते हैं। फ्रांसके कारखानोंके औसतसे तो बहुत कम, और इंगलैंडके राजकीय कारखानोंसे भी कम होते हैं।

सार्वजनिक सदाचार भी इसी प्रकार एक हदतक कायम रखा जाता है। सत्तावादी कहते हैं कि उसकी रक्षा चौकीदारों, जजों और पुलिस

वालोंकी बदौलत ही होती है, पर वास्तवमें वह 'इनके बावजूद' बना रहता है। किसीने बहुत पहले कहा था कि "बहुतसे कानूनतो ऐसे हैं जो अपराधी पैदा करते हैं।"

औद्योगिक कारखानोंमें ही इस तरह काम नहीं होता, बल्कि हर जगह और हर रोज यही तरीका बरता जाता है, और इतने बड़े पैमानेपर कि केवल किताबके कीड़े उसका अनुमान भी नहीं कर सकते। जब कोई रेलवे-कंपनी, जो दूसरी कंपनियोंसे संबद्ध है, अपने इकरार पूरे नहीं कर सकती, उसकी गाड़ियां लेट होती हैं और माल स्टेशनोंपर पड़ा रहता है, तो दूसरी कंपनियां अपना इकरारनामा रद्द कर देनेकी धमकी देती हैं, और यह धमकी आम तौरसे कारगर होती है।

आम खयाल है, और कम-से-कम सरकारी स्कूलोंमें तो यह सिखाया ही जाता है, कि व्यापारी अपने इकरार दावे और अदालतके डरसे ही पूरा करते हैं। पर बात ऐसी नहीं है। दसमें से नौ मामलोंमें वचन-भंग करनेवाले व्यापारीको अदालतके सामने जाना ही नहीं पड़ता। लंदन-जैसे व्यापार-केंद्रमें भी यदि कोई व्यापारी अपना देना नहीं चुकाता और पावनेदारको अदालतकी शरण लेनी पड़ती है, तो अधिकांश व्यापारी सदाके लिए उस आदमीसे अपना कारबारी संबंध तोड़ लेते हैं, क्योंकि उसके कारण उनके एक भाईको अदालत जाना पड़ा।

जब यह उपाय कारखानेके श्रमिकों, व्यापारियों और रेलवे कंपनियोंमें आज भी काममें लाया जारहा है तो उस समाजमें क्यों न बरता जायगा जिसका आधार अपने मनसे किया हुआ काम होगा?

मान लीजिए, एक संस्था यह तय करती है कि उसके प्रत्येक सदस्यको निम्नलिखित प्रतिज्ञाका अनुसरण करना होगा—

"हम इकरार करते हैं कि हम तुम्हें अपने मकानों, सड़कों, सवारियों स्कूलों, अजायबघरों आदिसे काम लेने देंगे। शर्त यह है कि तुम बीससे लगाकर पैंतालीस-पचासकी उम्रतक रोज चार या पांच घंटे ऐसे काममें लगाते रहो जो जीवनके लिए आवश्यक माना गया हो। तुम जिस उत्पादक-संघमें सम्मिलित होना चाहो हो सकते हो, या नया संघ भी बना

सकते हो, बशर्ते कि वह आवश्यक वस्तुओंका ही उत्पादन करे। जो समय तुम्हारे पास बच रहे उसमें तुम अपनी रुचिके अनुसार मनोरंजन या कला या विज्ञानकी साधनाके लिए जिसके साथ चाहो सहयोग कर सकते हो।

"हम तुमसे केवल इतना ही चाहते हैं कि तुम अन्न-वस्त्र उत्पन्न करने या मकान बनानेवाले संघोंमें या सार्वजनिक स्वास्थ्य-सफाईके या रेल-ट्राम जैसे किसी आवश्यक कार्यमें सालभरमें अपने बारह या पंद्रह सौ घंटे दे दो। इस कामके बदलेमें हम इतमीनान दिलाते हैं कि जो कुछ ये संघ उत्पन्न करते हैं या करेंगे वह सब तुम्हें मुफ्त मिलेगा। हमारे संगठनमें हजारों उत्पादक संघ हैं और यदि उनमेंसे एक भी किसी भी कारणसे तुम्हें न ले सके या तुम कोई उपयोगी वस्तु उत्पन्न करनेके नितांत अयोग्य सिद्ध हो या वैसा काम करनेसे इनकार करो, तो तुम्हें बहिष्कृत व्यक्ति या अपाहिजकी तरह रहना होगा। यदि हमारे पास जीवनोपयोगी सामग्री इतनी हुई कि हम तुम्हें दे सकें तो हम खुशीसे दे देंगे। मनुष्य होनेके नाते जीवित रहना तुम्हारा अधिकार है। पर चूंकि तुम विशेष परिस्थितिमें रहना और सबसे अलग हो जाना चाहते हो, इसलिए बहुत मुमकिन है कि तुम्हें अन्य नागरिकोंसे अपने नित्यके व्यवहारमें कष्ट उठाना पड़े। तुम मध्यवित्त समाजकी छाया समझे जाओगे। हां, तुम्हारा कोई मित्र तुममें कोई विशेष प्रतिभा देख तुम्हारा सब जरूरी काम अपने ऊपर लेकर तुम्हें समाजके प्रति अपने सब नैतिक कर्तव्योंसे मुक्त कर दे तो और बात है।

"अंतमें, यदि तुम्हें यह व्यवस्था न रुचती हो तो इस विस्तृत भूमंडलपर और कहीं जाकर दूसरी परिस्थिति तलाश करो, या अपने अनुयायी ढूंढ़कर, नये सिद्धांतोंपर, नया संगठन कर लो। हमें तो अपने ही सिद्धांत पसंद हैं।"

साम्यवादी समाजमें काहिलोंकी संख्या बहुत बढ़ गयी तो उनको निकाल बाहर करनेके लिए यही उपाय किया जायगा।

४

हमारा खयाल है कि जिस समाजमें व्यक्तिको सचमुच पूर्ण स्वाधीनता होगी उसमें इस बातका डर शायद न रहे।

यद्यपि पूंजीका व्यक्तिगत स्वामित्व अकर्मण्यताको प्रोत्साहन देता है, फिर भी बीमारोंको छोड़कर सच्चे अर्थमें आलसी आदमी कम ही होते हैं।

मजदूर अक्सर कहा करते हैं कि 'बाबू-वर्ग' के लोग अकर्मण्य हैं। अवश्य ही ऐसे लोगोंकी तादाद उसमें काफी हैं, फिर भी वे अपवाद-रूप ही हैं। बल्कि हर एक कल-कारखानेमें आपको मध्यम वर्गके ऐसे एक दो आदमी अवश्य मिलेंगे जो बहुत अधिक काम करते हैं। यह तो सत्य है कि इस वर्गके अधिकांश लोग अपने विशेषाधिकारोंसे लाभ उठाकर अपने लिए ऐसे ही काम रखते हैं जो कम-से-कम अरुचिकर हों। वे साफ-सुथरी, हवादार जगहोंमें काम करते हैं, खाना भी उन्हें अच्छा मिलता है, जिससे वे बिना अधिक थके अपना काम कर सकते हैं। पर यही सारी बातें तो हम हर एक श्रमिकके लिए, बिना किसी अपवादके, चाहते हैं।

यह बात भी कहनी ही होगी कि यद्यपि अपनी ऊंची स्थितिके कारण धनाढ्य लोग प्रायः समाजमें नितांत अनुपयोगी या हानिकर कार्य भी करते हैं, फिर भी राज्य-मंत्री, विभागोंके अध्यक्ष, कारखानोंके मालिक, व्यापारी, साहूकार आदि रोज कई घण्टे काम करते हैं। और इसमें उन्हें थोड़ी बहुत थकावट भी मालूम होती ही है तथा इस अनिवार्य कर्तव्यसे छुट्टी पाना उन्हें भी अच्छा लगता है। यद्यपि इनमें दसमें से नौ कार्य हानिकर हैं फिर भी उन्हें वे वैसे ही थकानेवाले मालूम होते हैं। पर हानिकर कार्य करनेमें भी (ज्ञात रूपसे हो या अज्ञात रूपसे) और अपने विशेषाधिकारोंकी रक्षा करनेमें इतने पुरुषार्थका परिचय देकर ही तो मध्यम वर्ग सरदारों-जागीरदारोंको पराजित कर पाया और जनतापर शासन कर रहा है। वह आलसी, मेहनतसे भागनेवाला होता

तो उसका अस्तित्व भी राजा-रईसोंके वर्गकी तरह कबका मिट चुका होता। जिस समाजमें व्यक्तिसे रोज चार पांच घंटे ही रुचिकर और स्वास्थ्यकर काम लिया जायगा उसमें मध्यमवर्गके यही लोग अपना काम बहुत अच्छी तरह करेंगे, और जिस भयंकर परिस्थितिमें आजकल लोगोंको काम करना पड़ता है उसका सुधार किये बिना न रहेंगे। यदि लंदन की जमीनके भीतरकी मोरियोंमें हक्सले-जैसे वैज्ञानिकको पांच-छः घंटे भी बिताना पड़ता तो विश्वास रखिए कि वह उन्हें वैसी ही आरोग्यकर बना देनेका उपाय निकाल लेता जैसी उसकी शरीर-शास्त्रकी प्रयोगशाला थी।

अधिकांश श्रमिकोंको आलसी कहना तो ऐसी असंगत बात है जो केवल जडवादी अर्थशास्त्रियों और परोपकार-व्रती व्यक्तियोंके मुंहसे ही निकल सकती है।

आप किसी समझदार कारखानेदारसे पूछें तो वह आपको बतायेगा कि अगर श्रमिक ढिलाईसे काम करनेकी ठान लें तो सारे कारखाने बंद कर देने पड़ें। फिर तो कितनी भी सख्ती की जाय और कैसी ही निगरानी रक्खी जाय, सब बेकार होगा। आपने देखा होगा कि सन् १८८७ में जब कुछ आंदोलनकारियोंने 'थोड़ा दाम, थोड़ा काम,' के सिद्धांत "और धीरे चलो, बूतेसे अधिक काम मत करो, और जितना हो सके नुकसान करो", का प्रचार आरंभ किया तो इंग्लैंडके कारखानेदारोंमें कैसा आतंक छा गया था। जो लोग एकही दिन पहले श्रमिकोंको नीति-भ्रष्ट और उनके कामको बुरा बताते थे वे ही चिल्लाने लगे कि "ये आंदोलन-कारी मजदूरोंको बिगाड़ते-बहकाते और हमारे उद्योग-धंधोंको नष्ट कर डालना चाहते हैं।" पर यदि श्रमिक खुद ही सुस्त या आलसी होते और केवल निकाल दिये जानेके डरसे ही काम करते होते, तो उन्हें बिगाड़ने बहकानेकी बातका मतलब ही क्या होता?

इसलिए जब हम कहते हैं कि समाजमें आलसी लोग भी हो सकते हैं तो समझ रखना चाहिए कि यह बात थोड़ेसे आदमियोंके बारेमें ही है। इस अल्प-संख्याके लिए कोई कानून बनानेसे पहले इसके आलस्यके मूल कारणको मालूम करलेना क्या समझदारीकी बात न

होगी ? विवेक—दृष्टिसे देखनेवाला व्यक्ति अच्छी तरह जानता है कि जो लड़का स्कूलमें सुस्त कहा जाता है उसकी सुस्तीका कारण यह है कि उसको बुरे ढंगसे पढ़ाया जाता है, और इसीलिए वह विषयको समझता नहीं। अकसर लड़केके दिमागमें खूनकी कमीकी शिकायत होती है, जो दरिद्रता या अस्वास्थ्यकर शिक्षाका फल होती है। जो लड़का संस्कृत या अरबीके विषयमें सुस्त होता है वह साइन्समें तेज हो सकता है, खास-कर जब उसे शारीरिक कामकी सहायतासे पढ़ाया जाय। जो लड़की गणितमें कमजोर होती है उसे जब संयोगवश कोई ऐसा पढ़ानेवाला मिल जाता है जो उसे गणितके वे मूल सिद्धांत समझा देता है जो उसकी समझमें नहीं आये थे, तब वह अपने दर्जेमें हिसाबमें सबसे तेज हो जाती है। एक श्रमिक, जो कारखानेमें ढिलाईसे काम करता है, तड़के ही अपने बगीचेको खोदने-सींचनेमें लग जाता है, और रात होनेपर जब सारी प्रकृति विश्राम करती है तब फिर काम करता है।

किसीने कहा है कि जो चीज़ अपने नियत स्थानपर नहीं होती वही कूड़ा है। जो लोग सुस्त कहलाते हैं उनमेंसे दसमें से नौके बारेमें भी यही कहा जा सकता है। ये लोग ऐसे रास्तेपर बहक गये हैं जो उनके स्वभाव या योग्यताके अनुकूल नहीं है। महान् पुरुषोंके जीवन-चरित्र पढ़ते समय हमें यह देखकर आश्चर्य होता है कि उनमेंसे बहुतेरे आलसी थे। वे तबतक आलसी रहे जबतक उन्हें ठीक रास्ता नहीं मिला, ठीक रास्ता मिलते ही वे अति परिश्रमी बन गये। डारविन, स्टिफेनसन आदि अनेक खोजी और आविष्कारक आलसियोंकी इसी श्रेणीके थे।

अकसर सुस्त आदमी वही होता है जिसे यह पसंद नहीं है कि वह जिंदगीभर पिनका अठारहवां भाग या घड़ीका सौवां हिस्सा ही बनाता रहे, और जो यह अनुभव करता है कि उसके पास बहुत अधिक शक्ति है और उसे किसी दूसरे ही काममें लगना पसंद करता है। वह यह नहीं चाहता कि वह तो जीवन भर किसी कारखानेकी बेंचपर कमर तोड़ता रहे और उसका मालिक उसकी बदौलत गुलछर्रे उड़ाता रहे। वह यह भी जानता है कि मालिकसे मेरी खोपड़ीमें कुछ ज्यादा ही अकल

है, पर मेरा क़सूर इतना ही है कि मैंने महलमें जन्म न लेकर गरीबकी कुटियामें जन्म लिया।

आलसियोंमें बहुत बड़ी संख्या तो ऐसे लोगोंकी होती हैं जो इस कारण आलसी हैं कि जिस कामसे वे पेट पालते हैं उसे अच्छी तरह नहीं जानते। वे देखते हैं कि उनके हाथसे जो चीज बनती है वह सदोष बनती है या अच्छी नहीं बनती। वे उसे अच्छी बनानेका यत्न भी करते हैं, पर बना नहीं पाते। इससे वे समझने लगते हैं कि जिस बुरे ढंगसे हमें काम करनेकी आदत लग गयी है उसके कारण हम कभी सफल नहीं हो सकते। तब वे अपने कामसे घृणा करने लगते हैं। उन्हें दूसरा काम आता नहीं, इस कारण सभी कामोंसे उन्हें नफरत हो जाती है। हजारों कारीगर और कलाकार इसी दोषके कारण असफल होते हैं।

परंतु जिसने छोटी उम्रसे ही अच्छी तरह बाजा बजाना, मूर्ति गढ़ना या चित्र बनाना सीख लिया है, और इस कारण जिसे यह विश्वास है कि जो काम मैं करता हूं वह सुंदर होता है, वह अपने धंधेको कभी न छोड़ेगा। उसको अपने काममें आनंद मिलता है और उससे वह थकता नहीं, जबतक कि वह अपनी शक्तिसे बहुत अधिक श्रम न करे।

भिन्न-भिन्न कारणोंसे पैदा होनेवाले बहुतसे परिणामोंको 'आलस्य' का नाम दे दिया गया है। उनमेंसे हरएक समाजके लिए हानिकारक होनेके बदले उपयोगी हो सकता है। अपराध-प्रवृत्ति और मानव-प्रवृत्तियोंसे संबंध रखनेवाले सभी प्रश्नोंके समान इस विषयमें भी ऐसे तथ्य इकट्ठे किये गये हैं जो एक-दूसरेसे सर्वथा भिन्न हैं। लोग आलस्य या अपराधकी निंदा करते हैं, पर इनके कारणोंके विश्लेषणका कष्ट नहीं उठाते। वे जल्दीसे इन दोषोंके लिए लोगोंको दंड दे देते हैं और इसपर विचार नहीं करते कि कहीं यह दंड ही तो 'सुस्ती' या 'अपराध'की प्रवृत्तिको न बढ़ा देगा। *

---

* इस विषयमें लेखककी पुस्तक 'In Russian and French Prisons' (रूसी और फ्रेंच जेलखानोंमें) पठनीय है।

इस कारण यदि किसी स्वाधीन समाजमें आलसियोंकी संख्या बढ़ने लगेगी तो वह दंड देनेके पहले इस दोषका कारण ढूंढ़ेगा, जिसमें वह दूर किया जा सके। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अगर कोई लड़का इसलिए सुस्त है कि उसे रक्तन्यूनताका रोग है तो उसके दिमागमें विज्ञान ठूंसनेकी कोशिश न कीजिए। इसके पहले उसके शरीरकी पुष्टिका उपाय कीजिए जिसमें उसमें खून बढ़े और ताकत आये। उसे देहातमें या समुद्रतटपर ले जाइए ताकि उसका समय भी व्यर्थ नष्ट न हो। वहां उसे पुस्तकोंसे नहीं, किंतु प्रकृतिके द्वारा पढ़ाइए। दो मीनारोंके बीचकी दूरी या किसी पेड़की ऊंचाई नापकर रेखागणित सिखाइए, फूल तोड़ते हुए या समुद्रमें मछली पकड़ते समय प्रकृति-विज्ञान पढ़ाइए, और जिस नावमें बैठकर वह मछली मारने जायगा उसे बनाते समय पदार्थ विज्ञानकी शिक्षा दीजिए। पर दया करके उसके दिमागमें बड़े-बड़े कवियों-लेखकोंके वाक्य और मृत भाषाएं मत ठूंसिए। उसको आलसी मत बनाइए!

अथवा एक ऐसा लड़का है जिसमें न कोई ढब-सलीका है, न उसकी आदतें ही नियमित हैं। बालकोंको पहले अपने बीचमें ही व्यवस्थाकी आदत डालने दीजिए, फिर प्रयोगशाला और कारखाने, जहां थोड़ी जगहमें काम करना होगा, बहुतसे औजार इधर-उधर बिखरे होंगे, और एक बुद्धिमान् शिक्षक उन्हें बतानेवाला होगा, व्यवस्था सिखा देंगे। पर अपने स्कूलमें व्यवस्था सिखाकर उन बालकोंको अव्यवस्थित प्राणी मत बनाइए। आपके स्कूलोंमें सिवाय इसके कि एक-सी बेंचें पांतमें सजाकर रक्खी रहती हैं, और कौन-सी व्यवस्था होती है? वे तो वास्तवमें शिक्षणकी अव्यवस्थाके सच्चे नमूने हैं। कोई भी बालक उनसे समन्वय, संगति और व्यवस्थित रूपसे कार्य करना नहीं सीखता।

भिन्न-भिन्न अस्सी लाख योग्यताएं रखनेवाले अस्सी लाख विद्यार्थियों के लिए आपका शिक्षा-विभाग कोई एक शिक्षण-पद्धति बना देता है। क्या आप नहीं समझते कि मामूली दर्जेकी योग्यता रखनेवालोंकी बनायी हुई योजना मध्यम योग्यतावालोंके लिए ही उपयुक्त हो सकती है? जिस

तरह आपके कारागार अपराधोंके विश्वविद्यालय हैं, उसी तरह आपके स्कूल आलस्यके विद्यापीठ हैं। स्कूलको स्वतंत्र कर दीजिए, अध्यापकोंके दरजे तोड़ दीजिए, और स्वयंसेवक अध्यापकों—शौकसे पढ़ानेवालों—के लिए अपील निकालिए। इसी नुस्खेसे सुस्तीका इलाज कीजिए; उसे भगानेके लिए कानून न बनाइए, क्योंकि उनसे तो यह मर्ज और बढ़ता है।

जो मजदूर किसी चीजके एक छोटे-से हिस्सेको बनानेमें ही जिंदगी भर लगे रहना नहीं चाहता, अपनी छोटी-सी फीतेकी मशीनपर काम करते-करते जिसका दम घुट रहा है, उसे जमीन जोतने, जंगलमें जाकर पेड़ काटने, तूफानी समुद्रमें जहाज या नाव चलाने दीजिए, एंजिनपर दौड़नेका मौका दीजिए, पर किसी छोटी-सी मशीन चलाने, पेंचके सिरेपर धारी बनाने या सुईकी नोकमें छेद करनेमें सारी जिंदगी बितानेको मजबूर करके उसे सुस्त, आलसी न बनाइये।

सुस्तीका कारण दूर कर दीजिए, और विश्वास रखिए कि फिर ऐसे आदमी इने-गिने ही निकलेंगे जिन्हें कामसे, खासकर अपनी खुशीसे किये जानेवाले कामसे सचमुच नफरत हो, और उनके लिए आपको दण्ड-विधान बनाने की जरूरत न पड़ेगी।

: १३ :

समष्टिवादियोंकी वेतन-व्यवस्था

१

समष्टिवादी (Collectivist) दलके साम्यवादियोंने समाजके पुनस्संघटनके लिए जो योजना बनायी है उसमें हमारी रायमें दो गलतियां हैं। वे यह तो कहते हैं कि पूंजीवादी शासनको मिटा देना चाहिए, पर दो बातोंको वे कायम रखना चाहते हैं—प्रतिनिधि-सत्तात्मक शासन और मजदूरीकी व्यवस्था। और यही दोनों चीजें पूंजीवादी शासनकी जड़ हैं।

प्रतिनिधि-शासनके विषयमें हम कई बार अपने विचार बता चुके हैं। फ्रांसमें, इंग्लैंडमें, जर्मनीमें और संयुक्तराष्ट्र (अमेरिका) में अबतक उसके इतने कुपरिणाम प्रकट हो चुके हैं कि हम यह समझ ही नहीं पाते कि कैसे कोई समझदार आदमी अब भी देश या नगरोंकी पार्लमेंटोंका हिमायती बना रह सकता है।

हम देख रहे हैं कि पार्लमेंटी या प्रतिनिधि-शासन टूटता जा रहा है, और सब तरफसे उसपर नुक्ताचीनियोंकी बौछार हो रही है, बल्कि दिन दिन ज्यादा जोरसे हो रही है—उसके परिणामोंपर ही नहीं उसके सिद्धांतोंपर भी। फिर भी, मालूम नहीं क्यों, क्रांतिकारी साम्यवादी इस चंद दिनकी मेहमान प्रणालीका समर्थन करते हैं?

प्रतिनिधि-शासनका निर्माण मध्यम वर्गके लोगोंने किया और इसलिए किया कि वे राजाके अधिकारोंका मुकाबला कर सकें, और साथ ही श्रमिक वर्गपर अपना वैध राज कायम कर सकें तथा उसे दृढ़कर सकें। अतः पार्लमेंटी शासन मुख्यतः मध्यम वर्गका शासन है। इस शासन-प्रणालीके समर्थकोंने कभी इस बातपर ज्यादा जोर नहीं दिया कि पार्लमेंट या म्युनिसिपल कौंसिल राष्ट्र या नगरकी प्रतिनिधि है। उनके अधिक

बुद्धिमान् लोग जानते हैं कि यह बात असंभव है। मध्यमवर्गने पार्लमेंटी शासनको महज इसलिए अपनाया कि इस किलेमें बैठकर वह राजाके अधिकारोंसे लड़ सके और साधारण जनताको स्वतंत्रता भी न दे। पर क्रमशः ज्यों-ज्यों सर्वसाधारण अपने हिताहितको समझने लगे और उसका क्षेत्र विस्तृत होता जा रहा है, यह प्रणाली अव्यवहार्य साबित होती जा रही है। इसीलिए सब देशोंके लोकतंत्रवादी इसके दोषोंके सुधारके लिए तरह-तरहके उपाय सोच रहे हैं। पर सब व्यर्थ हो रहा है। 'रेफरेंडम' (Referendum) * या लोक-निर्णयकी व्यवस्थाकी परीक्षा की गयी और असफल हुई। विभिन्न समुदायोंको उनकी संख्याको अनुपात से प्रतिनिधित्व (Proportional Representation) और अल्पसंख्यकोंको विशेष प्रतिनिधित्व देने तथा अन्य आदर्श पार्लमेंटी व्यवस्थाएं सोची जा रही हैं। संक्षेपमें वे असाध्यके साधनका यत्न करते हैं और हर नये प्रयोगके पश्चात् उसकी विफलता उन्हें स्वीकार करनी पड़ती है। इसका नतीजा यह होरहा है कि प्रतिनिधि-शासनपर से लोगोंका विश्वास दिन-दिन उठता जा रहा है।

मजदूरी-व्यवस्थाके विषयमें भी यही बात है। जब सब प्रकारकी व्यक्तिगत संपत्तिकी समाप्तिकी घोषणा हो जायगी और उत्पत्तिके साधनोंपर समाजका स्वामित्व स्थापित हो जायगा तब यह व्यवस्था किसी भी रूप कैसे कायम रह सकेगी? पर समष्टिवादी 'महान समष्टिवादी कारखानेदार'—राज्यको श्रमके बदलेमें 'लेबर चेक' या 'मजदूरीकी हुंडी' देनेकी सलाह देकर इसी अनहोनी बातकी कोशिश कर रहे हैं।

रावर्ट ओवेन के समयसे इंग्लैंडके आरंभिक साम्यवादियोंने लेबर-चेककी प्रणालीको क्यों अपनाया, यह समझना आसान है। उन्होंने केवल पूंजीपतियों और श्रमकोंमें समझौता करानेकी चेष्टा की। उन्होंने क्रांतिकारी

---

* किसी विशेष प्रश्न या विधानपर संपूर्ण निर्वाचकोंका मत लेकर निर्णय करानेकी व्यवस्था।

उपायोंसे पूंजीपतियोंकी संपत्तिपर कब्जा करनेके विचारका खंडन किया। बादमें प्रूदोंने† भी यही मत स्वीकार किया। अपनी अन्योन्याश्रयवादी (Mutualist) व्यवस्थामें वह व्यक्तिगत संपत्तिको कायम रखना चाहता था, फिर भी पूंजीके कुछ जहरीले दांत तोड़ देना चाहता था। व्यक्तिगत संपत्तिसे उसे आंतरिक घृणा थी, पर राज्यसे व्यक्तिकी रक्षाके लिए वह उसे आवश्यक समझता था।

अगर कुछ अर्थशास्त्री भी, जिनका झुकाव थोड़ा-बहुत मध्यमवर्गकी ओर है, ऐसे हैं जो लेबर-चेकके सिद्धांतको स्वीकार करते हैं तो यह कोई अचरज की बात नहीं। उन्हें इसकी परवाह नहीं कि मजदूरको 'लेबर-नोट' दिये जायं या ऐसे सिक्के जिनपर प्रजातंत्र या साम्राज्यकी मुहर हो। उन्हें तो केवल इसकी चिंता है कि मकान, जमीन और कारखानोंपर व्यक्तियोंका स्वामित्व बना रहे—कम-से-कम मकान और उद्योग-धंधोंमें लगनेवाली पूंजी तो अवश्य निजी संपत्ति बनी रहे। और 'लेबर-नोट'की व्यवस्थासे इस उद्देश्यकी सिद्धि हो ही जाती है।

जबतक लेबर-नोट देकर गहने या बग्घियां-मोटरें मिल सकेंगी तबतक तो मकान-मालिक किरायेमें उन्हें भी खुशीसे ले लेगा। और जबतक मकान, खेत और कारखाने कुछ लोगोंकी व्यक्तिगत संपत्ति हैं तबतक तो खेतों या कारखानोंमें काम करने और मकानोंमें रहनेके बदले मालिकको किसी-न-किसी रूपमें कुछ नजर करना ही पड़ेगा। जबतक सोने, नोट या चेकसे सब प्रकारकी चीजें खरीदी जा सकती है, तबतक मालिक लगान या किरायेमें इनमेंसे किसीको भी स्वीकार कर लेंगे, बशर्ते कि श्रमपर कर लगा रहे और उसे लगानेका अधिकार उन्हींको हो। पर हम लेबर-नोटकी व्यवस्थाका समर्थन कैसे कर सकते हैं, जो मजदूरी-व्यवस्थाका ही नया रूप है, और जब हम यह मानते हैं कि मकान, खेत और कारखाने किसीकी निजी संपत्ति न रहेंगे, बल्कि सारे ग्राम, नगर या राष्ट्रकी चीज होंगे?

---

† इन लोगोंके परिचयके लिए भूमिका देखिए।

२

फ्रांस, जर्मनी, इंग्लैंड और इटलीके समष्टिवादी श्रमिकोंको मजदूरी में लेवर-चेक देनेके सिद्धांतका प्रचार करते हैं। स्पेनके अराजक साम्यवादी, जो अबतक अपनेको समष्टिवादी ही कहते हैं, समष्टिवादसे यह अर्थ लेते हैं कि उत्पत्तिके साधनोंपर तो सबका संयुक्त अधिकार हो, पर उत्पत्तिको आपसमें बांट लेनेकी प्रत्येक समुदायको स्वतंत्रता रहे, वह चाहे समाजवादी सिद्धांतके अनुसार बंटवारा करे अथवा और किसी सिद्धांतके अनुसार। हम इस व्यवस्थापर बारीकीसे विचार करना चाहते हैं।

इस सिद्धांतका खुलासा यह है—हरएक आदमी खेत, कारखाने, स्कूल, अस्पताल आदिमें काम करता है। सारी जमीन, सब कारखाने और सड़कें आदि राज्यकी संपत्ति हैं, और वही श्रम-दिवस निश्चित करता है। एक श्रम-दिवसकी मजदूरीके बदलेमें एक लेबर-नोट दिया जाता है, जिसपर लिखा होता है—'आठ घंटेका श्रम'। इस चेकसे श्रम-कर्ता सरकारी या विभिन्न संघोंके भंडारोंसे सब सामान पा सकता है। रुपयेकी भांति इस चेकके भी टुकड़े हो सकते हैं। इसलिए आप एक घंटेके श्रमका आटा, दस मिनटके श्रमकी दियासलाई या आधे घंटेके श्रमकी तम्बाकू खरीद सकते हैं। समष्टिवादी क्रांति हो जानेके बाद हम 'दो आनेका साबुन' न कहकर 'पांच मिनटका साबुन' कहेंगे।

मध्यमवर्गीय अर्थशास्त्रियोंने (मार्क्सने भी) श्रमके दो विभाग किये हैं। एक सीखकर किया जानेवाला कार्य, दूसरा साधारण काम। अधिकांश समष्टिवादी इस भेदको ठीक मानते हुए कहते हैं कि शिक्षाकी अपेक्षा रखनेवाले या किसी खास पेशे—डाक्टर, वकील आदिके कामकी उजरत साधारण श्रमकी अपेक्षा कुछ अधिक होनी चाहिए। मसलन् डाक्टरके एक घंटेके कामको नर्सके दो या तीन घंटेके अथवा साधारण मजदूरके तीन या पांच घंटेके कामके बराबर मानना होगा। समष्टिवादी लेखक ग्रोनलंड कहता है कि "खास पेशों या विशेष योग्यताके कामका

मूल्य साधारण श्रमसे कई गुना अधिक माना जायगा, क्योंकि इस तरहके काममें थोड़ा-बहुत समय काम सीखनेमें लगाना ही पड़ता है।"

फ्रांसीसी साम्यवादी जेसदे जैसे कुछ समष्टिवादी इस अंतरको नहीं मानते। वे 'पारिश्रमिककी समानता' की घोषणा करते हैं। उनके मतानुसार एक मामूली मजदूरको जिस हिसाबसे उजरत मिलेगी उसी हिसाबसे वह डाक्टर, अध्यापक और प्रोफेसरको भी (लेबर-चेकोंके रूप) दी जायगी। अस्पतालमें आठ घंटे बीमारोंकी देख-भाल करना या आठ घंटे मिट्टी खोदना, खान खोदना या कारखानेमें मेहनत करना, दोनोंकी कीमत बराबर होगी।

कुछ लोग थोडी और रिआयत करनेको तैयार हैं। वे मानते हैं कि अरुचिकर या अस्वास्थ्यकर काम—जैसे मोरियोंकी सफाई—की मजदूरी रुचिकर कामकी अपेक्षा अधिक दी जा सकती है। उनका कहना है कि मोरी साफ करनेवालेके एक घंटेकी मेहनत प्रोफ़ेसरके दो घंटेके श्रमके बराबर मानी जानी चाहिए।

हम यह भी बता देना चाहते हैं कि कुछ समष्टिवादी मानते हैं कि भिन्न-भिन्न व्यवसायोंके संघोंको उनके कामके बदलेमें इकट्ठा रुपया दे देना चाहिए। जैसे एक व्यवसाय-संघ यह कहे कि "यह लो सौ टन लोहा। सौ श्रमिक इसकी उत्पत्तिमें लगे और उनके दस दिन इस काममें लग गये। उनका श्रम-दिवस आठ घंटेका था, अतः उन्होंने इस लोहेको आठ हजार श्रम-घंटोंमें प्रस्तुत किया। अर्थात् एक टनपर आठ घंटे लगे।" इस कामके बदलेमें राज्य उन्हें एक-एक घंटेके आठ हजार लेबर-नोट दे देगा और लोहेके कारखानेके श्रमिक उनको जिस तरह उचित समझेंगे आपसमें बांट लेंगे।

इसी प्रकार सौ खनिक आठ हजार टन कोयला बीस दिनमें खोद लेते हैं तो एक टन कोयलेका मूल्य दो घंटेका श्रम हुआ। राज्य खनिक-संघको एक-एक घंटेके सोलह हजार लेबर-नोट दे देगा और वह उन्हें अपने सदस्योंमें जिसका कार्य जितने मूल्यका समझा जायगा उस हिसाबसे बांट देगा।

अगर खनिकोंने एतराज किया कि लोहेका मूल्य प्रति टन आठ घंटेका नहीं छः घंटेका ही श्रम होना चाहिए, यदि प्रोफेसर कहे कि मेरे एक दिनका मूल्य नर्सके एक दिनका चौगुना होना चाहिए, तो राज्य दखल देकर झगड़ा निपटा देगा।

संक्षेपमें यही वह संगठन है जिसे समष्टिवादी साम्यवादी क्रांतिके द्वारा स्थापित करना चाहते हैं। उनके सिद्धांत इस प्रकार हैं—उत्पत्तिके साधनोंपर सबका सामूहिक स्वामित्व हो, हर एकको उतनी ही मजदूरी दी जाय जितना समय उसने वस्तुकी उत्पत्तिमें लगाया हो, साथ ही इसका भी ध्यान रक्खा जाय कि उसके श्रमकी उत्पादन-शक्ति कितनी है। राजनीतिक व्यवस्था प्रतिनिधि-शासनके ढंगकी होगी, पर उसमें इतना अंतर होगा कि जो लोग प्रतिनिधि चुने जायंगे उन्हें निश्चित आदेश दिये जायंगे और 'लोक-निर्णय'की प्रणाली काममें लायी जायगी।

हमें कहना पड़ेगा कि यह प्रणाली हमें सर्वथा अव्यवहार्य जान पड़ती है।

समष्टिवादी पहले तो एक क्रांतिकारी सिद्धांत—व्यक्तिगत संपत्तिका अंत कर देने—की घोषणा करते हैं, और फिर उत्पत्ति और उपभोगकी उस व्यवस्थाका समर्थन करके जो व्यक्तिगत संपत्तिसे उत्पन्न हुई है तुरत ही उसका खंडन भी कर डालते हैं।

वे क्रांतिकारी सिद्धांतकी घोषणा तो करते हैं, पर उन परिणामोंको भूल जाते हैं जिनका उससे उत्पन्न होना अनिवार्य है। श्रमके साधनों—जमीन, कारखानों, सड़कों, पूंजी आदि—पर जब व्यक्तिका स्वामित्व न रह जायगा, तब समाजकी जीवन-धारा बिलकुल ही नयी दिशामें प्रवाहित होने लगेगी, उत्पादनकी वर्तमान व्यवस्था, साध्य और साधन दोनों की दृष्टिसे, बिलकुल बदल जायगी; और ज्योंही भूमि, मशीनरी और उत्पत्तिके अन्य साधन सबकी सामान्य संपत्ति मान लिये जायंगे, व्यक्तियोंका आपसका साधारण संबंध दूसरा हो जायगा।

वे मुंहसे तो कहते हैं कि "व्यक्तिगत संपत्ति नहीं रहनी चाहिए", पर साधारण व्यवहारमें उसे कायम रखनेकी कोशिश करते हैं। वे कहते हैं—

"उत्पादनके विषयमें तो तुम्हारा संगठन साम्यवादी या संयुक्त स्वामित्वका होगा। खेत, औजार, मशीनरी और आजतकके सारे आविष्कार—कार-खाने, रेलवे, बंदरगाह, खानें आदि—सब तुम्हारे हैं। इस सम्मिलित संपत्तिमें हर एकके हिस्सेके बारेमें तनिक भी भेद-भाव न किया जायगा।

"परंतु आगेसे तुम इस बातपर भली भांति बहस-विचार कर लेना कि नयी मशीनें बनाने और नयी खानें खोदनेमें तुम्हारा भाग कितना होगा। तुम सावधानीसे हिसाब लगा लेना कि नयी उत्पत्तिमें तुम्हारा हिस्सा कितना है। तुम अपने श्रमके मिनटोंको गिन लेना और इसका ध्यान रखना कि तुम्हारे पड़ोसीके मिनटका मूल्य तुम्हारे मिनटसे अधिक न हो जाय।

"पर घंटेका हिसाब ही क्या? किसी कारखानेमें तो बुनकर एक साथ छः-छः कर्घे चला लेता है, किसीमें दोही चला पाता है। इसलिए तुम इसका हिसाब लगाना कि चीजके बनानेमें तुम्हारी देह, दिमाग और नाड़ी-संस्थान (नर्व सिसटम) की कितनी-कितनी शक्ति व्यय हुई है। भविष्यकी उत्पत्तिमें प्रत्येकका कितना हिस्सा होगा, इसका ठीक-ठीक हिसाब लगानेके लिए तुम इसका भी हिसाब रखना कि हर एकको अपना काम सीखनेमें कितने बरस लगाने पड़े थे। मगर यह हिसाब क्रांतिके बादके उत्पादनका ही रक्खा जायगा, जो उत्पत्ति उसके पहले हो चुकी है उसके विषयमें प्रत्येक व्यक्तिके भागका विचार न किये जाने की घोषणा कर दी जायगी।"

हमारे लिए तो यह बात स्पष्ट है कि कोई भी समाज दो परस्पर-विरोधी, एक दूसरेको काटनेवाले सिद्धांतोंपर आश्रित नहीं रह सकता, और जिस राष्ट्र, नगर या ग्राम-समूहका ऐसा संगठन होगा उसे मजबूर होकर उत्पत्तिके साधनोंपर व्यक्तिगत स्वामित्वके सिद्धांतकी ओर लौटना होगा या फिर पूरा साम्यवादी बन जाना पड़ेगा।

३

हम पहले कह चुके हैं कि कुछ समष्टिवादी लेखकोंकी राय है कि विशेष शिक्षाकी अपेक्षा रखनेवाले या पेशेके काम और साधारण काममें

अवश्य भेद किया जाना चाहिए। उनका कहना है कि एक इंजीनियर या डाक्टरके एक घंटेका काम एक लुहार, बढ़ई या नर्सके दो या तीन घंटेके कामके बराबर समझा जाना चाहिए और ऐसा ही भेद किसी मामूली मजदूरके काममें और उन सब कामोंमें होना चाहिए जिन्हें कुछ दिन सीखने की जरूरत होती है।

लेकिन ऐसा अंतर करनेके लिए तो वर्तमान समाजकी सारी असमानताएं कायम रखनी पड़ेंगी। इसके मानी तो यह होंगे कि शुरूसे ही श्रमिकों और उनपर हुकूमत करनेके दावेदारोंके दो अलग वर्ग मान लिये जायं। इसका अर्थ होगा समाजको दो भिन्न-भिन्न श्रेणियोंमें विभाजित कर देना। एक श्रेणीमें उच्च-शिक्षा-प्राप्त लोग होंगे और दूसरीमें मेहनत-मजदूरी करनेवाले नीचे दर्जेके सब लोग। इस दूसरे वर्गकी 'तकदीर' होगी पहले वर्ग वालोंकी सेवा करते रहना और अपनी मेहनतसे उन लोगोंके लिए भोजन-वस्त्र जुटाना, जो अपने अवकाशका उपयोग अपना पालन-पोषण करनेवालोंपर शासन करनेकी कला सीखनेमें करते हैं।

इसके मतलब यह होगा कि वर्तमान समाजकी एक मुख्य विशेषता को फिरसे जिला दिया जाय, और साथ-साथ उसे साम्यवादी क्रांतिका समर्थन भी प्राप्त हो जाय। इसका मतलब होगा हमारे पुराने गिरते-टूटते हुए समाजमें भी जो चीज निन्दनीय समझी जाती रही है उसीको सिद्धांतके पदपर बिठा देना।

पर इसका जवाब हमें क्या मिलेगा, यह हमें मालूम है। वे 'वैज्ञानिक साम्यवाद'की बात कहेंगे। मध्यमवर्गीय अर्थशास्त्रियों और मार्क्सके भी वचनोंको उद्धरण देकर यह सिद्ध करना चाहेंगे कि मजदूरीकी अलग-अलग दर रखनेका कारण है, क्योंकि समाजको इंजीनियर-पलटन बनानेमें मजदूर-पलटन बनानेसे अधिक शक्ति खर्च करनी पड़ती है। क्या अर्थशास्त्रियोंने यह साबित करनेकी कोशिश नहीं की है कि इंजीनियरको मजदूरसे बीस गुना वेतन इसलिए मिलता है कि एक इंजीनियर तैयार करनेमें जो पूंजी लगती है वह एक मजदूर के तैयार करनेमें लगनेवाली पूंजीसे अधिक होती है। खुद मार्क्सने भी माना है कि शारीरिक श्रम

को दो विभागोंमें भी यह भेद किया जाना चाहिए। उसने तो रिकार्डो* का मूल्य-विषयक सिद्धांत स्वीकार कर लिया, और मान लिया कि वस्तुओंके विनिमय-मूल्यमें वही अनुपात होता है जो उनके उत्पादनमें लगनेवाले श्रममें होता है—श्रमके ही हिसाबसे वह कमोबेश होगा। इसलिए वह दूसरे नतीजेपर पहुंच ही न सकता था।

परंतु हम जानते हैं कि यह जवाब कितना गलत है। हम जानते हैं कि आज इंजीनियर, वैज्ञानिक या डाक्टरको मजदूरसे जो दस गुना या सौ गुना अधिक वेतन मिलता है, और मिलमें कपड़ा बुननेवालेको जो खेतके मजदूरसे तिगुनी या दियासलाईके कारखानेमें काम करनेवाली लड़कीकी मजदूरीसे दस गुनी उजरत दी जाती है, तो इसका कारण यह नहीं है कि उन्हें 'तैयार करनेमें' समाजकी लागत ज्यादा लगी है, बल्कि यह है कि शिक्षा या उद्योग-धंधोंपर उनका इजारा हो गया है। इंजीनियर, विज्ञानवेत्ता अथवा डाक्टर भी उसी तरह अपनी पूंजी, अपनी उपाधियोंका लाभ उठाते है जिस तरह मध्यमवर्गका कारखानेदार अपने कारखानेसे नफा कमाता है, या राजा-नवाब अपने पदका लाभ उठाया करते थे।

अगर कारखानेदार इंजीनियरको मजदूरसे बीस गुना वेतन देता है तो इसका कारण है उसका अपना स्वार्थ। अगर इंजीनियर कारखानेदार को उत्पादनके खर्चमें साल भरमें ४००० पौंडकी बचत कर दिखाता है, तो कारखानेदार उसे ८०० पौंड दे देता है; अगर कारखानेदारके यहां कोई ऐसा फोरमैन है जो मजदूरोंसे अधिक काम लेकर चतुराईसे ४०० पौंडकी बचत कर लेता है तो वह खुशीसे उसे ८० या १२० पौंड वार्षिक भी दे देता है। अगर उसे ४०० पौंडका लाभ होता नजर आये तो वह ४० पौंड और खर्च कर देता है। यही पूंजीवादी प्रणालीका सार है। सब धंधों-व्यवसायोंमें यही अंतर दिखाई देता है।

इसलिए समष्टिवादियोंका यह कहना गलत है कि सीखे हुए काम का मूल्य इसलिए अधिक होता है कि उसपर अधिक लागत बैठी है;

* प्रसिद्ध अंग्रेज अर्थशास्त्री, समय १७७२–१८२३।

या उस विद्यार्थीको जिसने बड़े आनंदसे विश्वविद्यालयमें अपनी किशोरा- वस्था बितायी है, उस खनिकके लड़केसे जो ग्यारह वर्षकी उम्रसे कोयलेकी खानमें काम करते-करते पीला पड़ गया है, दस गुना वेतन पानेका हक है; अथवा मिलका बुनकर खेतके मजदूरकी तुलनामें तीन या चार गुना अधिक वेतन पानेका अधिकारी है। किसानको किसानी सिखानेमें जो खर्चा लगता है, बुनकरको बुनाई सिखानेमें उसका चौगुना नहीं लगा करता। बुनकरका वस्त्र-उद्योग जिन देशोंमें अभी कल-कारखाने नहीं हैं वहां अपना माल बेचकर खूब नफा कमाता है। खेतीके धंधेकी अपेक्षा शिल्प-उद्योग को सब राज्योंने अधिक सुविधाएं भी दे रखी हैं। बस बुनकर इन्हीं सुविधाओंका लाभ उठाता है।

किसीने अभीतक माल पैदा करनेवालेका 'उत्पादन-व्यय' नहीं निकाला। अगर यह एक काहिल रईसके बनानेमें एक श्रमिकको तैयार करनेकी अपेक्षा समाजको अधिक खर्चा करना पड़ता है, तो यह देखते हुए कि गरीब जनतामें कितनी बाल-मृत्युएं और अकाल मृत्युएं होती हैं, क्या एक स्वस्थ, तगड़े मजदूरको पैदा करनेमें एक कारीगरकी अपेक्षा समाजका व्यय अधिक नहीं हुआ है?

क्या हम मान लें कि अगर पेरिसकी एक मजदूर स्त्री को १५ पेंस रोजाना मिलता है, ओवर्नीकी उस कृषक-लड़कीको जो बेल या फीता बनाते-बनाते अंधी हो जाती है, ३ पेंस मिलता है, या एक खेतपर काम करने-वालेको २० पेंस मिलता है, तो इस अंतरका कारण यह है कि इसी अनुपातसे इनको 'तैयार करनेपर' कम या ज्यादा खर्चा पड़ा है? काम करनेवाले तो इससे भी सस्ती मजदूरीपर मिल जायंगे, पर इसका एक-मात्र कारण यही है कि अगर वे यह नामकी मजदूरी स्वीकार न करें तो हमारे अद्भुत संगठनकी बदौलत बेचारे भूखों मर जायं।

हमारे मतसे पारिश्रमिककी ऊंची-नीची दरें सरकारी टैक्स, राजकीय सहायता या संरक्षण और पूंजीपतियोंके एकाधिकारका मिश्रित फल या मिला-जुला नतीजा है। संक्षेपमें कह सकते हैं कि राज्य और निजी पूंजी इस भिन्नताके कारण हैं। इसलिए हमारा कहना है कि वर्तमान अन्यायों

के समर्थनकी आवश्यकतासे ही मजदूरी-संबंधी सारे सिद्धांत रचे गये हैं, फलतः हमें उनपर विचार करनेकी आवश्यकता नहीं।

वे यह भी कहेंगे कि समष्टिवादियोंकी मजदूरी-प्रणाली अधिक उन्नत व्यवस्था है। वे कहते हैं कि "आजकल एक मंत्रीका एक दिनका वेतन मजदूरकी सालभरकी मजदूरीसे अधिक होता है। इससे तो यह अच्छा ही होगा कि कुछ अच्छे कारीगर साधारण मजदूरसे दो या तीन गुना अधिक वेतन पायें। समानताकी दिशामें यह बहुत बड़ा कदम होगा।"

हमारी दृष्टिसे तो यह कदम आगे नहीं, पीछेकी ओर होगा। नये समाजमें सीखकर किये जानेवाले काम और मामूली कामका भेद करनेका अर्थ यह होगा कि जिस अन्यायको हम आज मजबूरन मानते हैं पर जानते हैं कि वह अन्याय है, उसीको हमारी क्रांति सिद्धांत मान ले। यह तो फ्रांस की राष्ट्रसभाके उन सदस्योंकी नकल करना होगा जिन्होंने सन् १७८९ में ४ अगस्तको जागीरदारोंके हक मिटा दिये और ८ अगस्तको फिर उन्हें कायम कर दिया, तथा उन्हें हर्जाना दिलानेके लिए किसानोंपर कर लगा दिये; यही नहीं, इन मुतालबोंको क्रांतिके सरक्षणमें भी ले लिया। रूसकी सरकारने भी हलवाहे-किसानोंकी मुक्तिके समय ऐसा ही किया था। उसने कुछ ऐसी जमीनके भी आगेसे जमींदारोंकी मान लिये जानेकी घोषणा कर दी जो पहले किसानोंकी समझी जाती थी।

एक अधिक प्रसिद्ध उदाहरण लीजिए। १८७१ की क्रांतिके अवसर पर पेरिसमें जो कम्यून-सरकार कायम हुई उसने तय किया कि उसकी कौंसिलके सदस्योंको रोजाना १२॥ शिलिंग पुरस्कार मिलेगा और नगरकी रक्षाके लिए लड़नेवालोंको १। शिलिंग रोजाना। उस समय यह निर्णय बहुत बड़ी लोकतंत्रोचित समानताका कार्य समझा गया। पर वास्तवमें कम्यूनने राजकर्मचारी और सैनिक, शासक और शासितकी पुरानी असमानताका ही अनुमोदन किया। एक अवसरवादी प्रतिनिधि-सभाका ऐसा निर्णय करना प्रशंसनीय लग सकता था, पर कम्यूनने तो अपने क्रांतिकारी सिद्धांतोंको कार्य-रूप न देकर अपने ही हाथों उनको कब्रमें सुला दिया।

हमारी आजकी समाज-व्यवस्थामें मंत्रीको ४००० पौंड वार्षिक मिलता है, और मजदूरको ४० पौंड या इससे भी कमपर संतोष करना पड़ता है। फोरमैन या मेठको साधारण श्रमिकसे दुगुना या तिगुना वेतन मिलता है। मजदूरोंमें भी ३ पेंस (३ आने) से ८ शिलिंग (५॥ रुपया) रोजाना तककी श्रेणियां हैं। हम मंत्रीके ऊंचे वेतनके जितने विरोधी हैं, उतने ही विरोधी एक मर्द मजदूरको ८ शिलिंग और गरीब देहाती लड़की को ३ पेंस मिलनेके भी हैं। हमारा नारा तो है—"शिक्षासे प्राप्त और जन्मगत विशेषाधिकार दोनोंका नाश हो!" हम इसीलिए तो अराजक साम्यवादी बने हैं कि इन विशेषाधिकारोंको देखकर हमारा कलेजा जल उठता है।

जब आजके सत्तावादी समाजमें भी इन विशेषाधिकारोंको देखकर हमारा खून खौल उठता है तो जिस समाजका जन्म समानताकी घोषणा से होगा क्या उसमें हम इन्हें बरदाश्त कर लेंगे?

यही कारण है कि कुछ समष्टिवादी भी, यह देख कर कि क्रांतिके जोशसे भरे समाजमें मजदूरीकी भिन्न-भिन्न दरें कायम रखना असंभव होगा, कहते हैं कि सबको बराबर मजदूरी मिलनी चाहिए। पर उन्हें नयी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, और उनका समान पारिश्रमिकका सिद्धांत भी वैसा ही ख़याली पुलाव साबित होता है जैसा दूसरे समष्टिवादियोंका भिन्न-भिन्न मजदूरीका सिद्धांत।

जो समाज सारी सामाजिक संपत्तिपर कब्जा कर लेगा और साहसके साथ संपत्तिपर सबके समान अधिकारकी घोषणा कर देगा—चाहे उसके उत्पादनमें उन्होंने कम मेहनत की हो या ज्यादा—उस समाजको मजबूर होकर सब प्रकारकी मजदूरी-व्यवस्था छोड़ देनी पड़ेगी, चाहे वह सिक्कोंमें दी जाती हो या 'लेबर-नोट' में।

४

समष्टिवादी कहते हैं कि "जो जितना करे वह उतना पावे"; अर्थात् समाजकी सेवामें जिसका जितना भाग है उसको उतना ही मिले।

वे चाहते हैं कि ज्यों ही साम्यवादी क्रांति उत्पत्तिके साधनोंको सार्वजनिक संपत्ति बना दे त्योंही यह सिद्धांत काममें लाया जाय। पर हमारा मत है कि यदि साम्यवादी क्रांतिने दुर्भाग्यवश ऐसे सिद्धांतको अपनाया तो वह अवश्य विफल होगी, और पिछली शताब्दियोंने जो सामाजिक समस्या हमारे सिर पटक दी है वह वैसे ही, बिना हल हुए पड़ी रहेगी।

हमारे आजके समाजमें जो आदमी जितना अधिक काम करता है वह उतना ही कम मजदूरी पाता है। ऐसे समाजमें अवश्य ही उक्त सिद्धांत पहली निगाहमें न्यायकी चेष्टा प्रतीत हो सकता है, पर वास्तवमें वह अन्यायको अमर बनानेवाला है। इस सिद्धांतकी घोषणासे ही मजदूरी-प्रथाका जन्म हुआ था, जिसका फल आजकी घोर विषमताएं और समाजके सारे वर्तमान घृणित दोष हैं। कारण यह है कि जिस क्षणसे काम का मूल्य सिक्कोंमें या मजदूरीके किसी और रूपमें आंका जाने लगा, जिस दिन यह मान लिया गया कि जो आदमी जितनी मजदूरी पा सकता हो उसे उतनी ही मिलेगी, राज्यकी सहायतासे चलनेवाले पूंजीवादी समाजका सारा इतिहास मानों उसी दिन लिख डाला गया; वह इतिहास इस सिद्धांतमें बीजरूपमें मौजूद था।

तब फिर क्या हम उसी स्थानको लौट जायं जहांसे चले थे, और विकासकी उन सारी मंजिलोंको फिरसे तै करें? हमारे सिद्धांतवादी मित्र तो यही चाहते हैं, पर सौभाग्यवश यह है असंभव बात। हमारा मत है कि क्रांति साम्यवादी ही होनी चाहिए, अन्यथा वह रक्त-प्रवाहमें बह जायगी और हमें दूसरी क्रांति करनी पड़ेगी।

समाजकी जो सेवाएं की जाती हैं, चाहे वे कारखाने या खेतमें किये गये श्रमके रूपमें हों, चाहे दिमागी कामके, उनका मूल्य रुपयोंमें नहीं आंका जा सकता। उत्पादनकी दृष्टिसे मूल्यकी—जिसको श्रमसे विनिमय-मूल्य कहते हैं—और न उसके व्यवहार-मूल्यकी ही ठीक नाप-तौल हो सकती है। अगर दो आदमी बरसों समाजके लिए रोज पांच घंटे भिन्न-भिन्न काम करते हैं, जो दोनोंकी अपनी-अपनी पसंद के अनुसार हैं, तो हम कह सकते हैं कि सब मिलाकर दोनोंका श्रम

बराबर है। पर हम उनके कामके टुकड़े नहीं कर सकते, और न यही कह सकते हैं कि एकके इतने दिन, घंटे या मिनटके कामका मूल्य दूसरे के इतने दिन, घंटे या मिनटके कामके बराबर है।

मोटे हिसाब हम यह कह सकते हैं जिस आदमी ने रोज दस घंटे काम करते हुए अपना अवकाश-काल समाजको दिया है उसने उस आदमीसे उसकी बहुत अधिक सेवा की जिसने पांच घंटे काम करते हुए ही अपने आरामका वक्त उसे दिया या कुछ भी नहीं दिया। पर हम उसके दो घंटेके कामको लेकर यह नहीं कह सकते कि उसके दो घंटेके कामकी कीमत दूसरे आदमीके एक ही घंटेके श्रमके बराबर है, और उसी हिसाबसे उसको मजदूरी मिलनी चाहिए। ऐसा करना तो इस बातको भूल जाना होगा कि आजका उद्योग-धंधा, खेती और समाजका सारा जीवन ही किस हदतक एक दूसरेसे गुंथा हुआ है। इस बातको भी भुला देना होगा कि व्यक्तिका काम कहांतक संपूर्ण समाजके भूत और वर्तमान श्रमका फल है। इसका अर्थ यह होगा कि हम अपनेको प्रस्तर-युगका प्राणी समझें, यद्यपि हम रहते हैं फौलादके युगमें !

आप कोयलेकी किसी आधुनिक खानमें जायं तो वहां एक भीमकाय मशीन देखेंगे जो एक पिंजरेको ऊपर उठाती और नीचे गिराती है। एक आदमी उस मशीनको चलाता है। उसके हाथमें एक 'लिवर' होता है जिससे मशीनकी गति रुक या बदल सकती है। वह ज्योंही उसे नीचे सरका देता है, पिंजरा दूसरी ओर चला जाता है। वह बिजलीकी सी तेजीसे पिंजरेको खानके भीतर गिराता या ऊपर उठाता है। एक 'इंडिकेटर' (निदर्शक) से उसे मालूम होता रहता है कि किस सेकंडमें पिंजरा खानमें किस जगह पहुंचा। उसकी निगाह सदा उसी पुरजेपर रहती है, और ज्योंही उसका कांटा एक स्थानपर पहुंच जाता है, वह पिंजरेकी गति रोक देता है। पिंजरा ठीक स्थानपर रुक जाता है, न एक गज ऊपर, न एक गज नीचे। इसके बाद ज्योंही मज-दूर कोयलेके डब्बोंको खाली कर देते हैं, वह लिवरको दूसरी ओर घुमा देता है और पिंजरा ऊपर चढ़ आता है।

रोज लगातार आठ या दस घंटे उसे इसी एकाग्रतासे 'इंडिकेटर'पर काम करना पड़ता है। अगर उसका ध्यान एक क्षणके लिए भी बहक जाय तो पिंजरा 'गियर' (चक्र)से टकरा जाय, उसके पहिये टूट जायं, रस्सियां चर्र-मर्र हो जायं, आदमी दबकर मर जायं, और खानका सारा काम बंद हो जाय। यदि लिवर घुमानेमें हर बार वह तीन सेकंडकी भी देर लगा दे तो हमारी आधुनिक सर्व-साधन-संपन्न खानोंमें कोयलेकी निकासी प्रति-दिन बीससे लेकर पचास टनतक कम हो जाय।

तब बतलाइए, खानके धंधेमें सबसे ज्यादा जरूरी आदमी कौन है? वही पिंजरेके ऊपर-नीचे करनेवाला? या वह लड़का जो नीचेसे पिंजरा उठानेका उसे संकेत करता है? या वह खोदनेवाला जो खानकी पेंदीमें काम करता है और जिसकी जान जानेका प्रतिक्षण भय रहता है तथा जो किसी दिन भीतरकी गैसके भभक उठनेसे मर जायगा? या वह इंजीनियर जो कोयलेकी सतहका हिसाब लगाता है? उसका अंदाजा जरासा गलत हो जाय तो खनिक चट्टानपर कुदालें मारने लगें। अथवा खानका मालिक ही ज्यादा जरूरी है, जिसने उसमें अपनी पूंजी लगायी और शायद विशेषज्ञोंकी रायके खिलाफ इस बातपर जोर दिया कि वहां बढ़िया कोयला निकलेगा?

खानके काममें जितने भी आदमी लगे हैं वे सब अपनी-अपनी शक्ति, सामर्थ्य, ज्ञान, बुद्धि और कौशलके अनुसार कोयला निकालनेके कार्यमें योग देते हैं। हम कह सकते हैं कि सबको हक है कि वे जीवित रहें, अपनी आवश्यकताओंकी पूर्ति करें, और उनकी पूर्ति हो जानेके बाद अपने शौक भी पूरा कर सकें। पर हर एकके कामका मूल्य हम नहीं ठहरा सकते।

और फिर क्या जो कोयला उन्होंने निकाला है वह क्या केवल उनका ही परिश्रम है? क्या उसमें उन लोगोंकी मेहनत शामिल नहीं है जिन्होंने खानोंतक रेल-लाइनें और रेलवे स्टेशनोंसे सब दिशाओंको जाने वाली सड़कें बनायीं? क्या उसमें उनका श्रम सम्मिलित नहीं है जिन्होंने खेतोंको जोत-बोकर अन्न उत्पन्न किया, लोहा निकाला, जंगलमें जाकर लकड़ी

काटी, कोयलेको काममें लानेवाली मशीनें बनायीं, और इस तरह धीरे-धीरे खानोंके उद्योगका विकास किया ?

इनमें से हर एकके कामको एक दूसरेसे बिलकुल अलग करना नितांत असंभव है। नतीजेसे कामकी नाप-तौल करना बहुत गलत बात है, और सारे कामके विभाग करना तथा कामके टुकड़ोंको श्रमके घंटोंसे नापना भी वैसा ही असंगत है। बस एक ही बात संभव रह जाती है और वह है—आवश्यकताको कामपर प्रधानता देना और सबसे पहले यह मान लेना कि हर आदमीको जिंदा रहनेका हक है, और फिर इसे भी कि उत्पत्तिके उद्योगमें जिस-जिसने योग दिया है उन सबको सुखसे रहनेका भी हक है।

मनुष्यके कार्योंमेंसे किसी दूसरी शाखाको लीजिए। जीवनकी सब प्रकार की अभिव्यक्तियोंको ही ले लीजिए। इसमेंसे कौन ऐसा है जो यह दावा कर सके कि मेरे कामका मेहनताना मुझको औरोंसे अधिक मिलना चाहिए ? क्या वह डाक्टर अधिक वेतनका दावा कर सकता है जिसने रोगका निदान किया, या वह नर्स जिसने रोगीकी सेवा-शुश्रूषा करके उसे चंगा किया ? वह आदमी बड़ी तनख्वाह पानेका हक रखता है जिसने पहले स्टीम-एंजिनका आविष्कार किया, या वह लड़का जिसने 'पिस्टन' (Piston)में भाप जानेके लिए 'वाल्व' ढकनेका मुंह खोलनेवाली रस्सीको पकड़ते-पकड़ते आजिज आकर एक दिन मशीनके लिवरसे उस रस्सीको बांध दिया था और बिना जाने ही 'आटोमेटिक वाल्व' (Automatic Valve) का आविष्कार कर लिया जो आधुनिक मशीनरीका बहुत जरूरी पुरजा है ?

एंजिनका आविष्कारक बड़ा वेतन पानेका अधिकारी है या न्यूकैसेल शहरका वह मजदूर जिसने यह बात सुझायी थी कि पत्थर लचक नहीं सकता और रेलकी पटरीके नीचे उसके रहनेसे ट्रेन पटरीसे उतर जाती है, इसलिए उसकी जगह लकड़ीके स्लीपर लगाने चाहिएं। एंजिनके इंजीनियर (ड्राइवर ?) को बड़ी तंखाह मिलनी चाहिए, या उस सिग-नल-वालेको जो गाड़ियोंको रोकता या जाने देता है ? या उस 'स्विचमैन'का जो ट्रेनको एक लाइनसे दूसरी पर ले जाता है ?

यूरोप और अमेरिकाके बीच समुद्रमें जो तार लगा है उसका श्रेय किसको है ? बिजलीके उस इंजीनियरको जो वैज्ञानिकोंके इसे असंभव बताते रहनेपर भी कहता रहा कि तारसे संवाद अवश्य जा सकेंगे ? अथवा उस विद्वान् प्राकृतिक-भूगोलवेत्ता मॉरीको है, जिसने यह सलाह दी थी कि मोटे तार न लगाकर बेतकी छड़ी जैसे पतले तार लगाने चाहिएं ? अथवा उन स्वयंसेवकोंको है, जो न जाने कहां-कहांसे आये थे और डेकपर दिन-दिन और रात-रात भर डटे रहकर तारके एक-एक गजकी जांच-पड़ताल करते रहे और उन कीलोंको निकालते जाते थे जो स्टीमशिप कंपनियोंके हिस्सेदारोंने मूर्खतावश तारके ऊपरी आवरणमें लगवाकर उसे बेकार कर दिया था ?

इससे बड़े क्षेत्रमें—जीवनके सच्चे क्षेत्रमें, जिसमें अनेक सुख-दुःख आते है, अनेक दुर्घटनाएं घटित होती हैं, क्या हममेंसे हर एक ऐसे किसी आदमीको याद नहीं कर सकता जिसने हमारी इतनी बड़ी सेवा की है कि यदि उसका मूल्य सिक्कोंमें बताया जाय तो हमें क्रोध आ जायगा ? संभव है वह सेवा कुछ शब्द—केवल कुछ शब्द मात्र—हो जो ठीक अवसर पर कहे गये। या संभव है किसीने महीनों और बरसों लगनके साथ हमारी सेवा की हो। क्या हम इन 'अमूल्य' सेवाओंका मूल्य 'लेबर-नोटों' में आंकेंगे ?

आप 'हर एकके काम'की बात करते हैं। पर प्रत्येक मनुष्यको सिक्कों, 'चेकों' आदिके रूपमें जितना मिलता है उसकी अपेक्षा वह अगणित गुना अधिक प्रदान करता है। ऐसा न हो तो मनुष्य-जाति दो पीढ़ियोंसे अधिक जीवित नहीं रह सकती। यदि माताएं बालकोंकी खबरगीरी करनेमें अपना जीवन अर्पण न कर दें, पुरुष निरंतर, बिना बराबर मूल्य का बदला मांगे, और जब उन्हें किसी भी पुरस्करकी आशा न होती तब भी, दूसरोंकी सेवा सहायता न करते रहें तो मनुष्य-जाति जल्दी ही धरा-धामसे लुप्त हो जाय।

हमें हिसाब करने, जोड़ने-घटानेकी बुरी तरह आदत लग गयी है। हमारे दिमागमें यह बात घुस गयी है कि हमे पानेके लिए ही दे देना

चाहिए, व्यापारी कोठी या कम्पनीका काम जिस तरह 'जमा' और 'नाम' या आमद-खर्च खातोंके आधारपर चलता है, समाजको भी वैसा ही बनाना हमने अपना लक्ष्य बना लिया है। यही कारण है कि मध्यवित्त समाजका दिन-दिन ह्रास होता जा रहा है। इसी कारण तो हम ऐसी 'अंधी' गलीमें आघुसे हैं जहांसे निकलना तबतक संभव नहीं कि जबतक हम पुरानी संस्थाओंको ढूंढ़-ढूंढ़कर नष्ट न कर दें।

अंततः समष्टिवादी भी इस बात को जानते हैं। वे कुछ अस्पष्ट रूप मे समझते हैं कि यदि समाज 'जितना करो उतना लो' का सिद्धांत पूरे तौरसे काममें लाये तो वह टिक नहीं सकता। उन्हें यह मालूम है कि मनुष्यकी आवश्यकताएं—जीवनोपयोगी वस्तुओंकी आवश्यकता (शौककी चीजोंकी बात हम नहीं कहते) सदा उसके कामके अनुपातसे ही नहीं हुआ करतीं। इसलिए देपेपका यह कथन है कि "इस विशिष्ट व्यक्तिवादी सिद्धांतमें इतना समाजवादी संशोधन करना होगा कि बालकों और युवकोंके (पालन-पोषण, और निवासके प्रबंध-सहित) शिक्षण की व्यवस्था, कमजोर और रोगियोंकी सेवा-सहायताके लिए सामाजिक संगठन और श्रम-कर्त्ताओंके लिए विश्रांति-गृहकी व्यवस्था आदि करनी पड़ेगी। वे जानते हैं कि चालीस वर्षके उस आदमीकी जिसके तीन बच्चे हैं आवश्यकताएं बीस बरसके युवकसे अधिक होती हैं। वे जानते है कि जो स्त्री बच्चेको दूध पिलाती और उसकी बगलमें पड़ी बिना सोये रातें बिताती है वह उतना काम नहीं कर सकती, जितना वह आदमी जिसने रात भर खुर्राटेकी नींद ली हो। शायद वे यह भी मानते हैं कि ऐसे स्त्री-पुरुष, जो समाजके लिए अत्यधिक श्रम करते-करते जीर्ण हो गये हैं, उतना काम करनेमें असमर्थ हैं, जितना कि वे लोग जिन्होंने आराममे अपना वक्त बिताया है और राज्य-कर्मचारीके रूपमें काम करके 'लेबर-नोटों'से जेबें भरते रहे हैं।

अतः वे अपने सिद्धांतमें संशोधन करनेको उत्सुक हैं। वे कहते हैं कि "समाज अपने बालकोंकी रक्षा और पोषण अवश्य करेगा, वृद्धों और कमजोरोंको सहायता अवश्य देगा। 'जितना करो उतना लो'के सिद्धांत

में वह मनुष्यकी आवश्यकताओंका ध्यान रखनेका संशोधन कर देगा।"

पर इसमें दान—दया प्रेरित दानकी ही भावना है; हां, इस दानका प्रबंध राज्य करेगा। अनाथालयोंमें सुधार और बुढ़ापे और बीमारोंके बीमोंकी व्यवस्था करके वे अपने सिद्धांतमें संशोधन करना चाहते हैं। पर "पहले चोट पहुंचाना, फिर मरहम लगाना" की बात वे अभी अपने दिमागसे निकाल नहीं पाये हैं।

इन बड़े अर्थशास्त्रियोंने साम्यवादको अस्वीकार किया, "जिसको जितनी जरूरत है उसको उतना मिले," के सिद्धांतकी खिल्ली उड़ायी; पर पीछे इन्हें पता लगा कि वे एक बात भूल गये हैं। वह यह कि उत्पादकों अर्थात् श्रमकर्त्ताओंकी आवश्तकताएं भी हुआ करती हैं। अब यह बात इन्होंने स्वीकार करली है। हां, उनका कहना है कि राज्य ही इस आवश्यकताका अंदाजा लगाये, वही इसकी जांच करे कि किसी व्यक्तिकी आवश्यकताएं उसके कार्यके परिणामसे अधिक तो नहीं हैं।

खैरात राज्य ही बांटेगा। इसके बाद अगला कदम होगा इंग्लैंड कासा गरीबोंका कानून बनना और सशक्त मुहताजोंको काम दिलाने का प्रबंध।

अंतर थोड़ा-सा ही है; क्योंकि जिस वर्तमान समाज-व्यवस्थाके विरुद्ध हम विद्रोह कर रहे हैं उसे भी तो अपने व्यक्तिवादी सिद्धांतोंमें थोड़ा संशोधन करना ही पड़ा है। उसे भी साम्यवादी दिशामें कुछ रिआयतें उसी दानके रूपमें करनी ही पड़ी हैं।

वर्तमान समाज भी अपनी दूकानोंको लूटसे बचानेके लिए मुट्ठी भर चने बांटा करता है, छूतके रोगोंकी बाढ़ रोकनेके लिए अस्पताल बनवाता है, जो अकसर बहुत बुरे होते हैं पर कोई-कोई बहुत अच्छे भी होते हैं। वह भी श्रमके घंटोंके हिसाबसे मजदूरी देनेके बाद उन गरीबों के बच्चोंको आश्रय देता है जिनका जीवन वह नष्ट कर चुका है। वह उनकी आवश्यकताएं देखकर थोड़ा-बहुत दान कर दिया करता है।

हम अन्यत्र कह चुके हैं कि गरीबी ही अमीरीका मूल कारण है। गरीबीने ही पहले पूंजीपतिको पैदा किया, क्योंकि जिस 'अतिरिक्त मूल्य'

की इतनी दुहाई दी जाती है वह तभी इकट्ठा किया जा सकता था जब ऐसे निर्धन लोग मौजूद हों जो भूखों मरनेसे बचनेके लिए अपनी मेहनत बेच देनेको मजबूर हों। अतः दरिद्रताने ही पूंजीपतियोंको बनाया। मध्ययुगमें दरिद्रोंकी संख्या इतनी तेजीसे बढ़नेका कारण यह था कि नये-नये राज्योंकी स्थापनाके बाद परस्पर-आक्रमण और युद्ध होते रहे और पूर्वीय देशोंका शोषण करनेसे यूरोपमें धन बढ़ गया था। पहले देहात और नगरके समाजोंमें जिन बंधनोंसे मनुष्य परस्पर बंधे हुए थे, इन दोनोंने उन्हें तोड़ फेंका। इन्हीं दोनों कारणोंसे पहलेके जीवनके, जब एक-एक जाति (Tribe) के लोग एक-एक प्रदेशमें रहा करते थे, अन्योन्याश्रय और समान-हितकी बातको छोड़ कर उन्होंने मजदूरीके सिद्धांतकी घोषणा की, जो दूसरोंका शोषण करनेवालोंको इतना प्रिय है।

जिस साम्यवादी क्रांतिका नाम भूखों, पीड़ितों और दुखियोंको इतना प्रिय है वह क्या इसी सिद्धांतको जन्म देगी ?

ऐसा कदापि नहीं हो सकता। जिस दिन गरीबोंकी कुल्हाड़ियां खाकर पुरानी संस्थाएं भूमिसात हो जायंगी उस दिन सब तरफसे यही पुकार आयेगी,—"रोटी, घर और आराम सबको मिलना चाहिए।" और यह पुकार सुनी जायगी। लोग उस समय कहेंगे—"हम पहले जीवन, सुख और स्वतंत्रताकी अपनी प्यास बुझायेंगे जिसे हम कभी तृप्त नहीं कर सके, और उसका स्वाद चख लेनेके बाद मध्यम वर्गके शासनके बचे-खुचे गढ़ोंको भी ढाहने, उसके बही-खातेसे जन्मे नीति-शास्त्र, 'जमा' और 'नाम'से निकले तत्त्वज्ञान और 'मेरी तुम्हारी' में विभाजित संस्थाओंको नष्ट करनेमें लग जायंगे। प्रुदोंके कथनानुसार हम नाशके द्वारा ही निर्माण करेंगे और हमारा निर्माण-कार्य साम्यवाद और अराजकवादके नामसे होगा।

: १४ :

उपभोग और उत्पादन

१

सत्तावादी संप्रदायोंका समाज और उसके राजनैतिक संगठनकी ओर जो दृष्टिकोण है, हमारा दृष्टिकोण उससे भिन्न है। हम राज्यसे प्रारंभ करके व्यक्तिके वर्णनतक नहीं पहुंचते। हम तो स्वाधीन व्यक्तिसे प्रारंभ कर स्वतंत्र समाजतक पहुंचते हैं। हम पहले उत्पादन, विनिमय, राज्य, कर आदिका विवेचन नहीं करते। इससे पहले हम इस बातपर विचार करते हैं कि व्यक्तियोंकी आवश्यकताएं और उनकी पूर्तिके साधन क्या हैं। ऊपरी निगाहमें यह अंतर बहुत मामूली मालूम हो सकता है, पर वस्तुतः इससे 'सरकारी अर्थशास्त्र'की सारी पद्धति ही उलट जाती है।

आप किसी भी अर्थशास्त्रीके ग्रंथको खोलकर देखें; आप देखेंगे कि वह उत्पादनसे अर्थात् उन साधनोंकी विवेचनासे प्रारंभ करता है जो आज-कल धनकी उत्पत्तिके लिए काममें लाये जाते हैं,—श्रम-विभाग, कारखाने, उसकी मशीनरी, पूंजीका संचय आदि। एडम स्मिथसे लगाकर मार्क्सतक सारे अर्थशास्त्री इसी लीकपर चले हैं। वे अपनी पुस्तकोंके अंतिम भागोंमें ही उपभोग (Consumption) की अर्थात् उन उपायोंकी चर्चा करते हैं जो व्यक्तिकी आवश्यकताओं की पूर्तिके लिए वर्तमान समाजमें काममें लाये जा रहे हैं। इस विवेचनमें भी वे इतना ही बताते हैं कि धनके लिए परस्पर-प्रतिस्पर्धा करनेवाले लोगोंके बीच उसका वितरण या विभाजन किस प्रकार किया जा रहा है।

शायद आप कहें कि यह क्रम तो युक्तिसंगत है। आवश्यकताओंकी पूर्ति करनेके पहले आपके पास वे साधन होने चाहिएं जिनसे उनकी पूर्ति होगी। पर कोई भी वस्तु उत्पन्न करनेके पहले क्या यह जरूरी नहीं

है कि आप उसकी आवश्यकता अनुभव करें? क्या आवश्यकताने ही मनुष्यको शुरूमें शिकार करने, पशु पालने, जमीन जोतने, औजार बनाने, और बादमें कलें ईजाद करनेको मजबूर नहीं किया? क्या आवश्यकताओंको समझे बिना ही उत्पत्ति कर डालनी चाहिए? इसलिए इतना तो कहना ही होगा कि पहले आवश्यकताओंपर विचार किया जाय और फिर इसपर कि उनकी पूर्तिके लिए उत्पादनका प्रबंध आज कैसा है और भविष्यमें कैसा होना चाहिए, यह क्रम भी उतना ही युक्तियुक्त है। हम इसी रास्तेसे चलना चाहते हैं।

परंतु ज्योंही हम इस दृष्टिकोणसे अर्थशास्त्रको देखते हैं त्योंही उसका रूप बिलकुल बदल जाता है। तब वह तथ्योंका विवरण मात्र नहीं रह जाता, बल्कि एक विज्ञान बन जाता है। इस विज्ञानकी परिभाषा हम यह कर सकते हैं—"मनुष्य-जातिकी आवश्यकताओं और उन साधनोंका अध्ययन जिनसे मानव-शक्तिका कम-से-कम अपव्यय होकर उनकी पूर्ति हो सके।" उसका सच्चा नाम तो होगा—'समाजका जीवन-शास्त्र' (Physiology of Society)। यह भी वैसा ही विज्ञान होगा जैसे वनस्पति-शास्त्र और प्राणि-शास्त्र हैं, जिनमें वनस्पतियों और प्राणियोंकी आवश्यकताओं और उनकी पूर्तिके अधिक-से-अधिक लाभदायक मार्गोंका अध्ययन किया जाता है। समाजशास्त्रीय (Sociological) विज्ञानोंमें मनुष्य-समाजोंकी अर्थ-व्यवस्थाके विज्ञानका वही स्थान है जो जीव-शास्त्रीय (Biological) विज्ञानोंमें पौधों और प्राणियोंकी जीवन-क्रियाकी विवेचना करनेवाले शास्त्रोंका है।

हमारे विवेचनका क्रम इस प्रकार है। कुछ आदमी हैं जो समाज-रूपमें संगठित हैं। उन सबको स्वास्थ्यकर मकानोंमें रहनेकी आवश्यकता प्रतीत होती है। जंगलियोंके झोंपड़ोंसे उन्हें संतोष नहीं होता, वे अधिक सुखद आश्रय चाहते हैं। अब सवाल यह है कि मनुष्यकी वर्तमान उत्पादन-शक्तिको ही प्रमाण मानते हुए क्या हर एक आदमीको अपना निजका मकान मिलना संभव है? और है तो कौनसी बात उसमें बाधक हो रही है?

इस प्रश्नपर विचार करते ही हमें मालूम होता है कि यूरोपके प्रत्येक परिवारको बहुत आसानीसे एक सुख-सुविधायुक्त घर मिल सकता है। वह घर वैसा ही होगा जैसे इंग्लैंड, बेल्जियम आदिमें बनते है। कुछ दिनोंके श्रमसे ही एक छोटा-सा सुंदर, हवादार और बिजली लगा हुआ घर तैयार हो सकता है।

परंतु नब्वे प्रतिशत यूरोपवासियोंको कभी स्वास्थ्यकर घरमें रहनेका सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ, क्योंकि सभी युगोंमें साधारण लोगोंको तो अपने शासकोंकी आवश्यकताएं पूरी करने लिए दिन-रात पिसना पड़ता ही रहा, और उनके पास न इतनी फ़ुरसत थी न इतना पैसा ही कि वे अपने मनका मकान बनाते या बनवा लेते। और जबतक वर्तमान परिस्थिति बनी रहेगी तबतक उन्हें मकान नहीं मिल सकते, उन्हें झोपड़ों या झोंपड़े-जैसे घरोंमें ही गुजर करना होगा।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हमारा रास्ता अर्थशास्त्रियोंके विवेचन-क्रमसे बिलकुल उलटा है। वे उत्पादनके तथोक्त नियमोंको बहुत महत्त्व देते हैं और आंकड़े सामने रखकर कहते हैं कि चूंकि नये बननेवाले मकानोंकी संख्या इतनी कम है कि उनसे सबकी मांग पूरी नहीं हो सकती, इसलिए नब्वे प्रतिशत यूरोप-वासियोंको झोंपडोंमें ही रहना पड़ेगा।

अब भोजनके प्रश्नपर विचार करें। अर्थशास्त्री तो पहले श्रम-विभागसे होनेवाले लाभोंको गिनाते हैं, फिर कहते हैं कि इस सिद्धांतके अनुसार यह आवश्यक है कि कुछ लोग खेती-बारीका काम करें, कुछ लोग उद्योग-धंधोंका। वे बतलाते हैं कि खेती करनेवाले इतना माल पैदा करते हैं, कारखानोंका उत्पादन इतना है, विनिमय (Exchange) इस प्रकार चलता है। वे बिक्री, लाभ, खालिस मुनाफा या अतिरिक्त मूल्य, मजदूरी, टैक्स, बैंकिंग आदिका विश्लेषण करते हैं।

परंतु उनके विवेचनका यहांतक अनुसरण कर चुकनेपर भी अगर हम उनसे यह पूछते हैं कि "जब प्रत्येक परिवार हर साल इतना अन्न उत्पन्न कर सकता है कि दस, बीस या सौ आदमियोंका भी पेट भरा जा

सके तो करोड़ों आदमी क्यों भूखे रहते हैं ?", तो हमें कोई नयी बात नहीं बतायी जाती। इसके जवाबमें वे फिर अपना श्रम-विभाग, मजदूरी अतिरिक्त मूल्य, पूंजी आदिका वही पुराना राग अलापने लगते हैं और फिर इसी नतीजेपर पहुंचते हैं कि उत्पत्ति इतनी नहीं होती कि सबकी आवश्यकताएं पूरी हो सकें। यह नतीजा सही हो भी तो इससे हमारे इस सवालका जवाब नहीं मिलता कि मनुष्य अपने श्रमसे अपना पेट भरनेभर अन्न उत्पन्न कर सकता है या नहीं ? और नहीं कर सकता तो किस अड़चनके कारण ?

यूरोपमें पैंतीस करोड़ जन बसते हैं। उन्हें इतना अन्न, इतना मांस, शराब, दूध, अंडे और मक्खन साल भरमें चाहिए। इतने मकान चाहिए और इतना कपड़ा चाहिए। यह उनकी कम-से-कम आवश्यकता है। क्या वे इतना उत्पादन कर सकते हैं? और कर सकते हैं तो इसके बाद उनके पास कला, विज्ञान और मनोविनोदके लिए—अर्थात् उन सब चीजोंके लिए जो जीवनके लिए नितांत आवश्यक पदार्थोंकी श्रेणीमें नहीं आतीं—क्या काफी अवकाश बचेगा ? अगर ऐसा हो सकता है तो इसमें रुकावट क्या है ? रुकावटोंको दूर करनेके लिए उन्हें क्या करना चाहिए ? क्या इस यत्नमें सफल होनेके लिए समयकी आवश्यकता है ? है तो समय दीजिए। पर हमें उत्पादनका मूल उद्देश्य न भूल जाना चाहिए, और वह है—सबकी आवश्यकताओंकी पूर्ति करना।

अगर मनुष्यकी सबसे बड़ी आवश्यकताएं आज पूरी नहीं हो पातीं तो अपनी उत्पादन-शक्ति बढ़ानेके लिए हमें क्या करना चाहिए ? पर क्या इसका और कोई कारण नहीं है ? क्या ऐसा नहीं हो सकता कि मनुष्यकी आवश्यकताओंकी ओर दृष्टि न रखनेसे उत्पादन बिलकुल गलत रास्तेपर चला गया हो और उसका प्रबंध सदोष हो ? और चूंकि हम साबित कर सकते हैं कि बात ऐसी ही है इसलिए हमें देखना चाहिए कि उत्पत्तिकी नव-व्यवस्था किस प्रकार की जाय जिसमें सचमुच सबकी आवश्यकताओंकी पूर्ति हो सके।

हमें तो स्थितिका सामना करनेका ठीक रास्ता यही मालूम होता

है। बस यही वह रास्ता है जिससे अर्थशास्त्र वस्तुतः विज्ञान—सामाजिक जीवन-विज्ञान—बन सकता है।

यह स्पष्ट है कि जबतक विज्ञान उत्पादनके उसी प्रकारका विवेचन करता रहेगा जो आज सभ्य जातियों, भारतके पंचायती ग्रामों (Communes) या जंगली जातियोंमें प्रचलित है, तबतक तो तथ्योंको अर्थशास्त्री आजकल जिस रूपमें उपस्थित करते हैं—अर्थात् प्राणि-शास्त्र और वनस्पति-शास्त्रके वर्णनात्मक अध्यायों-जैसा सीधा-सादा वर्णन—उसमें शायद ही परिवर्तन हो सके। पर यदि यह अध्याय इस प्रकार लिखा जाय कि उससे यह भी जाना जा सके कि मनुष्यकी आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिए शक्तिका मितव्यय कैसे होना चाहिए तो उसमें अधिक यथार्थता आ जायगी और वर्णन भी अधिक विशद हो जायगा। तब उससे यह स्पष्ट हो जायगा कि वर्तमान व्यवस्थासे मनुष्यकी शक्तिकी कैसी भयानक बर्बादी हो रही है। यह बात भी साबित हो जायगी कि जबतक यह व्यवस्था रहेगी तबतक मानव-समाजकी आवश्यकताएं कभी पूरी नहीं होंगी।

हम समझते हैं कि उस समय हमारा दृष्टिकोण बिलकुल ही बदल जायगा। तब हमारी निगाह उस करघेतक जो इतने गज कपड़ा बुनता है, या उस मशीनतक जो लोहेकी चद्दरमें छेद करती है, या उस तिजोरीतक ही पहुंचकर न रह जायगी जिसमें कम्पनियोंके हिस्सोंका मुनाफा भरा जाता है; बल्कि उस मनुष्यपर भी जायगी जो असली उत्पादनकर्ता है और जो प्रायः उस पकवानको खुद चखतक नहीं पाता जो वह दूसरोंके लिए रोज बनाया करता है। हमें यह भी समझ लेना चाहिए कि दृष्टिकोण ही गलत होनेसे जो आज मूल्य और विनिमयके 'नियम' कहे जाते हैं वे आजकल घटित होनेवाली घटनाओंकी बड़ी गलत व्याख्या हैं। और जब उत्पादनकी व्यवस्था इस प्रकार कर दी जायगी कि उससे समाजकी सारी आवश्यकताओंकी पूर्ति हो सके तो हालत बिलकुल दूसरी हो जायगी।

२

आप हमारे दृष्टिकोणसे देखने लगें तो अर्थशास्त्रका एक भी सिद्धांत ऐसा न बचेगा जिसकी सूरत बिलकुल बदल न जाय।

उदाहरणार्थ अति-उत्पादन (Over-Production) को ही लीजिए। यह शब्द हमारे कानोंमें रोज गूंजा करता है। क्या एक भी अर्थशास्त्री, अर्थशास्त्र-परिषदोंका सदस्य या अर्थशास्त्री उपाधियोंका उम्मेदवार ऐसा है जिसने इस मतका पोषण न किया हो कि अत्युत्पादनके कारण ही संसारमें व्यापारिक संकट आया करते हैं—अर्थात् किसी विशेष समयमें रुई, कपड़े, खाद्य-सामग्री या घड़ियोंका उत्पादन उनकी आवश्यकतासे अधिक हो जाता है? क्या हम सभीने उन पूंजीपतियोंकी लूटके विरुद्ध जोरकी आवाज नहीं उठायी है जो इतना माल उत्पन्न करनेपर तुले हुए हैं जितना खप नहीं सकता?

पर समीक्षाकी कसौटीपर कसकर देखनेसे ये सभी दलीलें खोटी ठहरेंगी। आम इस्तेमालकी चीजोंमें क्या वास्तवमें एक भी ऐसी है जो आवश्यकतासे अधिक उत्पन्न की जाती हो? कुछ देश जो बहुत-सा माल देसावर भेजते हैं उसकी भी एक-एक चीजको लेकर जांच कर लीजिए। आपको मालूम हो जायगा कि प्रायः सभी चीजें निर्यात करनेवाले देशोंके निवासियोंके लिए ही काफी नहीं होतीं।

जो गेहूं रूसका किसान दूसरे देशोंको भेजता है वह रूस-निवासियोंकी आवश्यकतासे अधिक नहीं है। यूरोपियन रूसमें गेहूं और राई (एक किस्मका मोटा अनाज) बड़ी इफरातसे पैदा होते हैं, पर वे केवल वहांके निवासियोंके लिए ही काफी होते हैं। आम तौरसे जब किसान टैक्स और लगान चुकानेके लिए अपना गेहूं या राई बेचता है तो उसके पास अपनी जरूरत भरके लिए भी ये चीजें नहीं रह जातीं।

इंग्लैंड दुनियाके हर हिस्सेमें अपना कोयला भेजता है, पर वह कोयला उसकी निजकी आवश्यकतासे फाजिल नहीं होता। देशके घरू खर्चके लिए तो आदमी-पीछे सालभरमें केवल पौन टन ही कोयला

बचता है। लाखों इंग्लैंड-वासी जाड़ेमें आगके लिए भी तरसा करते हैं, या वह इतनी-सी मिलती है कि उससे थोड़ासा शाकभर पका लें। इंग्लैंड सब देशोंसे अधिक माल देसावर भेजता है; पर वहां भी केवल कपड़ा ही एक ऐसी चीज है जो आम इस्तेमालकी है और जिसकी उत्पत्ति शायद आवश्यकतासे अधिक होती है। मगर जब हम यह देखते हैं कि ब्रिटिश संयुक्त राज्यकी एक-तिहाई जनता चीथड़ोंसे तन ढकती है तो हम सोचते हैं कि जो कपड़ा बाहर जाता है क्या वह जनताकी सच्ची आवश्यकताओं की पूर्ति न करता?

आजकल जो माल बाहर भेजा जाता है, साधारणतः वह देशकी आवश्यकतासे अधिक नहीं होता, प्रारंभमें ऐसा भले ही रहा हो। नंगे पांव रहनेवाले चर्मकारकी कहानी पहले कारीगरोंके बारेमें कही जाती थी। वह आजके राष्ट्रोंके विषयमें भी उतनी ही सच्ची उतरती है। जो वस्तुएं जीवनके लिए आवश्यक होती हैं उन्हींको हम बाहर भेजते हैं, और हम इसलिए ऐसा करते हैं कि श्रमिकोंमें यह सामर्थ्य नहीं होती कि अपनी मजदूरीसे अपनी ही पैदा की हुई चीजोंको खरीद सकें, और साथ-साथ पूंजीपतिका किराया और साहूकारका ब्याज भी चुका सकें।

केवल इतना ही नहीं होता कि हमारी सुखकी आवश्यकता, जो दिन-दिन बढ़ती जा रही है, पूरी नहीं होती, बल्कि जो चीजें जीवनके लिए अनिवार्य हैं वे भी अकसर नहीं मिलतीं। अतः 'अतिरिक्त उत्पत्ति'का अस्तित्व ही नहीं है, कम-से-कम उस अर्थमें नहीं है जिसमें सिद्धांतवादी अर्थशास्त्री उसका प्रयोग किया करते हैं।

दूसरी बात लीजिए। सब अर्थशास्त्री कहते हैं कि यह एक सुसिद्ध नियम है कि "मनुष्य जितना खर्च करता है उससे ज्यादा पैदा करता है।" अपनी कमाईसे अपना निर्वाह करनेके बाद उसके पास कुछ बच भी रहता है। मसलन् कृषकोंका एक परिवार इतना उत्पन्न करता है जो कई परिवारोंके खानेको काफी होता है, इत्यादि।

हमारे लिए तो इस बार-बार दुहराये जानेवाले वाक्यका कोई अर्थ

ही नहीं है। अगर इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक पीढ़ी आगे आनेवाली पीढ़ियोंके लिए कुछ-न-कुछ छोड़ जाती है तब तो यह सही हो सकता है। उदाहरणार्थ एक किसान एक पेड़ लगाता है। वह पेड़ शायद तीस, चालीस या सौ वर्षतक खड़ा रहेगा, और उसके फल उसके नाती-पोते भी खायेंगे। अथवा वह कुछ बीघे नयी जमीन साफ करता है और हम कहते हैं कि अगली पीढ़ियोंकी संपत्तिमें इतनी वृद्धि हुई। सड़कें, पुल, नहरें, मकान और फरनीचर, यह सब ऐसा धन है जो आनेवाली पीढ़ियोंको विरासतमें मिलेगा।

पर अर्थशास्त्रियोंका तात्पर्य यह नहीं है। वे कहते हैं कि किसानको अपने खर्चके लिए जितने धनकी आवश्यकता होती है वह उससे अधिक पैदा करता है। इसके बदले उन्हें यह कहना चाहिए कि किसान से उपजका बड़ा भाग राज्य अपने टैक्सके रूपमें, पादरी अपने धर्म-दशांशके रूपमें और जमींदार लगानके रूपमें ले लेता है। कृषक-वर्ग पहले जितना उत्पन्न करता था उतना सब अपने इस्तेमालमें लाता था, केवल आकस्मिक आवश्यकताओं या पेड़ लगाने, सड़क बनाने आदिके लिए कुछ बचा रखता था। पर अब उस वर्गको बड़ी गरीबीकी हालतमें किसी तरह खींच-तानकर गुजारा करना पड़ता है। उसकी पैदावारका शेष सारा भाग राज्य, जमींदार, पादरी और महाजन ले लेते हैं।

इसलिए हम इस बातको इस तरह कहना ज्यादा पसंद करते हैं कि किसान और मजदूर आदि जितना पैदा करते हैं उससे कम खर्च करते हैं, क्योंकि उन्हें मजबूरन अपनी कमाईका अधिकांश बेच देना पड़ता है, और खुद उसके थोड़ेसे अंशसे ही संतोष करना पड़ता है।

हमें यह भी कह देना चाहिए कि अगर अपना अर्थशास्त्र हम व्यक्ति की आवश्यकताओंसे आरंभ करते हैं तो साम्यवादपर पहुंचे बिना नहीं रह सकते। साम्यवाद ऐसा संगठन है जिसके द्वारा हम सर्वाधिक-पूर्ण और मितव्ययी मार्गसे सबकी आवश्यकताओंकी पूर्ति कर सकते हैं। दूसरी ओर यदि हम अपने प्रचलित ढरेंके अनुसार उत्पादनसे आरंभ करते हैं, लाभ और अतिरिक्त मूल्यको अपना लक्ष्य बनाते हैं,

इसका विचार नहीं करते कि हमारे उत्पादनसे आवश्यकताओंकी पूर्ति होती है या नहीं, तो अनिवार्य रूपसे हम पूंजीवादपर या अधिक-से-अधिक समष्टिवादपर ही पहुंचते हैं, और ये दोनों ही वर्तमान मजदूरी-व्यवस्थाके ही दो भिन्न रूप हैं।

वस्तुतः जब हम व्यक्ति और समाजकी आवश्यकताओं और उन साधनोंका भी विचार करते हैं जिनका मनुष्यने अपनी प्रगतिकी भिन्न-भिन्न मंजिलोंमें उन आवश्यकताओंको पूरी करनेके लिए प्रयोग किया, तो हम तुरत इसकी जरूरत महसूस करते हैं कि हम अपने कार्योंको सुव्यवस्थित बनायें, आज-कलकी तरह अव्यवस्थित उत्पादन न करते रहें। तब यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जिस धनका उपभोग नहीं होता और जो एक पीढ़ीसे दूसरीको उत्तराधिकार-रूपमें मिलता है उसपर थोड़ेसे लोगोंका कब्जा कर लेना सबके हितके अनुकूल नहीं है। यह बात सच्ची मालूम होती है कि इन तरीकोंके कारण समाजके तीन-चौथाई भागकी आवश्यकताएं पूरी नहीं हो पातीं, जिससे वर्तमान समयमें मनुष्य-शक्तिका जो व्यर्थ बातोंमें अपव्यय हो रहा है वह और भी बड़ा अपराध हो जाता है।

इसके सिवा हमें यह भी मालूम होता है कि वस्तुओंका सबसे अच्छा उपयोग यही है कि उनसे सबसे पहले उन आवश्यकताओंकी पूर्ति की जाय जो सबसे बड़ी हैं। दूसरे शब्दोंमें कह सकते हैं कि जिसे वस्तुका 'व्यवहार-मूल्य' (Value-in-Use) कहा जाता है वह सनक या कोरी कल्पनाकी बात नहीं है, बल्कि उससे होनेवाली सच्ची आवश्यकताओंकी पूर्तिपर स्थित है।

स्थितिपर इस दृष्टिसे विचार करनेपर साम्यवाद ही युक्तिसिद्ध परिणाम ठहरता है। साम्यवादका अर्थ है समष्टि-रूपसे उपभोग, उत्पत्ति और विनिमयकी दृष्टिके अनुकूल संगठन या व्यवस्था। और हमारी राय में यही एकमात्र वैज्ञानिक संगठन है।

जो समाज सबकी आवश्यकताओंको पूरा करेगा और जिसे यह मालूम होगा कि इस उद्देश्यकी सिद्धि लिए उत्पादनकी व्यवस्था किस

तरह करनी होगी उसे उद्योग-धंधोंके बारेमें बनी कई गलत धारणाओं को भी दिमागसे निकाल देना पड़ेगा। इन वहमोंमें सबसे पहला है श्रम-विभागका सिद्धांत जिसका प्रचार अर्थशास्त्री प्रायः किया करते हैं। हम इसपर अगले परिच्छेदमें विचार करेंगे।

: १५ :

श्रम-विभाग

१

अर्थशास्त्र समाजमें होनेवाली बातोंका वर्णन और प्रभावशाली वर्ग के हितार्थ उनका समर्थन कर देनाभर अपना कर्तव्य समझता है। इस-लिए उसका फैसला उद्योग-धंधोंमें श्रम-विभागके पक्षमें है। पूंजीपतियों के लिए लाभदायक देखकर उसने इसे सिद्धांतका रूप देदिया है।

आधुनिक अर्थशास्त्रके जन्मदाता एडम स्मिथने गांवके एक लुहार की मिसाल दी है। अगर उसे कीलें बनानेका अभ्यास नहीं है तो वह बड़ी मेहनतसे दिन भरमें मुश्किलसे दो या तीन सौ कीलें बना पायेगा, फिर भी वे अच्छी न होंगी। पर यदि उस लुहारने जन्मभर केवल कीलें ही बनायी हों तो वह एक दिनमें दो हजार कीलें बना देगा। इससे उन्होंने यह नतीजा निकाला है—"श्रमका विभाग करो, विशेषीकरण (Speci-alisation) करो, विशेषीकरणकी ओर बढ़ते जाओ। हमारे पास ऐसे लुहार हों जिन्हें कीलोंके सिरे या नोकें ही बनाना आता हो। इससे हम ज्यादा माल पैदा करेंगे और धनी हो जायंगे।"

पर उन्होंने यह न सोचा कि जिस आदमीको जिंदगीभर केवल कीलोंके सिरे बनाने पड़ें उसे अपने कार्यमें दिलचस्पी न रह जायगी, जब वह केवल यही काम जानता होगा तब उसकी जीविका सोलहो आने कारखानेदारकी दयापर अवलंबित होगी, वह बारहमें चार महीने बेकार रहेगा, और जब कोई उम्मेदवार उसकी जगह काम करनेको मिल जायगा तब उसकी मजदूरी बहुत कम हो जायगी। इन सब बातोंपर विचार किये बिना ही वह हर्षातिरेकसे चिल्ला उठे—"श्रम-विभाग जुग-जुग जिये! इसी सोनेकी खानसे राष्ट्र समृद्ध होगा!" और इस नारेमें सबने उसका साथ दिया।

बादमें जब सिसमांडी* या जे० बी० से जैसोंने इस बातको समझा कि श्रम-विभागसे समस्त राष्ट्रकी धन-वृद्धि न होकर केवल धनिकोंका धन बढ़ता है, और वह मजदूर जो जीवन भर पिनका अठारहवां भाग ही बनाता रहता है बुद्धिहीन होकर दरिद्रताके गहरे गढ़ेमें गिर जाता है, तब सरकारी अर्थशास्त्रियोंने इसका क्या इलाज निकाला? कुछ भी नहीं। उन्होंने यह सोचनेकी भी तकलीफ न की कि एक ही यांत्रिक काममें जन्मभर लगे रहनेसे श्रमिककी अकल और आविष्कार-बुद्धि मारी जायगी, और उसके कई धंधे अदल-बदलकर करते रहनेसे राष्ट्रकी उत्पादन-शक्ति काफी बढ़ जायगी। हमें अब इसी प्रश्नपर विचार करना है।

फिर भी सार्वकालिक और बहुधा पैतृक श्रम-विभागके इस सिद्धांत का यदि केवल अर्थशास्त्रके पंडित ही प्रचार करते तो हम शायद उन्हें जी भरकर प्रचार कर लेने देते। पर विज्ञानके दिग्गजोंकी बतायी हुई बातें साधारण लोगोंके दिमागोंमें भी घुस जाती हैं और उन्हें बहका देती हैं। श्रम-विभाग, मुनाफा, व्याज आदि की बातें बार-बार इस तरह सुनते रहनेसे, मानों ये मसले मुद्दतसे हल हो चुके हों, मध्यमवर्ग के सब लोग और मजदूर भी अर्थशास्त्रियोंकी तरह तर्क करने लगते हैं, वे भी इन्हीं अंध-विश्वासोंकी पूजा करने लगते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अधिकांश समाजवादी और वे लोग भी जिन्होंने अर्थ-शास्त्रकी गलतियोंको निर्भय होकर प्रकट किया है, श्रम-विभागका समर्थन करते हैं। उनसे पूछिए कि क्रांति-युगमें श्रमका कैसा प्रबंध करना चाहिए तो वे कहेंगे कि श्रम-विभागको तो कायम रखना ही होगा। यानी क्रांतिसे पहले यदि आप पिनकी नोक पैनी किया करते थे तो क्रांतिके बाद भी आपको वही काम करना होगा। अवश्य ही आपको पांच घंटेसे अधिक काम न करना पड़ेगा, पर आपको जिंदगीभर पिनकी नोक ही घिसते रहना होगा। और दूसरे लोग ऐसी मशीनोंके डिजाइन बनायेंगे जिनसे आप अपने जीवन-कालमें अरबों पिनोंकी नोकें ठीक कर सकेंगे। कुछ और लोग साहित्य, विज्ञान,

* स्विस इतिहासज्ञ और अर्थशास्त्री।

कला आदिकी उच्च शाखाओंके विशेषज्ञ बनेंगे। पास्तिर इसलिए पैदा हुआ था कि वह एंथ्रेक्स (एक जहरीला फोड़ा) के टीके का आविष्कार करे, पर आप तो इसीलिए पैदा हुए हैं कि पिनोंको तेज करते रहें। क्रांतिके बाद भी आप दोनोंको अपने उसी धंधेमें लगे रहना होगा। यह सिद्धांत इतना भयावना है, समाजके लिए इतना हानिकर है, मनुष्यमें इतना पशुत्व पैदा कर देनेवाला है और इतनी बड़ी बुराईकी जड़ है कि हम इसके विभिन्न रूपोंपर विचार करना जरूरी समझते हैं।

हमें श्रम-विभागके कुपरिणाम भली भांति ज्ञात हैं। उसका पहला फल यह है कि समाज दो वर्गोंमें विभक्त हो जाता है। एक वर्ग उत्पादन करनेवाले श्रमिकोंका होता है, जो अपनी उत्पत्तिके बहुत थोड़े अंशका ही स्वयं उपभोग करते हैं, और केवल शारीरिक श्रमका काम करनेके कारण जिन्होंने सोचने-विचारनेसे पेंशन लेली है। उनका काम भी बुरा होता है, क्योंकि उनका मस्तिष्क निष्क्रिय, जड़ बन रहा है। दूसरा वर्ग है उन लोगोंका जो दूसरोंके पैदा किये हुए मालका उपभोग किया करते हैं और जो खुद बहुत थोड़ा उत्पन्न करते हैं या कुछ भी उत्पन्न नहीं करते। उन्हें दूसरोंके बारेमें सोचनेका इजारा मिला हुआ है। पर वे लोग इस कामको भी बुरी तरह करते हैं, क्योंकि हाथसे काम करनेवालोंकी दुनियासे उनका परिचय ही नहीं होता। उसका एक नतीजा यह भी है कि खेतीका काम करनेवाले मजदूरोंको मशीनका कुछ भी ज्ञान नहीं होता, और मशीनोंपर काम करनेवाले खेतीके बारेमें बिलकुल कोरे होते हैं। आजकलके कारखाने यह चाहते हैं कि एक लड़का हो जो मशीनको चलाता रहे, पर उसको न समझता हो और न कभी समझे, और एक फोरमैन हो जो उस लड़केका ध्यान मशीनसे जरा भी हट जाय तो उसपर जुर्माना कर दे। औद्योगिक या कलोंसे की जानेवाली खेतीका आदर्श यह है कि खेतपर काम करनेवाला मजदूर तो बिलकुल न रहे, उसकी जगहपर एक ऐसा आदमी नियुक्त किया जाय जो स्टीम-हल भी चला ले और मांडने या डांठसे अनाज निकालनेकी मशीन भी। श्रम-

विभागका अर्थ यह है कि आदमियोंपर जिंदगीभरके लिए खास-खास कामोंका लेबिल या मुहर लगा दी जाय। कुछ आदमी कारखानेमें रस्सी बटनेके लिए निर्दिष्ट हो जायं, कुछ फोरमैनके कामके लिए, कुछ खानके किसी विशेष भागमें कोयलेकी टोकरियां नीचे-ऊपर भजनेके लिए; पर उनमेंसे किसीको भी पूरी मशीन, पूरे धंधे या पूरी खानकी जानकारी न हो सके। इसका नतीजा यह होता है कि मनुष्यमें श्रमका प्रेम और आविष्कारकी योग्यता नष्ट हो जाती है, जिनकी ही बदौलत वर्तमान औद्योगिक युगके आरंभमें उन यंत्रोंका आविष्कार हुआ जिनपर आज हमें इतना गर्व है।

अर्थशास्त्रियोंने व्यक्तियोंके विषयमें जो बात की वही वे राष्ट्रोंके विषयमें भी करना चाहते थे। वे चाहते थे कि मनुष्य-जातिका इस प्रकार विभाग किया जाय कि प्रत्येक राष्ट्र अपनी-अपनी विशेषता रखता हुआ अलग-अलग कारखाना बन जाय। उन्होंने कहा कि प्रकृतिने रूस को अन्न उत्पन्न करनेके लिए ही बनाया है, इंगलैंडको सूत तैयार करने और बेल्जि-यमको कपड़ा बुननेके लिए; स्विटजरलैंड इसीलिए बनाया गया है कि वह नर्सें और बच्चोंके लिए अध्यापिकाएं तैयार किया करे। प्रत्येक नगर भी एक खास धंधेको अपनाये और उसमें निपुणता प्राप्त करे। लीओं (फ्रांस) नगर रेशमी कपड़ा बुने, ओवर्न बेल-फीते बनाये और पेरिस शौककी चीजें तैयार करे। और अर्थशास्त्री कहते थे कि इस प्रकार उत्पत्ति और खपतका बड़ा भारी मैदान निकल आयेगा और मानव-जातिके लिए अतुल संपत्तिका द्वार खुल जायगा।

पर ज्योंही दूसरे देश भी कलोंसे काम लेना सीख गये, सारी आशा विलीन हो गयी। जबतक इंगलैंड अकेले ही बड़े पैमानेपर सूती कपड़ा और धातुओंका सामान तैयार करता रहा, और केवल पेरिस नगर विलासकी सुंदर कलामय वस्तुएं बनानेवाला रहा तबतक तो सब ठीक रहा; अर्थ-शास्त्री श्रम-विभागके सिद्धांतका प्रचार करते रहे और किसीने उनका खंडन न किया।

पर सारे सभ्य राष्ट्रोंमें धीरे-धीरे यह नयी विचार-धारा पहुंच गयी

कि अपनी जरूरतकी चीजें हमें खुद तैयार करनी चाहिए। जो माल पहले दूसरे देशोंसे या अपने ही उपनिवेशोंसे आता था उसे खुद पैदा करनेमें उन्हें लाभ दिखाई दिया। उधर उपनिवेश भी 'मातृ-देश'से अपनेको स्वतंत्र करने का यत्न करने लगे। वैज्ञानिक खोजोंके कारण उत्पादनकी विधियां सार्वभौम हो गयीं। जो चीज घरमें आसानीसे बन सकती थी उसके लिए विदेशको भारी कीमत देना व्यर्थ समझा गया। और अब हम देखते हैं कि श्रम-विभागका जो सिद्धांत पहले बड़ा मजबूत समझा जाता था इस औद्योगिक क्रांतिने उसकी धज्जियां उड़ा दी हैं।

: १६ :

उद्योग-धंधोंका फैलाव

१

नेपोलियनकी लड़ाइयोंके बाद ब्रिटेनने फ्रांसके उन प्रधान उद्योग-धंधोंको प्रायः नष्ट कर दिया जो वहां १८वीं शतीके अंतमें पनप गये थे। वह समुद्रका भी स्वामी बन गया और यूरोपमें उसका कोई बड़ा प्रतिद्वंद्वी न रह गया। उसने इस स्थितिका लाभ उठाया और उद्योगों पर एकाधिकार स्थापित कर लिया। जिस मालको केवल वही बना सकता था पड़ोसी देशोंसे उसके मनमाने दाम लेने लगा और मालामाल हो गये।

पर अठारहवीं शताब्दीकी मध्यमवर्गीय क्रांतिने फ्रांसमें किसानोंकी गुलामीको मिटा दिया था और मेहनत-मजदूरीपर जीनेवालोंका एक वर्ग उत्पन्न कर दिया था। इस कारण यद्यपि कुछ समयके लिए वहांके उद्योग-धंधे दब गये, पर फ्रांस फिर उठा और उन्नीसवीं शतीके उत्तराधमें उसे इंगलैंडसे कारखानोंमें बना हुआ माल मँगानेकी जरूरत न रही। आज वह भी बाहर माल भेजनेवाला राष्ट्र बन गया है। वह हर साल छः करोड़ पौंडसे भी अधिकका तैयार माल बाहर भेजता है और इसमें दो-तिहाई कपड़ा होता है। चालानके काम या विदेशी व्यापारसे गुजारा करनेवाले फ्रांस-वासियोंकी संख्या करीब तीस लाखके है।

अतः फ्रांस इंगलैंडका माल लेनेवाला देश—उसका 'बाजार' नहीं रहा। उसने भी विदेशोंमें खपनेवाली कुछ चीजोंके उद्योगपर अपना इजारा कायम कर लेनेकी कोशिश की, जैसे रेशमी वस्त्र, सिले कपड़े आदि, और उन्हें बाहर भेजकर खूब नफा कमाया। पर जिस प्रकार इंगलैंडका सूती मालका इजारा अब खत्म हो चला है उसी प्रकार फ्रांसका एकाधिकार भी सदाके लिए समाप्त होने जा रहा है।

उद्योग-धंधे पूरबको बढ़ते हुए जर्मनी पहुंच गये। पचास साल पहले जर्मनी इंगलैंड और फ्रांससे ऊंचे मेलका तैयार माल मंगाया करता था। अब नहीं मंगाता। पिछले पचास वर्षोंमें और खासकर फ्रांस-जर्मन युद्धके बादसे जर्मनीने अपने उद्योग-धंधोंका पूरे तौरसे नव-संघटन कर लिया है। उसके नये कारखानोंमें बढ़िया-से-बढ़िया मशीनरी लगी है। मैंचेस्टर और लीओंके सूती और रेशमी मालका नये-से-नया नमूना जर्मन कारखानोंमें बनने लगा है। मैंचेस्टर और लीओंके कारीगरोंको आधुनिक यंत्रोंके निर्माणमें दो-तीन पीढ़ियाँ लग गयीं, पर जर्मनीने उन्हें पूर्ण उन्नत अवस्थामें ले लिया। उद्योग-धंधोंकी आवश्यकताके अनुकूल शिल्प-शिक्षा देनेके स्कूल खुल गये, और वहांसे कारखानोंको ऐसे होशियार काम करनेवाले—असली इंजीनियर मिलते हैं जो हाथ और दिमाग दोनोंसे काम करते हैं। जिस अवस्थापर मैंचेस्टर और लीओंके उद्योग-धंधे पचास बरसतक अंधेरेमें भटकते, प्रयत्न और प्रयोग करते हुए पहुंच पाये थे उस मंजिलसे तो जर्मनीके उद्योग-धंधे अपना रास्ता शुरू करते हैं!

चूंकि जर्मनी अपने देशमें ही बहुत अच्छा माल तैयार करने लगा है, इसलिए फ्रांस और इंगलैंडसे वहां जानेवाला माल हर साल कम होता जा रहा है। वह तैयार मालमें एशिया और अफरीकामें ही उनका प्रतिद्वन्द्वी नहीं बन रहा है, पेरिस और लंदनमें भी उनका मुकाबला करता है। भले ही फ्रांसके अदूरदर्शी लोग फ्रांकफोर्टकी संधि*को कोसते रहें, इंगलैंडके कारखानेदार जर्मनीकी सफल प्रतिद्वन्द्विताका कारण रेल-भाड़ेके थोड़ेसे अंतरको बताते रहें, वे प्रश्नोंके छोटे पहलुओंमें ही उलझे और बड़ी-बड़ी ऐतिहासिक बातोंकी उपेक्षा करते रहें; पर यह तो निश्चित ही है कि जो बड़े-बड़े उद्योग-धंधे पहले इंगलैंड और फ्रांसके हाथोंमें थे वे अब पूर्वकी ओर बढ़कर जर्मनी पहुंच गये हैं। जर्मनी कार्य-शक्तिसे भरा हुआ नया देश है, वहांके मध्यम-वर्गके लोग बुद्धिमान हैं और वे भी विदेशसे व्यापार करके धनी बनना चाहते हैं।

---

* १८७०–७१के युद्धके बाद फ्रांस-जर्मनीमें हुई संधि।

इधर जर्मनी फ्रांस और इंग्लैंडकी औद्योगिक अधीनतासे मुक्त हो गया, अपना कपड़ा आप बनाने लगा, अपनी मशीनें खुद बना लीं, और वस्तुतः सब प्रकारका माल बनाने लगा; उधर मुख्य-मुख्य उद्योग-धंधे रूसमें भी स्थापित हो गये। रूसके उद्योग-धंधोंका विकास अभी कल-की ही चीज होनेके कारण बड़ा शिक्षाप्रद है।

१८६१में जब रूसमें 'हलवाहे-किसानों' (Serfs) की गुलामीका अंत हुआ तब एक तरहसे वहां एक भी कारखाना नहीं था। मशीनें, रेलें, रेलवे एंजिन, बढ़िया कपड़े आदि जो कुछ भी आवश्यक था सब पश्चिमी देशोंसे आया करता था। पर इसके बीस साल बाद ही रूसमें ८५ हजार कारखाने कायम हो गये और कारखानोंमें बननेवाले मालका मूल्य चौगुना हो गया।

पुरानी मशीनरी हटाकर नयी लगा दी गयी। अब रूसमें लगने-वाला प्रायः सारा फौलाद, तीन-चौथाई मामूली लोहा, दो-तिहाई कोयला, रेलके सारे एंजिन, गाड़ियां तथा पटरियां और प्रायः सारे जहाज वहीं तैयार होते हैं।

अर्थशास्त्रियोंने लिखा था कि रूस बनाया ही इसलिए गया है कि वह खेतिहरोंका देश बना रहे, पर वह शीघ्र ही औद्योगिक देश बन गया। वह इंग्लैंडसे प्रायः कुछ भी माल नहीं मंगाता, और जर्मनीसे भी बहुत ही कम मंगाता है।

अर्थशास्त्री इन बातोंका कारण आयात-निर्यात-कर या जकातको बताते हैं। पर रूसमें बना हुआ सूती माल उसी कीमतपर बिकता है जिस कीमतपर लंदनमें। पूंजीकी कोई मातृभूमि नहीं होती। जर्मनी और इंगलैंडके पूंजीपतियोंने अपने-अपने यहांके इंजीनियरों और फोरमैनोंके साथ पहुंच कर रूस और पोलैंडमें भी कारखाने खोल दिये, जिनमें बनने वाला माल इंगलैंडके बढ़िया-से-बढ़िया मालसे टक्कर लेता है। जकात कल उठा दी जाय तो उद्योग-धंधोंको लाभ ही होगा। कुछ ही दिन पहले ब्रिटेनके कारखानेदारोंने ऐसा काम किया जिससे पश्चिमसे आनेवाले सूती और ऊनी मालको एक और गहरा धक्का लगा है। उन्होंने दक्षिण और मध्य रूसमें ब्रेडफोर्ड (इंगलैंड) की बढ़िया-से-बढ़िया मशीनें लगा

कर ऊनके बड़े-बड़े कारखाने खड़े कर दिये। अब रूसको इंगलैंड, फ्रांस और आस्ट्रियासे सिर्फ बहुत बढ़िया किस्मका सूती या ऊनी माल मंगाने की जरूरत होती है। बाकी सारा कपड़ा वहीं कारखानोंमें और घरों में चलनेवाले कर्घोंसे तैयार हो जाता है।

प्रधान आवश्यकताओंकी पूर्ति करनेवाले उद्योग केवल पूर्व दिशाकी ओर ही नहीं बढ़े हैं, वे दक्षिणके प्रायद्वीपोंकी ओर भी फैलते जा रहे हैं। १८८४ में ट्यूरिन (इटली) में जो प्रदर्शनी हुई थी उससे इटली में कल-कारखानोंकी उन्नति स्पष्ट प्रकट होती थी। फ्रांस और इटलीके मध्यमवर्गोंमें जो पारस्परिक द्वेष है उसका कारण भी औद्योगिक प्रतिद्वन्द्विता ही है। स्पेन भी औद्योगिक देश बनता जा रहा है। पूर्वमें बोहेमिया एकबारगी बड़े महत्त्वका उद्योग-केंद्र बन गया है, जहां बढ़िया मशीनरी और उत्तम वैज्ञानिक विधियोंसे काम होता है।

इस सिलसिलेमें हम हंगरीकी द्रुत प्रगतिकी भी चर्चा कर सकते हैं। पर हम ब्राजीलकी ही मिसाल क्यों न लें? अर्थशास्त्रियोंने कह दिया था कि ब्राजीलको प्रकृतिने केवल रूई उपजानेका काम सौंपा है, वह अपनी रूई विदेश भेजा करे और बदलेमें यूरोपसे तैयार कपड़ा मंगाया करे। सचमुच चालीस बरस पहले ब्राजीलमें गिन्तीके नौ टूटे-फूटे पुतलीघर थे जिनमें ३८५ तकुए चला करते थे। पर आज उस देशमें १६०, सूती मिलें हैं, जिनमें १५ लाख तकुए और ५० हजार कर्घे लगे हैं और जो साल भरमें ५० करोड़ गज कपड़ा तैयार कर देते हैं।

मेक्सिको भी अब यूरोपसे कपड़ा नहीं मंगाता और अपने लिए सूती कपड़ा खुद तैयार कर लेता है। संयुक्तराष्ट्र (अमेरिका)ने तो यूरोपकी सरपरस्तीसे अपना छुटकारा करा ही लिया और अपनी औद्योगिक शक्तियों का अत्यधिक विस्तार कर लिया है।

परंतु राष्ट्रीय उद्योगोंके विशेषीकरणके सिद्धांतके विरुद्ध सबसे महत्त्व का प्रमाण भारतवर्षने प्रस्तुत किया है।

इसका सिद्धांत हम सभीको ज्ञात है। यूरोपके बड़े-बड़े राष्ट्रोंको उपनिवेशोंकी आवश्यकता है, क्योंकि उपनिवेश 'मातृदेश'को कच्चा

माल—रुई, ऊन, खाद्य-पदार्थ, मसाले आदि—भेजते हैं। और मातृदेश उनको तैयार माल भेजनेके बहाने अपना रद्दी माल, रद्दी मशीनें, रद्दी लोहा, और हर चीज जो उसके लिए बेकार हो गयी है, उनके सिर मढ़ देता है। इस मालकी लागत तो नामकी ही होती है, पर दाम अठगुने, दसगुने मिल जाते हैं।

यही सिद्धांत था और बहुत दिनोंतक यही व्यवहार रहा। लंदन और मैंचेस्टरमें दौलत जमा होने लगी और हिंदुस्तान दिन-दिन तबाह होता गया। लंदनके इंडियन-म्यूजियम (भारतीय अजायबघर) में वह अश्रुतपूर्व वैभव देखा जा सकता है जिसे अंग्रेज व्यापारियोंने कलकत्ते और बंबईमें इकट्ठा किया।

पर दूसरे अंग्रेज व्यापारियों और पूंजीपतियोंने यह सीधी-सी बात सोची कि दो या ढाई करोड़ पौंडका माल हर साल वहां भेजनेके बजाय भारतवासियोंको लूटनेका यही तरीका अच्छा होगा कि भारतमें ही सूती माल तैयार किया जाय।

प्रारंभमें अनेक प्रयोग असफल हुए। भारतीय बुनकर, जो अच्छे कारीगर और अपने धंधेमें विशेषज्ञ थे, अपनेको कारखानोंके जीवनका आदी न बना सके। लिवरपूलसे भेजी हुई मशीनें खराब थीं। आबहवा का भी खयाल रखनेकी जरूरत थी। व्यापारियोंको अपनेको नयी परिस्थितिके अनुकूल बनानेमें भी कुछ समय लगा। पर अब हिंदुस्तान इंगलैंडका काफी बड़ा प्रतिद्वंद्वी हो गया है।

भारतमें अब २०० से अधिक सूती कपड़ेकी मिलें हैं। उनमें २ लाख ३० हजार मजदूर काम करते हैं। ६० लाख तकुए और ८० हजार कर्घे चलते हैं। जूटकी मिलें ४० हैं जिनमें ४ लाख तकुए हैं। *

* ये आंकड़े भी पुस्तककी रचना-काल या उससे कुछ पहलेके होंगे। १९४१ में भारतमें कुल ३९० पुतलीघर थे, जिनमें कुल ९९,६१,१७८ तकुए और १,९८,५७४ कर्घे चलते थे, तथा कुल ४,५६,५०६ मजदूर काम करते थे। १९३५–३६ में जूटकी मिलोंकी कुल संख्या १०४, उनके कर्घोंकी ६३७२४ और मजदूरोंकी २,७८,००० थी।

भारत हर साल चीन, 'डच पूर्वीय द्वीपों और अफरीकाको लगभग अस्सी लाख पौंडका वैसा ही सफेद सूती माल भेजता है' जो पहले इंगलैंडकी विशेषता बताया जाता था। इधर तो इंगलैंडके मजदूर अकसर बेकार और मुहताज रहते हैं, उधर भारतकी स्त्रियां छः पेंस (छः आने) रोजकी मजदूरीपर कपड़ा बुनती हैं और वह कपड़ा सुदूरपूर्वके देशोंको भेजा जाता है। इंगलैंडके दूरदर्शी कारखानेदार यह समझने लगे हैं कि अब वह दिन दूर नहीं है जब विदेशोंके लिए कपड़ा बुननेवाले कारखानों के मजदूरोंके लिए कोई काम बाकी न रहेगा। यह बात भी दिन-दिन स्पष्ट होती जा रही है कि अब भारत इंगलैंडसे एक टन भी लोहा न मंगायेगा। वहांके कोयले और कच्चे लोहेको व्यवहारोपयोगी बनानेमें शुरूमें जो कठिनाइयां थीं वे अब दूर हो गयी हैं और इंगलैंडका मुकाबिला करनेवाले ढलाईके कारखाने भारतीय समुद्र-तटपर खड़े हो गये हैं।

तैयार माल बनानेमें उपनिवेशोंकी अपने मातृदेशसे प्रतिद्वंद्विता ही बीसवीं सदीके अर्थशास्त्रकी गतिका नियमन करेगी।

और भारतवर्ष 'पक्का' माल क्यों न बनाये? इसमें अड़चन किस बात की है? पूंजी की? तो पूंजी तो ऐसी चीज है जो हर जगह, जहां के आदमी इतने गरीब हों कि उनको चूसकर अपनी जेब भरी जा सके, पहुंच जाती है। ज्ञानकी? तो वह किसी देश-विशेषकी बपौती नहीं बना रहता। कल-पुरजोंके काममें कुशल श्रमिकोंकी? तो आजकल इंगलैंडके कपड़ेके कारखानोंमें अठारह-अठारह बरससे भी कम उम्रके जो लाखों लड़के लड़कियां काम कर रहे हैं, हिन्दुस्तानके कारीगर उनसे किसी तरह कम नहीं हैं।

२

राष्ट्रीय उद्योगोंपर दृष्टिपात कर चुकनेके बाद अब उनकी कुछ विशेष शाखाओंकी चर्चा करना मनोरंजक होगा।

उन्नीसवीं शतीके पूर्वार्द्धमें रेशमी माल खासकर फ्रांसमें ही तैयार होता था। लीओं नगर रेशमके व्यवसायका केंद्र था। पहले तो कच्चा रेशम दक्षिण फ्रांसमें ही पैदा किया जाता था। फिर थोड़ा-थोड़ा इटली, स्पेन, आस्ट्रिया, काकेशस और जापानसे भी मंगाया जाने लगा। १८७५ में लीओं और उसके आस-पासके स्थानोंमें पचास लाख 'किलो' (एक सेरसे कुछ अधिकका माप) कच्चे रेशमका कपड़ा तैयार किया गया था जिसमें से फ्रांसका रेशम सिर्फ चार लाख किलो था। पर लीओं बाहरसे रेशम मंगाकर कपड़े बुन सकता था तो स्विटजरलैंड, जर्मनी और रूस भी तो वैसा कर सकते थे। फलतः ज्यूरिख नगरके आस-पासके ग्रामोंमें रेशमकी बुनाईका काम बढ़ने लगा। बाल (स्विटजरलैंड) नगर रेशमके व्यवसायका बड़ा केंद्र बन गया। काकेशियन सरकारने जार्जिया-वासियोंको उन्नत विधिसे रेशमके कीड़े पालने और काकेशिया-वासियोंको रेशमकी बुनाईका काम सिखानेके लिए मार्सेल्जसे कुछ स्त्रियाँ और लीओंसे कुछ कारीगरोंको बुलाकर रक्खा। आस्ट्रियाने भी ऐसा ही किया। इसके बाद जर्मनीने भी लीओंके कारीगरोंकी सहायतासे रेशमके बड़े-बड़े कारखाने खड़े कर लिये। संयुक्तराष्ट्रने भी पेटर्सनमें कारखाने खोल लिये।

आज रेशमके व्यवसायपर केवल फ्रांसका इजारा नहीं रह गया है। अब रेशमी माल जर्मनी, आस्ट्रिया, संयुक्तराष्ट्र और इंगलैंडमें भी बनता है, और हिसाब लगाया गया है कि फ्रांसमें जितना रेशमी कपड़ा खपता है उसका एक-तिहाई बाहरसे आता है। जाड़ेके दिनोंमें काकेशियाके किसान इतनी कम मजदूरीपर रेशमी रूमाल बुन देते हैं कि लीओंके बुनकरोंको वह मजदूरी मिले तो वे भूखों मर जायं! इटली और जर्मनी फ्रांसको अपने रेशमी मालका चालान करते हैं। लीओं सन् १८७० और १८७४ में ४६ करोड़ फ्रांकका रेशमी कपड़ा बाहर भेजता था, पर अब इसका आधा ही भेजा करता है। वस्तुतः वह समय बहुत दूर नहीं है जब वह केवल ऊंचे मेलका माल और कुछ नयी चीजें ही जर्मनी, रूस और जापान को, नमूनोंके तौरपर, भेजने लगेगा।

यही हाल सारे उद्योग-धंधोंका है। बेल्जियमके हाथमें अब कपड़ेके उद्योगका इजारा नहीं रहा। जर्मनी, रूस, आस्ट्रिया और संयुक्तराष्ट्रमें कपड़ा बनने लगा है। स्विटजरलैंड और फ्रांसके जूरा प्रदेशको घड़ियां बनाने का एकाधिकार नहीं रहा, वे सब कहीं बनने लग गयी हैं। रूसमें आने-वाली सफेद शकर स्काटलैंडकी विशेषता नहीं रही, अब तो उलटा इंगलैंड रूसकी सफेद चीनी मंगाता है। इटलीके पास न तो कोयला है न लोहा, फिर भी वह अपने जंगी जहाज और अपने स्टीमरोंके एंजिन खुद बना लेता है। रासायनिक द्रव्योंका उत्पादन इंगलैंडका इजारा नहीं रहा। गंधकका तेजाब और सोडा यूरालके पहाड़ी प्रदेशोंमें भी बनने लगा है। विंटरथर (स्विजरलैंड) के बने हुए स्टीम-एंजिन सब कहीं प्रसिद्ध हो गये हैं। स्विटजरलैंड भी, जिसके पास न इस समय कोयला है न लोहा, और न कोई ऐसा बंदरगाह ही जिससे ये चीजें बाहरसे मंगायी जा सकें—हैं केवल अच्छे-अच्छे शिल्प-शिक्षालय—इंगलैंडसे भी अच्छी और सस्ती मशीनें बनाता है। इस प्रकार विनिमयके सिद्धांतकी समाप्ति हो जाती है।

और बातोंकी तरह व्यापारकी प्रवृत्ति भी विकेंद्रीकरण—अनेक स्थानोंमें बंट या फैल जाने की ओर है।

हर राष्ट्रको इस बातमें लाभ दिखाई देता है कि खेतीके साथ-साथ हर तरहके कल-कारखाने भी चलाये। जिस विशेषीकरणकी अर्थशास्त्री इतनी बड़ाई किया करते थे उससे बहुतसे पूंजीपतियोंका धन अवश्य बढ़ गया पर अब उसका कोई उपयोग नहीं रहा, बल्कि प्रत्येक प्रदेश और प्रत्येक राष्ट्रका लाभ इसीमें है कि वह अपने खर्चके लिए गेहूं, साग-तरकारी और फल-फूल स्वयं उत्पन्न करे, और अपने लिए आवश्यक अधिकांश शिल्प-सामग्री भी खुद ही बना लिया करे। आपसके सहयोगसे अगर उत्पादनको पूरे तौरसे बढ़ाना है तो यह विविधता उसका पक्का उपाय है। विशेषीकरण तो उसकी राहका रोड़ा हो गया है।

कारखानोंके पास रहकर ही खेती उन्नति कर सकती है। जहां एक कारखाना खुला वहां अगणित प्रकारके विविध कारखाने उसके आस-पास

अवश्य खड़े हो जाते हैं, और अपने आविष्कारोंसे एक दूसरेको सहायता-उत्तेजना देते हुए वे अपना उत्पादन बढ़ाते हैं।

३

सचमुच यह बड़ी नासमझी है कि गेहूं तो बाहर भेज दिया जाय और आटा वहां से मंगाया जाय; ऊन देसावर भेजी जाय और कपड़ा बाहरसे मंगाया जाय; लोहेका निर्यात किया जाय और मशीनें विदेशसे खरीदी जायं। मालके भेजने-मंगानेमें समय और धनका नाश तो होता ही है, और हानियां भी होती हैं। जिस देशके उद्योग-धंधे उन्नत न होंगे उसकी कृषि भी पिछड़ी रहेगी। जिस देशमें लोहेसे पक्का माल बनानेके बड़े-बड़े कारखाने न होंगे उसके अन्य सारे उद्योग-धंधे अवनत अवस्थामें ही रहेंगे। यदि तरह-तरहके उद्योग-धंधोंमें देशकी उद्योग और शिल्प-संबंधी योग्यता काममें न लायी जाय तो वह योग्यता अविकसित ही रह जायगी।

आजकल उत्पादनकी दुनियामें हर चीजका एक-दूसरेसे संबंध है। यदि मशीनें न हों, बड़ी-बड़ी नहरें न हों, रेल-लाइनें न हों और खाद बनानेके कारखाने न हों, तो आजकलकी खेती हो ही नहीं सकती। इस मशीनरी, इन रेलों, इन सिंचाईके साधनों आदिको स्थानीय परिस्थितिमें उपयोगी बनानेके लिए यह आवश्यक है कि लोगोंकी आविष्कार-बुद्धि और कलोंसे काम लेनेकी योग्यता कुछ बढ़ायी जाय। पर यदि फावड़े और हल ही खेतीके सारे औजार बने रहेंगे तो लोगोंकी आविष्कारकी प्रवृत्ति और यांत्रिक कुशलता सुषुप्तिकी अवस्थामें ही पड़ी रहेगी।

अगर खेती अच्छी तरहसे करनी और जमीनसे अच्छी फसलें प्राप्त करनी हैं तो यह जरूरी है कि खेतोंके पास ही सब तरहके कारखाने स्थापित किये जायं। विविध प्रकारके धंधों और उनसे पैदा होनेवाली विविध प्रकारकी योग्यताओंमें समान उद्देश्यके लिए सहयोग होनेसे ही सच्ची प्रगति हो सकती है।

अब कल्पना कीजिए कि एक नगर या एक प्रदेशके—चाहे वह

छोटा हो या बड़ा—निवासी साम्यवादी क्रांतिके रास्तेपर पहली बार बढ़ रहे हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि इससे 'कोई भी परिवर्तन न होगा।' खानें, कारखाने आदि व्यक्तिगत स्वामियोंके हाथोंसे ले लिये जायंगे और राष्ट्रीय या सार्वजनिक संपत्ति घोषित कर दिये जायंगे। फिर प्रत्येक आदमी अपना-अपना काम पूर्ववत् करने लगेगा और बस क्रांति पूरी हो जायगी।

यह हम पहले ही कह चुके हैं कि यदि किसी बड़े शहरमें क्रांति हो जाय और कारखाने, मकान और बैंकपर श्रमिकोंका कब्जा हो जाय, तो इतनेसे ही उत्पादनकी वर्तमान व्यवस्था बिलकुल बदल जायगी।

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार बंद हो जायगा। बाहरसे खाद्य-सामग्रीका आना भी बंद हो जायगा। खाने-पीने और व्यवहारकी चीजोंका आना-जाना रुक जायगा। उस अवस्थामें क्रांति करनेवाले नगर या प्रदेशको मजबूरन अपने लिए आवश्यक सामग्री खुद जुटानी होगी और उत्पत्तिका प्रबंध नये ढंगसे करना पड़ेगा जिसमें उसकी आवश्यकताओंकी पूर्ति हो सके। वह यह न कर सका तो उसका नाश निश्चित है। और उसने ऐसा कर लिया तो देशके आर्थिक जीवनकी कायापलट हो जायगी।

बाहरसे आनेवाली भोजन-सामग्री कम हो जायगी, खर्च बढ़ जायगा, जो दस लाख पेरिसवासी रफ्तनीके कारबारमें लगे थे वे बेकार हो जायंगे, बाहरसे आनेवाला अनेक प्रकारका माल यथास्थान न पहुंचेगा, और शौककी चीजोंका रोजगार कुछ समयके लिए रुक जायगा। ऐसी हालतमें पेरिसके लोग क्रांतिके छः महीने बादतक क्या खायेंगे?

हमारा खयाल है कि जब पंचायती भंडारोंकी भोजन-सामग्री समाप्त हो जायगी तब जनता खेती करके अन्न उत्पन्न करनेका यत्न करेगी। तब लोग समझ लेंगे कि अपने शहर और उसकी हदके भीतर जितनी जमीन है उसमें खेती करना और खेतीके साथ-साथ कल-कारखानोंसे भी माल तैयार करना जरूरी है; तब उन्हें शौक-सजावटकी चीजोंका धंधा छोड़ना पड़ेगा और अपनी सबसे बड़ी आवश्यकता—रोटीके उपायकी ओर ध्यान देना पड़ेगा।

नगरोंके बहुसंख्यक निवासियोंको खेती करनी पड़ेगी। वे उस तरह खेती न करेंगे जैसे आजकलके किसान करते हैं, जो मर-खपकर मुश्किलसे सालभरके गुजर लायक अन्न पैदा कर पाते हैं। वे उस श्रम-प्रधान (Intensive) ढंगकी खेती करेंगे जिससे थोड़ेसे स्थानमें अधिक उत्पत्ति हो सकती है। जिन तरीकोंको फल फूल उत्पन्न करनेवाले कृषि-विशेषज्ञ अपने बागोंमें काम लाते हैं उन्हीं तरीकोंको वे लोग बड़े पैमानेपर काममें लायेंगे, बढ़ियासे-बढ़िया मशीनोंसे जिन्हें आदमीका दिमाग ईजाद कर सका है या कर सकता है काम लेंगे। वे दबे हुए देहाती किसानों की तरह खेती न करेंगे। पेरिसमें जवाहरातका कारबार करनेवालेको वह ढंग कैसे पसंद आ सकता है? वे तो और अच्छे तरीकेपर खेतीका प्रबंध करेंगे, और भविष्यमें नहीं बल्कि तुरत, क्रांतिके संघर्षके समय ही करेंगे, इस भयसे कि कहीं क्रांतिके शत्रुओंसे पराजित न हो जायं।

खेतीका काम बुद्धियुक्त ढंगपर चलाना पड़ेगा। जैसे सौ बरस पहले 'शां दे मार्स'में* 'संघ-भोज' (Feast of the Federation) के लिए लोगोंने काम किया था उसी तरह लोग एक आनंददायक कार्यके लिए अपनी-अपनी टोलियां बना लेंगे और वर्तमान समयके सारे अनुभवोंका लाभ उठाते हुए प्रसन्नतासे काम करेंगे। वह काम आनंदका काम होगा, जो अत्यधिक न किया जायगा, जिसकी व्यवस्था वैज्ञानिक ढंग पर हुई होगी, जब मनुष्य अपने औजारोंको खुद ईजाद करता और सुधारता होगा और जब उसे सदा इस बातका अनुभव हो रहा होगा कि वह समाजका एक उपयोगी सदस्य है।

वे लोग केवल गेहूं और जई ही उत्पन्न न करेंगे। वे उन चीजोंको भी पैदा करेंगे जिन्हें वे पहले बाहरके प्रदेशोंसे मंगाते थे। जो जिले क्रांतिका साथ न देंगे वे भी क्रांतिकारियोंके लिए 'बाहरके प्रदेश' हो सकते हैं। १७९३ और १८७१ की क्रांतियोंमें पेरिसके दरवाजेके बाहर-का इलाका उसका 'बाहरका प्रदेश' बन गया था। ट्रोयके गल्लेके सट्टे-

* सैनिकोंका एक वार्षिक सम्मेलन जो पहले फ्रांसमें हुआ करता था। पेरिसमें सेन नदीके बायें किनारेपर स्थित एक बड़े मैदानका भी यही नाम है।

राजोंने १७९३ और १७९४में पेरिसके प्रजातंत्रवादियोंको जर्मन सेनाको फ्रांसमें बुला लानेवाले वारसेईके षडयंत्रकारियोंकी तरह ही बल्कि उनसे भी अधिक भूखों मारा था। क्रांति करनेवाले नगरको इन 'विदेशियों'की सहायताके बिना ही काम चलाना पड़ेगा, और चलाया भी जा सकता है। यूरोपके घेरेके समय जब शकरकी कमी पड़ी तब फ्रांसने चुकंदरकी जड़की चीनी निकाली थी। पेरिस-वासियोंको जब बाहरसे शोरा मिलना बंद हो गया तो उन्होंने अपने तहखानोंमें से शोरा निकाला। तब क्या हम अपने उन पुरखोंसे भी पीछे रहेंगे जो विज्ञानका 'ककहरा' भी न जानते थे?

क्रांतिका अर्थ प्रचलित शासन-पद्धतिका बदल जाना ही नहीं है। उसका अर्थ होता है मनुष्यकी बुद्धिका जाग जाना, उसकी आविष्कार-शक्तिका दसगुनी, सौगुनी हो जाना। वह नये विज्ञानका—लाप्लास, लामार्क, लावाजिये जैसे विज्ञानियोंके विज्ञानका—अरुणोदय होता है। वह जितना परिवर्तन मनुष्योंकी संस्थाओंमें करती है उतना ही बल्कि उससे भी भारी परिवर्तन उनके मन और बुद्धिमें कर देती है।

फिर भी कुछ अर्थशास्त्री हैं जो हमसे कहते हैं कि क्रांति हो जानेके बाद लोग पूर्ववत् अपने कारखानोंमें जाकर काम करने लगेंगे। वे समझते हैं कि क्रांति करना वैसा ही है जैसा पासके जंगलकी सैर करके घर लौट आना।

पहले तो मध्यमवर्गकी संपत्तिपर कब्जा कर लेनेका ही यह अर्थ होगा कि देशके सभी कारखानोंके सारे आर्थिक जीवनको पूरे तौरपर नये तरीकेसे संगठित करना पड़े।

क्रांति निश्चय ही ऐसा किये बिना न रहेगी। पेरिस साम्यवादी क्रांतिके समय एक या दो बरसतक मध्यमवर्गीय शासनके समर्थकों द्वारा दुनियासे अलग कर दिया जाय तो वहांके वे लाखों विद्या-बुद्धि वाले लोग, कारखानोंका यांत्रिक जीवन जिनके स्फूर्ति-उत्साहको खा नहीं गया है, बाहरकी सहायता लिये बिना ही, सूर्य, वायु और धरतीके भीतर भरी शक्तियोंसे ही काम लेकर, दुनियाको दिखा देंगे कि आदमीका दिमाग क्या कुछ कर सकता है।

तब हम देखेंगे कि परस्पर सहयोग रखते हुए और क्रांतिकी भावनासे अनुप्राणित विविध प्रकारके धंधे-व्यवसाय करोड़ों विद्या-बुद्धि-युक्त मनुष्यों के वास्ते भोजन, वस्त्र, मकान और सब तरहकी सुख-सुविधाकी सामग्री जुटा देनेके लिए कितना कर सकते हैं।

हमें आख्यान लिखकर इस बातको सिद्ध करनेकी आवश्यकता नहीं है। हमें जिसका पूरा निश्चय है, जिसकी परीक्षा और प्रयोग हो चुके हैं और जो व्यावहारिक मान लिया गया है वही उसे कार्य-रूप देनेके लिए काफी है, शर्त यह है कि प्रयत्न क्रांतिकी साहस-भरी स्फूर्ति और जनता के दिलोंमें अपने आप पैदा हुए उत्साहसे अनुप्राणित हो।

: १७ :

कृषि

१

अर्थशास्त्रपर अकसर यह दोष लगाया जाता है कि उसके सारे निष्कर्ष इस मिथ्या सिद्धांतपर आश्रित हैं कि संकुचित व्यक्तिगत स्वार्थ ही मनुष्यको अपनी उत्पादन-शक्ति बढ़ानेके लिए प्रेरित करता है।

यह आरोप बिलकुल सही है। वही समय बड़े-बड़े औद्योगिक अन्वेषणों और सच्ची औद्योगिक उन्नतिके युग सिद्ध हुए हैं जिनमें मनुष्योंके हृदय में सबके कल्याणकी भावना प्रबल रही और स्वार्थ-साधनका विचार कम-से-कम रहा। विज्ञान-जगतके बड़े-बड़े अन्वेषकों और आविष्कारकोंका प्रधान लक्ष्य यही था कि मनुष्य-जाति प्रकृतिकी अधीनतासे और अधिक स्वतंत्र हो जाय। वाट, स्टिफेनसन, जेकर्ड आदि आविष्कारकोंको इसका तनिक भी आभास मिल गया होता कि जिस कामके लिए वे रात-की-रात बैठे बिता देते हैं वही आगे चलकर श्रमजीवियोंकी कैसी दुर्दशाका कारण बन जायगा, तो निश्चय ही उन्होंने अपने डिजाइन जला दिये और नमूने तोड़-फोड़ डाले होते।

अर्थशास्त्रका एक और प्रधान सिद्धांत भी इतना ही गलत है। सभी अर्थशास्त्री अप्रत्यक्ष रूपसे मानते हैं कि यद्यपि किसी-किसी उद्योग में अकसर जरूरतसे ज्यादा माल पैदा हो जाता है, फिर भी समाजका उत्पादन कभी इतना नहीं हो सकता कि सबकी आवश्यकताएं पूरी हो जायं। इसलिए, ऐसा समय कभी आ ही नहीं सकता जब कोई भी मजदूरी की खातिर अपना श्रम बेचनेको मजबूर न हो। अर्थशास्त्रियोंके सारे सिद्धांत और 'नियम' इसी स्वीकृतिपर आश्रित हैं।

परंतु यह निश्चय है कि जिस दिन कोई सभ्य समाज इस बातकी

खोज करेगा कि सबकी आवश्यकताएं और उनकी पूर्तिके साधन क्या-क्या है उसी दिन उसे मालूम हो जायगा कि कृषि और शिल्प दोनोंमें उसके पास सबकी सभी आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिए पर्याप्त साधन मौजूद हैं, बशर्ते कि वह जानता हो कि सच्ची आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिए इन साधनोंको किस तरह काममें लाना चाहिये।

सबकी औद्योगिक सामग्रीकी आवश्यकताओंकी पूर्ति हो सकती है, इससे तो कोई इनकार कर ही नहीं सकता। जिन तरीकोंसे आजकल कोयला और कच्चा लोहा निकाला जाता है, फौलाद तैयार कर उसकी चीजें बनायी जाती हैं, बड़े पैमानेपर कपड़ा आदि तैयार किया जाता है, उनको जान लेना ही यह समझ लेनेके लिए काफी है कि आज भी हम अपने उत्पादनको चौगुना या इससे भी अधिक बढ़ा सकते हैं, और उसके लिए मेहनत भी आजसे कम ही करनी होगी।

पर हम तो इससे भी आगे जाते हैं। हमारा तो कहना है कि कृषिकी भी ठीक यही स्थिति है। जिस तरह कल-कारखानेवाले अपनी उत्पत्तिको चौगुनी ही नहीं, दसगुनीतक बढ़ा सकते हैं उसी तरह खेती करनेवाले भी अपनी उपजको दसगुनी कर ले सकते हैं, और ज्यों ही उन्हें ऐसा करनेकी आवश्यकता प्रतीत हो, ज्यों ही पूंजीवादी संगठनके स्थानपर साम्य-वादी संगठन स्थापित हो जाय, त्यों ही वे ऐसा करके दिखा सकते हैं।

जब कभी खेतीका नाम लिया जाता है, हमारे सामने ऐसे आदमी का चित्र आ जाता है जो कमर झुकाये खराब और बिना बिने-फटके बीज धरतीमें बखेर दे रहा है, और वर्षा-बर्फ-पालेकी कृपापर आस लगाये बैठा रहता है। एक ऐसे परिवारका ध्यान आता है जो सवेरेसे शामतक कठोर श्रम करता है और इसके बदलेमें बड़ी मुश्किलसे बिछानेको बोरिया या कथरी, खानेको सूखी रोटी और साग या पनमेल दाल पाता है।

और इन अभागोंके लिए समाज अधिकसे-अधिक जो कुछ करना चाहता है वह यही है कि उनका टैक्स या लगान कुछ कम कर दिया जाय। पर बड़े-से-बड़े समाज-सुधारकके दिमागमें भी कभी यह बात नहीं आती कि किसान भी किसी दिन कमर सीधी करके खड़ा

हो सकता है, आरामका वक्त पा सकता है और रोज कुछ घंटे काम करके ही अपने परिवारके लिए ही नहीं बल्कि कम-से-कम सौ और आदमियोंका पेट भरने भर अन्न उत्पन्न कर सकता है। साम्यवादी भी भावी जगतकी अपनी अधिकसे-अधिक सुंदर कल्पनामें अमेरिकाकी भूमि-प्रधान (Extensive) * खेतीसे आगे नहीं जा पाते, जो वास्तवमें कृषि-कलाका बचपन ही है।

पर आजके सोचने-समझनेवाले किसानके विचार इससे अधिक विस्तृत हैं, उसकी कल्पनाएं अधिक 'बड़े पैमानेकी' हैं। वह कहता है कि एक परिवारकी आवश्यकता पूरी करनेभर फल और तरकारी एक एकड़ से भी कम जमीनमें पैदा की जा सकती है, और पहले जितनी जमीनकी घाससे एक बैलका पेट भरा जा सकता था उतनी जमीनसे अब पच्चीस पशुओंका पेट भर दिया जायगा। वह चाहता है कि जमीनको जैसी चाहे बना ले, ऋतु तथा जलवायुके विपरीत फसलें भी पैदा करे और बढ़नेवाले पौधोंके आस-पासकी हवा और जमीन दोनोंको नकली गरमी पहुंचाकर गरम कर दे। थोड़ेमें वह यह चाहता है कि पहले वह ५० एकड़से जितना पैदा किया करता था उतना अब एक एकड़से ही करले और उसके लिए उसे बहुत ज्यादा मेहनत भी न करनी पड़े बल्कि कामके घंटे और कम हो जायं। वह जानता है कि हर आदमी प्रसन्नता और आनंदके साथ जितनी देर श्रम कर सकता है उतना ही समय खेतीके कामको देनेसे भी सबके खाने भर अन्न-शाक मजेसे पैदा किया जा सकता है।

यही कृषि-कर्मकी वर्तमान प्रवृत्ति है।

कृषिके रासायनिक सिद्धांतके प्रवर्त्तक लीबिग और अन्य वैज्ञानिक तो सिद्धांतोंमें ही उलझे रहनेके कारण अकसर गलत रास्तेपर चले गये, पर अपढ़ किसानोंने समृद्धिके नये-नये रास्ते खोल दिये। पेरिस, ट्रोय, रोआं नगरों और इंगलैंड तथा स्काटलैंडके बागवानोंने, फ्लैंडर्स और लोंबार्डीके खेतिहरोंने, जर्सी, गर्नजीके किसानों और सिली द्वीपोंके फार्मवालोंने

* खेतीकी दोनों—श्रमप्रधान और भूमिप्रधान—विधियोंका परिचय इसी परिच्छेदमें आगे दिया गया है।

खेतीकी उन्नतिकी ऐसी विशाल संभावनाएं हमारे सामने ला दी हैं कि मन उनकी विशालताकी कल्पना करनेमें सहमता है।

अबतक एक किसान-परिवारको खेतीकी उपजसे ही गुजर करनेके लिए—और किसान किस तरह गुजर करते हैं, यह हम जानते ही हैं—सत्रहसे बीस एकड़तक जमीनकी जरूरत हुआ करती थी; पर खेतीकी श्रम-प्रधान अर्थात् खाद आदिके उपयोगसे अधिक फसल पैदा करनेकी विधि काममें लायी जाय तो एक परिवारकी जरूरतें और शौक पूरे करनेका भी सामान मिल जानेके लिए कम-से-कम कितनी जमीनकी जरूरत होगी, इसका अंदाजा हम आज लगा ही नहीं सकते।

आजसे बीस साल पहले भी यह कहा जा सकता था कि ग्रेट ब्रिटेन में ही इतनी उपज हो सकती है कि उसकी तीन करोड़ जनताका काम मजेसे चल जाय और बाहरसे कुछ भी न मंगाना पड़े। पर इधर फ्रांस, जर्मनी और इंग्लैंडमें कृषि-विज्ञानकी जो प्रगति हुई है और उन्नतिकी जो नयी दिशाएं हमारे लिए खुल गयी हैं उन्हें देखते हुए तो हम कह सकते हैं कि आज अनेक स्थानोंमें जिस ढंगकी खेती की जा रही है उस तरह जोतने-बोनेसे भी ग्रेट ब्रिटेनकी धरती इतना अन्न उपजा सकती है कि पांच छः करोड़ आदमी भी उसे खानेके लिए कम हों।

कम-से-कम हम इस बातको तो पक्के तौरसे प्रमाणित मान सकते हैं कि अगर पेरिस और सेन तथा सेन-ए-वाजके जिले मिलकर अराजक साम्यवादी व्यवस्था स्थापित करलें, जिसमें हर आदमी शारीरिक श्रम करता हो; तो चाहे सारी दुनिया उन्हें एक सेर गेहूं, एक बैल या बकरी, एक डलिया फल भेजनेसे भी इनकार कर दे, वे अपने लिए आवश्यक सारा अन्न, मांस और साधारण साग-भाजी ही नहीं, बल्कि ऐसी तरकारियां भी जो आज विलासकी वस्तु—केवल लक्ष्मीके लाडलोंका भोग्य—समझी जाती हैं, इतनी मात्रामें उपजा सकते हैं कि सबके लिए काफी हो।

इसके साथ ही हमारा यह भी दावा है कि भूमि-प्रधान विधिकी खेतीसे अच्छीसे-अच्छी जमीनसे भी इतना अन्न-फल-शाक पैदा करनेमें जितना श्रम आज करना पड़ता है, यह श्रम उससे बहुत कम ही होगा।

यह तो स्पष्ट ही है कि हम सब प्रकारके विनिमयको कदापि बंद करना नहीं चाहते, न हम यही चाहते हैं कि हरएक देश ऐसी चीजें पैदा करनेकी कोशिश करे जो वहां कृत्रिम विधियोंसे ही उत्पन्न की जा सकती हैं। पर हम इस बातकी ओर लोगोंका ध्यान खींचना चाहते हैं कि विनिमयके सिद्धांतका जो अर्थ आज समझा जाता है उसमें भारी और विचित्र अतिशयोक्ति है और विनिमय प्रायः निरर्थक तथा हानिकर भी होता है। इसके अतिरिक्त हमारा यह भी कहना है कि लोगोंने कभी इस बातको ठीक तौरसे समझा ही नहीं कि दक्षिण यूरोपके अंगूर उप-जानेवालों और रूस तथा हंगरीके अनाज पैदा करनेवालोंको कितना अधिक श्रम करना पड़ता है। यह श्रम बहुत कम हो जाय, यदि खेतीकी आजकी भूमि-प्रधान पद्धतिको छोड़कर वे श्रमप्रधान विधिको अपना लें।

२

जिस तथ्य-राशिके आधारपर हमारा यह दावा है उन सबको यहां उद्‌धृत करना संभव नहीं। इसलिए जो पाठक इस विषयमें अधिक जानना चाहते हों वे मेरी दूसरी पुस्तक "Fields, factories, and workshops" को पढ़नेका कष्ट करें। जिन लोगोंको इस विषयसे दिल-चस्पी हो उनसे हमारी सिफारिश है कि वे उन कई अच्छी-अच्छी पुस्तकों को पढ़ डालें जो फ्रांस और दूसरे देशोंसे निकली हैं। बड़े शहरोंके रहने वालोंके लिए, जिन्हें अभीतक इस बातका पता नहीं कि उन्नत, वैज्ञानिक खेती कैसी होगी, हमारी सलाह है कि वे शहरोंके आसपासके फल-फूलके बाग और तरकारीके खेत जाकर देखें और बागवानोंसे उनके बारेमें पूछें तो उन्हें मालूम होगा कि उन्होंने एक नयी दुनिया देख ली। तब वे इसका अनुमान कर सकेंगे कि बीसवीं शताब्दीके यूरोपकी खेती कैसी हो सकती है, और इसका अंदाजा भी लगा सकेंगे कि जब हमें अपनी सब आवश्यकताएं जमीनसे ही पूरी कर लेनेकी कुंजी मिल जायगी तब साम्य-वादी क्रांतिका बल कितना बढ़ जायगा।

हम अतिशयोक्ति नहीं कर रहे हैं—अपनी बातको बढ़ा चढ़ाकर

नहीं कह रहे हैं, पाठकोंको इसका इतमीनान करा देनेके लिए दो चार तथ्योंका उल्लेख कर देना ही काफी होगा। पर इसके पहले हम कुछ सामान्य सूचनाएं कर देना चाहते हैं।

हमें मालूम है कि यूरोपकी खेतोंकी अवस्था आजकल कैसी बुरी है। किसानको अगर जमींदार नहीं लूटता तो राज्य उसे लूटनेको मौजूद है। अगर राज्य उसपर हलका कर लगाता है तो कोई साहूकार हैंडनोट लिखाकर उसे अपना गुलाम बना लेता है। शीघ्र ही उसकी जमीन की असल मालिक कोई महाजनी कोठी हो जाती है और वह उसका शिकमी काश्तकार बन जाता है। इस तरह जमींदार, राज्य और साहूकार तीनों लगान, टैक्स और ब्याजके रूपमें उसका खून चूसते रहते हैं। इनकी मात्रा भिन्न-भिन्न देशोंमें भिन्न-भिन्न है, पर कहीं भी वह जमीनकी सारी उपजकी चौथाईसे कम नहीं है और अकसर आधेतक पहुंच जाती है। फ्रांस और इटलीमें तो अभी कलतक किसान अपनी कुल उपजका ४४ प्रतिशत राज्यको दे दिया करता था।

इतना ही नहीं, जमींदार और राज्यका हिस्सा सदा बढ़ता ही जाता है। ज्यों ही किसान अपने परिश्रम, आविष्कार या उद्योगसे अपनी पैदावार कुछ बढ़ा लेता है त्योंही उसे भूस्वामी, राज्य और साहूकारको अपनी आमदनीका उतना अधिक अंश दे देना पड़ता है। अगर पैदावार बीघापीछे दुगुनी या तिगुनी हो जाय तो लगान और राज्यके कर भी दुगुने या तिगुने हो जायंगे, और अगर चीजोंके दाम बढ़ जायं तो राज्य अपने कर और भी बढ़ा देगा। थोड़ेमें कहा जा सकता है कि किसानको हर जगह रोज बारहसे लेकर सोलह घंटेतक पिसना पड़ता है; ये तीनों लुटेरे सब कहीं उसकी वह सारी कमाईको लूट लेते हैं जो शायद उसके पास बच रहती और जिस पैसेसे वह अपनी खेतीकी उन्नति करता। यही कारण है कि कृषि ऐसी कुल्हूकी चालसे आगे बढ़ रही है।

जब ये तीनों गिद्ध आपसमें लड़ने लगते हैं तभी किसान कहीं-कहीं अपनी हालत थोड़ी-बहुत सुधार पाता है। अपनी आमदनीका जो

हिस्सा हर किसान कारखानेदारको तैयार मालके लिए दिया करता है उसका तो हमने जिक्र ही नहीं किया। हर एक मशीन, फावड़ा, कुदाल या रासायनिक खादका डब्बा लागतसे तिगुने या चौगुने दामपर उसके हाथ बेचा जाता है। इसके बाद बीचवालों—दूकानदारोंकी बारी होती है जो खेतीकी उपजका बड़ा हिस्सा हथिया लेते हैं।

इसी कारण इस आविष्कार और उन्नतिके युगमें भी खेतीमें जब-तब और छोटे-छोटे क्षेत्रोंमें ही कुछ उन्नति हो सकी है।

जिस प्रकार बड़े-बड़े रेगिस्तानोंमें कहीं-कहीं नखलिस्तान हुआ करते है, सौभाग्यसे उसी प्रकार कुछ ऐसे क्षेत्र बच रहते हैं जिन्हें लुटेरोंने कुछ समयके लिए बख्श दिया हो। ऐसे ही क्षेत्रोंमें हमें इसका पता लगपाता है कि श्रमप्रधान खेती मनुष्य-जातिके लिए क्या कर सकती है। कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं।

अमेरिकाके मैदानोंमें साधारणतः फी एकड़ २४४ से लेकर ४८० सेर* तक गेहूं पैदा होता है, और कभी-कभी सूखा पड़ जानेसे इसमें भी कमी हो जाती है। पर उसी प्रदेशमें ५०० आदमी आठ महीने काम करके ५०,००० मनुष्योंके लिए साल भरका अन्न उत्पन्न कर लेते हैं। पिछले तीन वर्षोंमें जो उन्नति हुई है उससे एक आदमीके वर्षभर (३०० दिन) के श्रमसे इतना गेहूं पैदा होता है कि उसका आटा शिकागो शहरके २५० आदमियोंके सालभर खानेके लिए काफी हो सकता है। यह फल शारीरिक श्रमकी बहुत बचत करके प्राप्त किया गया है। उन बड़े-बड़े मैदानों में जोतना, फसल काटना और मांडना सब कुछ एक तरहसे फौजी ढंगसे होता है। व्यर्थका इधर-उधर दौड़ना नहीं होता, समय नष्ट नहीं किया जाता। सारा काम कवायदकी तरह बंधे तरीकेपर होता है।

यह तरीका बड़े पैमानेकी भूमि-प्रधान खेतीका है, जो जमीनका उपयोग करता है पर उसे सुधारनेकी कोशिश नहीं करता। जमीन जितना उपजा सकती है उतनी पैदावार उससे ले लेनेके बाद वह वैसी ही छोड़

* मूल पुस्तकमें बुशलमें हिसाब दिया गया है। यहां ३२ सेरका बुशल मानकर सेरोंमें दिया गया है।

दी जाती हैं। फिर नयी जमीनकी तलाश होती है और कुछ दिनमें वह भी इसी तरह 'ठांठ' बना दी जाती है। पर एक श्रम-प्रधान खेतीकी पद्धति भी है जिसमें आज भी कलोंसे काम किया जाता है, और उनका उपयोग दिन-दिन और बढ़ेगा। श्रम-प्रधान या वैज्ञानिक खेतीका उद्देश्य यह है कि थोड़ी जमीनको अच्छी तरह कमाया जाय, उसमें खूब खाद डाली जाय, उसकी उर्वरता बढ़ायी जाय, एक समय एक ही बातमें पूरी शक्ति लगायी जाय, और भूमिसे अधिक-से-अधिक उपज की जाय। कृषिकी इस प्रणालीका प्रचार दिन-दिन बढ़ रहा है। दक्षिण फ्रांसमें और पश्चिमी अमेरिकाके उपजाऊ मैदानोंमें भी भूमि-प्रधान विधिसे फी एकड़ ३५२ से ४८० सेरतक ही औसत उपज होती है। पर उत्तर फ्रांसके किसान श्रमप्रधान खेतीके द्वारा नियमित रूपसे फी एकड़ ११४८ से १७६९ सेर, और कभी-कभी १९२० सेर तक पैदा कर लेते हैं। इस तरह एक आदमीके सालभरके खर्चका अन्न चौथाई एकड़से भी कम जमीनसे मिल जाता है।

जमीनसे अधिकसे अधिक फसल उपजानेकी विधि जितनी काममें लायी जायगी, किसानकी मेहनत उतनी ही कम होती जायगी। खेतीमें जो तैयारीका काम होता है, जैसे जमीनको सुखाना, कंकड़-पत्थर निकाल देना आदि, वह मेशीन कर देती है। और यह काम एक ही बार करना होता है, पर इतनेसे ही फसल दूनी हो जाती है। अकसर ऐसा भी होता है कि खेतको घास-पातसे साफ रखनेसे ही, बिना खाद दिये भी, औसत दरजेकी जमीनसे हर साल अच्छी उपज होने लगती है। हर्टफोर्डशायर (इंगलैंडके) राथमस्टेड नामक स्थानमें लगातार चालीस साल तक यही तरीका काममें लाया गया है।

जो हो, कृषिके विषयमें हमें कोई विचित्रतामयी कहानी लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। हम इतना मान लेते हैं कि एकड़ पीछे १४०८ सेरकी उपज हो सकती है। और इसके लिए बहुत बढ़िया जमीनकी भी जरूरत नहीं है, केवल बुद्धि लगाकर खेती करनेभरकी आवश्यकता है। फिर देखिए कि वह क्या कर दिखाती है।

फ्रांसके सेन और सेन-ए-वाजके दो प्रदेशोंमें ३६ लाख जन रहते हैं। उन्हें साल-भरके खानेके लिए ७० करोड़ ४० लाख सेर या कोई पौने दो करोड़ मनसे कुछ कम ही अनाजकी आवश्यकता होती है। उतना अन्न उपजानेके लिए उन्हें ४,९४,२०० एकड़ जमीनमें खेती करनी होगी, और उनके पास है कुल १५,०७,३०० एकड़ जमीन। वे फावड़ोंसे तो खेती करेंगे नहीं, उसमें समय बहुत लगेगा—हर एकड़पर ५-५ घंटेके ९६ दिन लग जायंगे। यह अच्छा होगा कि भूमि एक ही बार सदाके लिए सुधार ली जाय। गीली जमीन पानी निकालकर सुखा ली जाय, ऊंची-नीची जमीन बराबर करली जाय, और कंकड़-पत्थर बीनकर फेंक दिये जायं। जमीनकी इस तैयारीमें पांच-पांच घंटेके ५० लाख दिन भी लगें तो लगा देने चाहिए, जिसका औसत एकड़ पीछे १० 'श्रम-दिवस' आयेगा।

जमीन 'स्टीम-डिगर' मशीनसे जोती जायगी, जिसमें एक एकड़पर १$\frac{३}{५}$ दिन लगेंगे। फिर दुहरे हलसे जुताई करनेमें भी इतना ही समय देना होगा। मशीनसे बीज बिने जायंगे और जैसे-तैसे बखेर देनेके बजाय सीधी कतारोंमें बोये जायंगे। ठीक तौरसे काम किया जाय तो फी-एकड़ पांच-पांच घंटेके १० दिन भी न लगेंगे। पर तीन या चार बरसमें अच्छी जुताईके लिए यदि १०० लाख श्रम-दिवस लगा दिये जायंगे तो फल यह होगा कि आगे इससे आधे समय काम करनेसे ही फी एकड़ १४०८ सेरसे १७६० सेरतक उपज होती रहेगी।

इस प्रकार ३६ लाख जनताको रोटी देनेके लिए १५० लाख श्रम-दिन लगाने होंगे। और यह काम भी ऐसा होगा कि उसके लिए न तो फौलादकी देह दरकार होगी, और न पहलेसे खेतीके कामका अनुभव रखनेकी ही आवश्यकता होगी। कार्यका आरंभ और बंटवारा अवश्य ही वही लोग करेंगे जो खेतीके जानकार होंगे, पर जहांतक काम करनेका सवाल है कोई शहराती मर्द या औरत ऐसी न होगी जो कुछ घंटोंकी उम्मेदवारीमें ही मशीनें चलाने और खेतीके काममें अपना हिस्सा देने लायक न हो जाय।

हम जानते हैं कि पेरिस-जैसे शहरमें, ऊंचे वर्गोंके बेकारोंको छोड़

कर, केवल विविध व्यवसायोंके ही १ लाख श्रमजीवी प्रायः सदा बेकार रहते हैं। इतने ही आदमी, जिनकी शक्ति वर्तमान समाज-संगठनमें व्यर्थ नष्ट होती है, बुद्धि-पूर्वक खेती करके उक्त दोनों जिलोंके ३६ लाख निवासियोंके लिए काफी अन्न उत्पन्न कर सकते हैं।

हम फिर कहते हैं कि यह सब केवल स्वप्न या शेखचिल्लीकी कल्पना नहीं है, हमने तो अभी सच्ची श्रम-प्रधान खेतीकी चर्चा ही नहीं की है। श्रीहेलेटने प्रयोग करके देखा है कि एक गेहूंके दानेसे तीन सालमें ५००० या ६००० और कभी-कभी दस हजार दानेतक भी पैदा हो सकते हैं। इस हिसाबसे १२० वर्ग गज जमीनमें पांच व्यक्तियोंके परिवारके खानेभर गेहूं पैदा हो सकता है। पर हमने इस हिसाबको अपना आधार नहीं बनाया है। हमने तो उसी उपजके उदाहरण दिये हैं जो फ्रांस, इंगलैंड, बेल्जियम आदिके बहुसंख्यक किसानोंके खेतोंमें आज भी हो रही है, और जो अबतक प्राप्त ज्ञान तथा अनुभवको बड़े पैमानेपर काममें लानेसे आगे भी हो सकती है।

पर बिना क्रांति हुए इस प्रकारकी खेती न कल की जा सकेगी, न परसों; क्योंकि इसमें जमींदारों और पूंजी-पतियोंका स्वार्थ नहीं है, और जिन किसानोंका इसमें लाभ है उनके पास न इतना ज्ञान है, न इतना पैसा और न इतना समय ही कि वे इस दिशामें प्रयत्न कर सकें?

आजका समाज अभी इस अवस्थातक नहीं पहुंचा है। पर जब पेरिस-वासी अराजक पंचायतकी घोषणा कर देंगे तब वे ऐसी बेवकूफी न करेंगे कि शौकीन अमीरोंके लिए खिलौने बनाते न रहें (ये तो अब वियेना, वारसा और बर्लिनमें भी बनने लगे हैं) और भूखों मरनेकी जोखिम उठावें, बल्कि जरूरतसे मजबूर हो अपने आप इस ढंगकी खेती करने लगेंगे।

इसके अलावा मशीनकी मददसे खेती करना जल्दी ही सबसे अधिक आकर्षक और सबसे अधिक आनंद-प्रद धंधा बन जायगा।

लोग कहेंगे कि "अब गहनों और गुड़ियोंके से रंग-बिरंगे कपड़े हमें न चाहिए। अब तो वह समय आगया है कि श्रमिक अपनी शक्ति को खेतीमें लगायें और शहरके कारखानोंमें बंद रहकर जिस शक्ति-स्फूर्ति,

प्रकृति-परिचय और जीवनके आनंदको खो चुके हैं उसकी पुनः प्राप्तिका प्रयत्न करें।"

मध्यकालमें स्विटजरलैंड-वासियोंने सरदारों और राजाओंकी शक्तिको उलट दिया था, पर तोपोंकी ताकतसे नहीं, बल्कि अपनी पहाड़ी चरागाहोंके बलसे। कोई भी क्रांतिकारी नगर आधुनिक कृषिकी सहायतासे सारी मध्यमवर्गीय शक्तियोंसे मोरचा लेकर अपनेको स्वतंत्र कर सकता है।

३

यह तो हम देख चुके कि पेरिसके आसपासके दोनों जिलोंके ३५-३६ लाख निवासी किस तरह केवल अपनी एक-तिहाई जमीनको जोत-बोकर अपने लिए काफी अनाज पैदा कर सकते हैं। अब पशुओंके प्रश्नको लेना चाहिए।

इंगलैंडके लोग मांस अधिक खाते हैं। हर एक बालिग व्यक्ति सालमें औसतन करीब २२० पौंड मांस खा जाता है। अगर यह मान लें कि सब लोग बैलका ही मांस खाते हैं तो इतना मांस एक बैलकी एक तिहाई से कुछ कम ही ठहरता है। इस तरह पाँच आदमियोंके लिए, जिनमें बच्चे भी शामिल हैं, सालमें एक बैल काफी होगा। ३६ लाख आदमियोंके लिए इस पड़तेसे लगभग ७ लाख पशु सालभरमें लगेंगे।

आजकल चरागाहोंकी व्यवस्थामें ६ लाख ६० हजार पशुओंको पालनेके लिए कम-से-कम ५० लाख एकड़ जमीनकी जरूरत होती है। इस तरह प्रत्येक पशुपर ९ एकड़का औसत पड़ता है। पर घासवाले मैदानोंमें, जहां फव्वारोंसे थोड़ा-थोड़ा पानी छिड़का जाता है (जैसा कि हालमें ही फ्रांसके दक्षिण-पश्चिम भागमें हजारों एकड़के रकबेमें किया गया है) वहां १२॥ लाख एकड़ जमीन ही काफी होती है। परंतु यदि श्रमप्रधान ढंगकी खेती की जाय और पशुओंके चारेके लिए चुकंदरकी जड़ काममें लायी जाय तो इसकी भी चौथाई अर्थात् केवल ३ लाख १० हजार एकड़ जमीन ही काफी होगी। और अगर हम मकई उगाएं और अरबवालोंकी तरह उसे ताजा दबाकर चारेके लिए रख छोड़ें तब तो

इतने पशुओंके चारेके लिए हमें केवल २,१७,५०० एकड़ जमीन ही दरकार होगी।

मिलन (इटली) नगरके आस-पास शहरकी गन्दी नालियोंके पानी से खेत सींचे जाते हैं। वहाँ २२ हजार एकड़में चरी उगायी जाती है और एक एकड़से २ या ३ पशुओंका पेट भरने भर चारा मिल जाता है। कुछ अच्छे खेतोंमें तो १० एकड़में १७७ टनतक* सूखा चारा पैदा हुआ है, जो ३६ दुधार गायोंको सालभरके लिए काफी होता है। चरागाहोंकी पद्धतिमें एक पशुके लिए लगभग ९ एकड़ जमीन चाहिए और नयी पद्धतिमें ९ गाय या बैलोंके लिए केवल २॥ एकड़ जमीन काफी होती। यह है आधुनिक कृषिके दो परिणामोंका अन्तर।

गर्न्सी प्रदेशमें कुल ९,८८४ एकड़ जमीन काममें आती है, जिसमेंसे लगभग आधी (४,६९५ एकड़)में अनाज और साग-भाजी बोयी जाती हैं; केवल ५,१८९ एकड़ जमीन चरागाहके लिए बचती है। इस ५,१८९ एकड़ जमीनमें १,४८० घोड़े, ७,२६० गाय-बैल, ९०० भेड़ें और ४,२०० सूअर चराये जाते हैं, और भेड़ या सूअर समेत हर दो एकड़पर ३ पशुओंसे अधिकका औसत पड़ता है। कहना न होगा कि वहां समुद्री घास और रासायनिक खादसे जमीनकी उर्वरता बढ़ायी जाती है।

अब हम पेरिस और उसके उपनगरोंके ३६ लाख निवासियोंके प्रश्नको फिर लेते हैं। हम जानते हैं कि पशुओंकी चराईके लिए ५० लाख एकड़के बदले अब १ लाख ९७ हजार एकड़ जमीनकी ही आवश्यकता रह गयी है। पर हमें सबसे छोटे अंकको ही न लेना चाहिए। साधारण श्रम-प्रधान खेतीमें जितनी जमीन चाहिए वही रकबा हम लेते हैं। कुछ सींगवाले पशुओंके स्थानपर छोटे मवेशी आ जायँगे और उनके लिए भी जमीनकी जरूरत होगी। इसलिए पशु-पालनके लिए, ज्यादा-से-ज्यादा ३ लाख ९५ हजार एकड़ जमीनकी जरूरत माननी चाहिए, या आप चाहें तो मनुष्योंके लिए अन्नोत्पादनसे बची हुई १० लाख १२ हजार एकड़ जमीनमेंसे इसके लिए ४ लाख ९४ हजार एकड़ ले सकते हैं।

* एक टन लगभग २८ मनका होता है।

हिसाब लगानेमें हम उदारतासे काम लेते हैं और मान लेते हैं कि इस भूमिको उत्पादक बनानेमें ५० लाख श्रम-दिवस लगेंगे। इसमें साल भरमें २ करोड़ दिनोंके श्रमसे, जिसमेंसे आधा तो जमीनके स्थायी सुधारमें लगेगा, हमारे अन्न और मांसकी पक्की व्यवस्था हो जायगी। इसमें वह अतिरिक्त मांस नहीं जोड़ा गया है जो शिकारकी चिड़ियों, मुर्गे-मुर्गियों, सूअरों, खरगोशों आदिसे मिलेगा। इसका भी विचार नहीं किया गया है कि जिस जनताको बढ़िया फल और तरकारियां मिलेंगी वह अंग्रेजोंसे कम ही मांस खायेगी। अंग्रेजोंको तो साग-सब्जी बहुत कम मिलती हैं, इसलिए वे मांस अधिक खाते हैं। तो ५-५ घंटेके २ करोड़ श्रम-दिनोंमेंसे प्रत्येक निवासीके हिस्से कितना समय पड़ेगा? वस्तुतः बहुत ही थोड़ा। ३५ लाखकी जन-संख्यामें कम-से-कम १२ लाख वयप्राप्त पुरुष और इतनी ही काम करने लायक स्त्रियां भी होंगी। अतः सारी जनताको अन्न और मांस मिलनेके लिए आदमी पीछे सालमें कुल १७ अर्ध-दिनोंके श्रमकी ही आवश्यकता होगी। दूधकी प्राप्तिके लिए ३० लाख, या चाहें तो ६० लाख, श्रम-दिवस और बढ़ा दीजिए। इस प्रकार कुल मिलाकर प्रति व्यक्ति ५-५ घंटेके २५ श्रम-दिवस लगे। हमारे आहारकी तीन मुख्य वस्तुएं—रोटी, मांस और दूध—प्राप्त करनेके लिए इतना श्रम तो मैदानमें जाकर कबड्डी खेल लेनेके जैसा सुखद कार्य होगा। मकानके सवालके बाद यही तीन चीजें हैं जिनकी चिंता नब्बे प्रतिशत लोगोंके सिरपर सदा सवार रहती है।

हम एक बार फिर कहे देते हैं कि यह बात कोई सुंदर स्वप्न या मनोराज्य नहीं है। हमने वही बातें कही हैं जो बड़े पैमानेपर की गयी आजमाइशोंसे साबित हुई हैं और हो रही हैं। कृषि-कार्यकी यह नवव्यवस्था कल ही की जा सकती है, बशर्तेकि सम्पत्ति-संबंधी कानून और जनताका अज्ञान हमारा रास्ता न रोकें।

जिस दिन पेरिस यह समझ जायगा कि हम क्या खाते हैं और वह किस तरह पैदा किया जाता है इसे जान लेना लोकहितकी बात है, जिस दिन हर एक आदमी यह जान लेगा कि वर्तमान समयकी पार्ल-

मेंटकी सारी बहसोंसे भोजनका यह सवाल कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है, उसी दिन क्रांति पक्की हो जायगी। पेरिस दोनों पड़ोसी जिलोंपर कब्जा कर लेगा और उनकी जमीनको जोत डालेगा। इसके बाद जिन श्रम-जीवियोंने अपना एक-तिहाई जीवन सूखी रोटियां और वह भी अधपेट पानेके लिए मशक्कत करनेमें ही बिता दिया है वे अपने घरके पास, अपने ही किलेकी चहार-दीवारके भीतर (यदि किले उस समय भी रहे) कुछ घंटेके स्वास्थ्यकर और आकर्षक श्रमके द्वारा अपना आहार स्वयं उत्पन्न करने लगेंगे।

अब हम फलों और शाकोंके प्रश्नपर विचार करते हैं। आइए, पेरिस के बाहर, विज्ञानशालाओंसे कुछ ही मीलके फासलेपर चतुर बागबानोंने जो फल-फूलके बाग लगा रक्खे हैं और जो सचमुच करामात करते हैं उनमेंसे किसीकी सैर करें।

मान लीजिए हम मोशिये पोंसेके बागमें जाते हैं। उन्होंने बागबानी पर एक पुस्तक लिखी है। ये सज्जन भूमिसे जो कुछ उत्पन्न करते हैं उसे छिपाते नहीं, बराबर सब बातें प्रकाशित कर देते हैं।

मोशिये पोंसे, और खासकर उनके मजदूर बड़ी मेहनतसे काम करते हैं। ३ एकड़से भी कम (२·७ एकड़) जमीनपर खेती करनेमें ८ आदमी लगते हैं। वे दिनमें १२ और १५ घंटेतक, अर्थात् आवश्यकतासे तिगुना काम करते हैं। २४ आदमी भी उनके लिए अधिक न होंगे। इसका कारण मोशिये पोंसे शायद यह बतायें कि उन्हें अपनी २·७ एकड़ जमीनका लगान १०० पौंड देना पड़ता है, और इतना ही खाद खरीदनेमें लग जाता है। इसलिए वे भी मजदूरोंसे अधिक काम लेनेको मजबूर हैं। निःसंदेह वे यह कहेंगे कि "जब दूसरे मुझे लूटते हैं तो मैं भी दूसरोंका शोपण करता हूं।" साज-सामानपर भी उनके १२०० पौंड खर्च हुए हैं, जिसमेंसे आधा तो मशीनोंपर लग गया और कार-खानेदारोंकी जेबमें गया। वस्तुतः उनका कारबार अधिक-से-अधिक ३,००० श्रम-दिवसोंका, बल्कि शायद इससे बहुत कम श्रमका कार्य है।

अब यह देखना चाहिए कि वह क्या-क्या पैदा करते हैं। उस जमीन

से वह लगभग १० टन गाजर, लगभग इतना ही प्याज, मूली और छोटे शाक, ५००० टोकरी टमाटर, ५००० दर्जन अच्छे फल और १,५४,००० सलाद पैदा करते हैं। संक्षेपमें २.७ एकड़ या १२० × १०९ गज जमीन से वह १२३ टन शाक और फल उत्पन्न करते हैं, अर्थात् एकड़ पीछे ४४ टनसे कुछ अधिक।

पर सालभरमें एक आदमी ६६० पौंडसे अधिक शाक-फल नहीं खाता। २॥ एकड़का बाग ३५० बालिग स्त्री-पुरुषोंको सालभर फल और शाक अच्छी तरह दे सकेगा। अतः २४ आदमी २.७ एकड़ भूमि-पर ५ घंटे रोज काम करके ही साल भरमें इतना शाक और फल उत्पन्न कर देंगे कि वह बड़ी उम्रके ३५० आदमियोंको, अर्थात् औरत-मर्द-बच्चे मिलाकर कमसे-कम ५०० व्यक्तियोंके लिए काफी होगा।

यह बात इस तरह भी कही जा सकती है कि श्री पोंसेकी पद्धतिसे खेती करनेपर भी ३५० बालिग स्त्री-पुरुष आदमी पीछे १०० घंटेसे कुछ अधिक (१०३ घंटे) समय सालभरमें देकर ५०० आदमियोंके लिए यथेष्ट फल और शाक उत्पन्न कर सकते हैं।

हम यह बता देना चाहते हैं कि यह उत्पत्ति कोई असाधारण बात नहीं है। इतनी उपज तो पेरिसके डांडेपर ही २,२२० एकड़ भूमिपर ५,००० बागबानों द्वारा की जाती है। हां, यह बात जरूर है कि इन बागबानोंको ३२ पौंड फी एकड़का लगान चुकानेके लिए मशीनकी तरह पिसना पड़ता है।

पर इन तथ्योंसे, जिनकी तसदीक जो चाहे कर ले सकता है, क्या यह सिद्ध नहीं हो जाता कि पेरिसके दोनों जिलोंकी जो ५,१९,००० एकड़ भूमि बची है उसमेंसे १७,३०० एकड़ भूमि ही ३५ लाख जनताके लिए काफ़ी शाक और फल दे सकती है।

अब देखना यह है कि इतना फल-शाक उपजानेके लिए कितनी मेहनत दरकार होगी। अगर हम पेरिसके फल-तरकारी उपजानेवालोंकी मेहनतके पैमानेसे हिसाब लगायें तब तो इस काममें ५-५ घंटेके ५ करोड़ श्रमदिवस लगेंगे, जिसका औसत हर बालिग मर्दपर ५० दिन आता है। पर जिस

तरीकेसे जेर्सी और गर्न्जी* खेती होती है उससे तो श्रम और भी कम लगेगा। याद रहे कि पेरिसके बागवाले प्रायः ऋतुसे कुछ पहले फल उत्पन्न करते हैं और इस कारण उन्हें अधिक श्रम करना पड़ता है। उन्हें जमीनका लगान अधिक देना पड़ता है, और समयसे पहले उपजने वाले फलोंके ऊंचे दाम मिलते हैं। यदि साधारण फल-तरकारियां पैदा की जायं तो श्रम कम लगेगा। इसके अतिरिक्त पेरिसके बागवालोंके पास अपने बागोंकी अधिक उन्नति करनेके साधन भी नहीं हैं, और उन्हें कांच, लकड़ी, लोहे और कोयलेपर भी बहुत पैसा खर्च करना पड़ता है। वे खादसे नकली गरमी पहुंचाते हैं, हालांकि 'गरम घरों' (Hot-houses) † के जरीये बहुत कम खर्चसे यह काम किया जा सकता है।

४

ऐसी आश्चर्यजनक फसलें पैदा करनेके लिए इन व्यवसायी बागवानों को मशीन बन जाना पड़ता है और जीवनके सब आनंदोंको त्याग देना पड़ता है। पर इन परिश्रमी जनोंने हमें यह बताकर मनुष्य-जातिकी बड़ी सेवा की है कि मिट्टी 'बनायी' जा सकती है। वे खादके खमीरसे गरमकी हुई मिट्टीकी तह (Hot beds) से मिट्टीको बनाते हैं। छोटे-छोटे पौधों और मौसिमसे पहले पैदा किये जानेवाले फलोंको गरमी पहुंचानेमें यह खाद पहलेसे इस्तेमाल हो चुकी होती है। यह बनावटी मिट्टी वे इतनी अधिक बनाते हैं कि उसका कुछ हिस्सा उन्हें हर साल बेच देना पड़ता है, नहीं तो उनके बागकी सतह हर साल एक इंच ऊंची हो जाय। अपने 'कृषि-कोष'के बागबानोंसे संबंध रखनेवाले लेखमें श्रीबैरेलने इसकी उपयोगिता बतायी है। वे बागबान इतनी अच्छी तरह यह मिट्टी बनाते हैं कि आजकल इकरारनामोंमें वे यह शर्त रखते हैं कि जब अपनी जमीन छोड़ेंगे तब अपनी मिट्टी उठाकर ले जायंगे। रिकार्डोने अपने विद्वत्तापूर्ण

* ब्रिटिश चैनलके दो बड़े टापू।

† शीशेकी दीवारों और छतवाले मकान जो गरम रखे जाते हैं और बेमौसिमके या अधिक ठंडे जलवायुमें पौधे उगानेके लिए काममें लाये जाते हैं।

ग्रंथोंमें यह दिखाया है कि भूमिकर या लगान वह साधन है जो भूमिके प्राकृतिक लाभोंको सर्वत्र समान कर देता है; पर व्यावहारिक किसानकी ओरसे उसकी दलीलोंका जवाब है बागके फरनीचर और कांचके ढांचोंके साथ-साथ खाद-मिली मिट्टीको भी गाड़ियोंमें भरकर उठा ले जाना। बागबानका आदर्श वाक्य तो है—"जैसा किसान वैसी जमीन।"

मगर गर्न्जी या इंगलैंडके बागबान पेरिस और रोआंके बागबानोंकी अपेक्षा एक-तिहाई श्रमसे ही उतनी उपज कर लेते हैं। वहां के बागबान कृषिमें शिल्पकी सहायता लिया करते हैं। वे बनावटी मिट्टी तो बनाते ही हैं, 'हरे घर' (Green house)* की सहायतासे बनावटी मौसिम भी पैदा कर लेते हैं।

पचास बरस पहले तो 'हरा घर' केवल अमीरोंके यहां होता था। वे अपने आनंदके लिए विदेशों और भिन्न-भिन्न जल-वायुके प्रदेशोंसे पौधे मंगाकर उसमें लगाते थे। पर आजकल तो हरे घरोंका उपयोग सभी करने लगे हैं। गर्न्जी और जर्सीमें तो इसका बड़ा भारी उद्योग ही खड़ा होगया है। वहां सैकड़ों एकड़ जमीनपर कांचकी छत बना दी गयी है। और हरे घरोंकी तो गिनती ही नहीं हो सकती। प्रायः प्रत्येक फार्मके बागमें छोटे-छोटे हरे घर हैं। वर्थिंग नगरमें भी इधर पचासों एकड़ जमीनपर हरे घर बन गये हैं (१९१२ ई० में १०३ एकड़ हरे घर थे)। इंगलैंड तथा स्काटलैंडके दूसरे स्थानोंमें भी बहुतसे बन गये हैं।

हरे घर सब प्रकारके बनते हैं। कुछ ऐसे भी हैं जिनकी दीवारें सफेद ग्रेनाइट पत्थरकी हैं। पर कुछ तो केवल छप्परकी तरह तख्तों और कांचके फ्रेमोंसे ही बने होते हैं। पूंजीपति और बीचवालोंका मुनाफा चुकाकरके भी आज-कल एक वर्ग-गज कांचकी छतका खर्चा ३॥ शिलिंगसे कम ही पड़ता है। अधिकांश हरे घरोंमें सालमें तीन या चार महीनें गरमी पहुंचायी जाती है। पर जिनमें गरमी नहीं पहुंचायी जाती उनमें भी अच्छी उपज होती है। अंगूर और गरम देशोंकी चीजें तो

* नाजुक पौधोंके लिए बनाये गये शीशेके घर या मंडप।

पैदा नहीं हो सकतीं, पर आलू, गाजर, मटर, टमाटर आदि खूब होते हैं।

इस तरह मनुष्य ऋतुओंकी बाधासे भी बच जाता है और गरम जमीन बनानेके भारी झंझटसे भी। उसको खाद भी बहुत कम खरीदनी पड़ती है और मेहनत भी कम लगती है, जिससे काफी बचत हो जाती है। जितनी चीज पहले कई एकड़ जमीनमें पैदा हुआ करती थी उतनी अब छोटे से रकबे में ही हो जाती है; और एकड़ पीछे केवल तीन आदमी पड़ते हैं, जिनको हफ्तेमें ६० घंटेसे कम ही श्रम करना पड़ता है।

कृषि-विद्याकी इन हालकी विजयोंका फल यह हुआ है कि किसी शहरके आधे बालिग स्त्री-पुरुष भी बेमौसिम फलों और तरकारियोंकी प्राप्तिके लिए ५०-५० अर्धदिन देदिया करें तो शहरके सब लोगोंको हर मौसिममें सब प्रकारकी फल-तरकारियां इफरातसे मिल सकती हैं।

पर एक बात और भी ध्यान देने योग्य है। आजकलके हरे घर साग-भाजीके कांचकी छतवाले बाग ही बनते जा रहे हैं। इस कामके लिए तख्तों और कांचकी बनी हुई छतें ही काफी होती हैं। उनमें गरमी पहुंचानेकी जरूरत नहीं होती। आज-कल ऐसी छतोंसे ही आश्चर्य-जनक उत्पत्ति हो रही है। उदाहरणार्थ पहली फसलमें, जो अप्रैलके अंत तक तैयार हो जाती है, एक एकड़में ४०० मन आलू पैदा हो जाते हैं। इसके बाद गरमीकी ऋतुमें कांचकी छतके नीचे बहुत ज्यादा गरमी रहती है, और दूसरी और तीसरी फसल भी पैदा की जाती है।

मैंने अपनी पुस्तक "Fields, Factories and workshops" में इस विषयकी बहुतसी मारकेकी बातें दी हैं। यहां इतनां ही कहना काफी है कि जर्सीमें एक शिक्षित बागबान और ३४ आदमी १२ एकड़ जमीनपर खेती करते हैं, और वह जमीन कांचकी छतसे ढकी होती है। उस जमीनमें वे १४३ टन फल और बे-मौसिम तरकारियां पैदा कर लेते हैं, और इस असाधारण कृषिमें उनका १,००० टनसे भी कम कोयला खर्च होता है।

गर्न्जीमें तो यह खेती आजकल बहुत बड़े पैमानेपर की जाती है। बहुतसे जहाज तो इन्हीं घरोंकी पैदावारको देसावर भेजनेके लिए ही गर्न्जी और लंदनके बीच चला करते हैं।

आज-कल यही ४०० मन आलू पैदा करनेके लिए हमें हरसाल ४ एकड़ जमीन जोतनी पड़ती है, आलू बोने-निराने आदिका श्रम करना पड़ता है। पर कांचकी छत बनानेमें शुरूमें प्रति वर्ग गज आधे दिनका श्रम लगाना पड़ जाय तो भी बादमें साधारण वार्षिक श्रमका आधा या शायद चौथाई लगाकर ही हम उतनी उपज कर सकते हैं।

ये पक्की बातें हैं—तथ्य हैं, और इन परिणामोंकी जांच हर आदमी खुद कर ले सकता है। ये तथ्य इस बातका संकेत हैं कि अगर आदमी भूमिका बुद्धिपूर्वक उपयोग करे तो वह उसे कितना दे सकती है।

ऊपर हमने केवल वही बातें कही हैं जो परीक्षाकी कसौटीपर कसी जा चुकी हैं। श्रमप्रधान विधिकी खेती, घासके मैदानोंकी सिंचाई, 'गरम घर' और कांचकी छतोंवाले फल-तरकारीके बाग—ये ऐसी बातें हैं जो आजकल भी हो रही हैं। इसके सिवा लोगोंकी प्रवृत्ति खेतीके इन तरीकोंको आम बना देनेकी ओर है, क्योंकि इनके जरीये कम मेहनतमें और अधिक भरोसेके साथ जमीनसे अधिक अन्न-फल-शाक उपजाये जा सकते हैं।

गर्न्जीके कांचके छाजनवाले मंडपोंको देख और समझ लेनेके बाद तो हम कह सकते हैं कि खुले मैदानमें चौगुनी जमीन जोतने, बोने, सींचने और निरानेकी बनिस्बत अप्रैलमें कांचके छप्परके नीचे आलू उपजाना कहीं अधिक आसान है। उसमें कुल मिलाकर बहुत कम मेहनत पड़ती है। इसी तरह बढ़िया औजार या मशीन लेनेमें शुरूमें तो पैसा लगाना होता है, पर उनसे काम लेनेमें श्रममें बड़ी बचत होती है।

शीशेकी छतके नीचे साधारण शाक-तरकारीकी खेतीके पूरे अंक अभी नहीं मिले हैं। यह खेती हालमें ही शुरू हुई है और छोटे-छोटे रकबोंमें ही की जा रही है। पर पचास वर्षसे मौसिमसे पहले अंगूर पैदा करनेके जो प्रयोग हुए हैं उनके आंकड़े हमें प्राप्त हैं और वे उनकी सफलताके पक्के प्रमाण हैं।

इंगलैंडके उत्तरमें स्काटलैंडकी सरहदपर जहां कोयला निकाला जाता है, वह ३ शिलिंगमें ही एक टन मिल जाता है। इसलिए वहां बहुत पहले से लोग गरम घरोंमें अंगूर पैदा करने लग गये थे। ३० साल पहले जनवरीमें पकनेवाले अंगूरोंके बागका मालिक उन्हें २० शिलिंग फी पौंडके भावसे बेचता था, और फ्रांसके सम्राट तीसरे नेपोलियनके खानेके लिए वे फिर एक पौंडके लिए ४० शिलिंग देकर खरीदे जाते थे। आज वही बागवाला उन अंगूरोंको २॥ शिलिंग प्रति पौंडके भावसे बेचता है। कृषि-विषयके एक सामयिक पत्रमें उस बागवालेने स्वयं यह बात बतायी है। अंगूरका भाव इसलिए गिर गया है कि अब तो लंदन और पेरिसमें जनवरीमें ही बीसों टन अंगूर पहुंच जाते हैं।

आम तौरसे फल दक्षिण (यूरोप)से उत्तरको भेजे जाते थे, पर कोयले की सस्ती और अच्छे ढंगकी खेती होनेके कारण अब अंगूरोंका चालान उत्तरसे दक्खिनको होने लगा है। वे इतने सस्ते पड़ते हैं कि मईमें इंगलैंड और जर्सीके अंगूरोंको बागवाले १$\frac{३}{४}$ शिलिंग फी पौंडके भावसे बेचते हैं। फिर भी जिस तरह तीस बरस पहले ४० शिलिंगका भाव कम उपजके कारण रहता था वैसे ही आजकल भी १$\frac{३}{४}$ शिलिंगका भाव उसी कारण रहता है।

मार्चमें बेल्जियमके अंगूरोंका भाव ६ पेंससे लेकर ८ पेंस प्रति पौंड तक रहता है और अक्तूबरमें लंदनके अंगूर, जो कांचके नीचे कुछ गरमी पहुंचाकर पैदा किये जाते हैं, उससे बहुत सस्ते—स्विटजरलैंड और राइन प्रदेशके भावसे बिकते हैं। फिर भी यह मूल्य दो तिहाई अधिक होता है, क्योंकि भूमिका लगान चुकाने, मशीनें लगवाने और गर्मी पहुंचानेके खर्चोंके रूपमें बागवालेको कारखानेदार और बीचवालोंको भारी

रकम नजर कर देनी पड़ती है । इस प्रकार हम कह सकते हैं कि लंदन जैसे ठंडे प्रदेशमें भी, जहां सितंबर-अक्तूबरमें ही कुहरा पड़ने लगता है, स्वादिष्ट अंगूर हमें एक तरहसे 'मुफ्तके मोल' मिल सकते है । शहरके बाहर एक बस्तीमें हम एक बंगलेमें रहते थे । वहां हमने एक टूटा-फूटा-सा कांचका छप्पर ९ फुट १० इंच लंबा, ६॥ फुट चौड़ा लगा लिया था। नौ बरसतक उसमें हर अक्तूबरमें करीब ५० पौंड बढ़िया अंगूर फलते रहे । अंगूरकी बेल हैम्बर्गकी किस्मकी थी और वह भी छः सालकी पुरानी। छप्पर भी इतना खराब था कि बरसातका पानी उसमेंसे टपकता था । रातमें उसके अंदर उतनी ही ठंडक होती थी जितनी बाहर मैदानमें । उसमें नकली गरमी नहीं पहुंचायी जाती थी, क्योंकि उसे गरम करनेकी कोशिश उतनी ही बेकार थी जितनी खुली सड़कको गरम करने की । सालमें एक बार वह बेल छांट दी जाती थी, जिसमें आधा घंटा लगता था, और छप्परसे बाहर लाल मिट्टीमें जहां उसका तना उगा हुआ था थोड़ी खाद डाल दी जाती थी । बस यही सेवा उस द्राक्षा-लताकी की जाती थी ।

पर राइन नदी या लेमन झील (स्विटजरलैंड) के किनारे अंगूर उपजानेमें जैसी मेहनत करनी पड़ती है, जिस तरह पहाड़ीकी ढालपर पत्थर-पर-पत्थर जमाकर चबूतरे बनाये जाते हैं और दो-दो सौ तीन-तीन सौ फुटकी ऊंचाईपर खाद और मिट्टी पहुंचायी जाती है, उसको देखते हुए हम इस नतीजेपर पहुंचते हैं कि स्विट्जरलैंडमें या राइनके किनारे अंगूर पैदा करनेमें लंदनके उपनगरोंमें कांचके घरोंमें उन्हे उपजानेकी बनिस्बत बहुत अधिक श्रम पड़ता है ।

लोगोंको यह बात उलटी-सी मालूम होगी, क्योंकि आम खयाल है कि दक्षिण-यूरोपकी गरम आब-हवामें अंगूर अपने आप पैदा हो जाते हैं और उनकी खेतीमें वहां कुछ भी खर्च नहीं पड़ता । पर बागबान और बागबानी-कलाके विशेषज्ञ हमारी बातका खंडन करनेके बदले हमारे दावेका समर्थन ही करते हैं । एक 'असली बागबान'ने, जो उद्यान-विद्याके एक पत्रके संपादक भी थे, 'नाइंटीन्थ सेंचुरी' पत्रिकामें लिखा था कि

इंगलैंडकी सबसे अधिक लाभदायक खेती अंगूरकी है। यह बात तो उसके भावसे ही प्रकट हो जाती है।

साम्यवादकी भाषामें इन तथ्योंको हम इस प्रकार कह सकते हैं कि कोई स्त्री या पुरुष अपने आरामके वक्तसे हर साल २० घंटे भी कांचके छप्परके नीचे लगाये गये अंगूरके दो या तीन पौधोंपर खर्च कर दे तो यूरोप भरमें कहीं भी इतने अंगूर उपज सकते हैं कि उसके कुटुंबी और मित्र खाकर अघा जायं। केवल अंगूर ही नहीं, सब प्रकारके फल इसी प्रकार थोड़े श्रमसे, जो बढ़िया मनोरंजन भी होगा, पैदा किये जा सकते हैं।

यदि साम्यवादी सरकार खेतीकी वैज्ञानिक विधिको बड़े पैमानेपर काममें लाये तो देशी और विदेशी सब प्रकारकी तरकारियां और फल हर आदमीकी सालमें केवल १० घंटेकी मेहनतसे ही पैदा कर लिये जायंगे।

हमारी इन बातोंकी जांच कर लेना बहुत आसान है। मान लीजिए, वर्थिंगकी जैसी १०० एकड़ जमीनपर फल-तरकारीके कुछ बाग लगाये गये और हर बागमें नाजुक पौधोंकी रक्षाके लिए कांचके घर भी बना दिये गये। इनके अतिरिक्त और भी ५० एकड़ भूमिपर कांच-घर बना दिये गये। इस सारे रकबेका प्रबंध फ्रांसके व्यावहारिक अनुभव रखनेवाले बागवानों और गर्न्जी या वर्थिंगके 'हरे-घर' वालों को सौंप दिया गया।

जर्सीके औसतसे, जहां कांचके छप्परवाली १ एकड़ जमीनपर ३ आदमी लगते हैं, यानी सालभरमें करीब ८,६०० घंटेकी मेहनत लगती हैं, इस १५० एकड़ जमीनके लिए लगभग १३ लाख घंटोंके श्रमकी आवश्यकता होगी। पचास कुशल बागवान इस काममें रोज पांच घटे लगाते रहें, बाकी काम साधारण आदमी ही कर सकते हैं, जो पेशेवर बागबान न होते हुए भी थोड़े ही दिनोंमें फावड़ा चलाना और पौधोंको काटना-सींचना सीख जायगे। इतने श्रमसे ही कम-से-कम ४० या ५० हजार आदमियोंके लिए जरूरत और शौकके सब तरहके फल और तरकारियां पैदा हो जायंगी। मान लीजिए, इस संख्यामें बडी उम्रके १३,५०० स्त्री-पुरुष हैं, जो साग-तरकारीके बागोंमें काम करनेको तैयार हैं। तो हर एकको

साल भरमें कुल मिलाकर १०० घंटे देने होंगे। और ये घंटे जो अपने मित्रों तथा बच्चोंके साथ सुंदर बगीचोंमें बीतेंगे अर्थतः मनबहलावमें खर्च होंगे। आजकल तो, जब गृहिणीको एक-एक पैसेका खयाल रखना पड़ता है—जो अंतमें पूंजीपति और जमीनके मालिककी जेबमें ही जाता है—फल तो हमें मिल ही नहीं पाते और शाक-भाजी भी नाप-तौलकर ही खर्च करनी पड़ती है। यह है उस श्रमका लेखा जो भरपेट फल खा और इफरातसे तरकारी पा सकनेके लिए हमें खर्च करना होगा।

काश मनुष्य-जातिको इसका पता होता कि वह क्या कर सकती है, और यह ज्ञान उसमें इच्छा करनेकी—संकल्पकी शक्ति जगा देता!

काश वह इस बातको जानती कि साहसकी कमी ही वह दलदल है जिसमें अबतककी सारी क्रांतियोंको कब्र मिली है!

६

जिनके आंखें हैं वे देख सकते हैं कि साम्यवादी क्रांतिके लिए प्रतिदिन नयी-नयी दिशाएं खुलती जा रही हैं।

जब कभी हम क्रांतिका नाम लेते हैं, श्रमजीवीके चेहरेपर दुःखकी छाया आ जाती है, क्योंकि वह अपने बच्चोंको रोटीके लिए बिलखते देख चुका है। वह पूछता है—"पर रोटीका क्या उपाय होगा? अगर हरएक भरपेट खायेगा तो क्या सबको पूरी रोटियां मिल सकेंगी? जैसे १७९३ में फ्रांसमें किसानोंने श्रमजीवियोंको भूखों मारा था उसी तरह अब भी प्रगति-विरोधियोंके जालमें फंसकर वे हमें भूखों मारें तो हम क्या करेंगे?"

किसान मजदूरोंको कितना ही धोखा दें, बड़े शहरोंके रहनेवाले उनकी सहायताके बिना भी काम चला लेंगे।

तब फिर जो लाखों मजदूर आज छोटे-छोटे कारखानोंकी दम घोंटनेवाली हवामें काम कर रहे हैं, स्वतंत्रता प्राप्त कर लेनेपर वे किस काममें लगेंगे? क्या क्रांतिके बाद भी वे कारखानोंमें ही बंद रहेंगे? जब अनाज और तरकारियां खत्म होने लगेंगी क्या तब भी वे देसावर भेजनेके लिए फैंसी खिलौने ही बनाते रहेंगे?

हर्गिज नहीं ! वे शहरसे निकलकर खेतोंमें पहुंच जायंगे। मशीनों की मददसे, जिसके सहारे कमजोर-से-कमजोर आदमी भी काममें हाथ बटा सकेगा, वे कृषिमें भी उसी प्रकार क्रांति कर डालेंगे जिस प्रकार प्रचलित संस्थाओं और विचारोंमें करेंगे।

उस समय सैकड़ों एकड़ भूमिपर शीशेके छप्पर लग जायंगे और स्त्रियां और पुरुष छोटे छोटे पौधोंका इस तरह लालन-पालन करेंगे मानो वे सुकुमार शिशु हों। सैकड़ों एकड़ जमीन आपसे चलनेवाली कलोंसे जोती जायगी और खाद तथा चट्टानोंको पीसकर बनायी गयी नकली मिट्टीसे खेतोंकी उर्वरता बढ़ायी जायगी। खेतीके काम और प्रयोगोंमें अंशतः उनका पथ-प्रदर्शन वे लोग करेंगे जो इस कलाके जानकार होंगे। पर चिर-सुषुप्तिसे जागे हुए लोगोंका महान और व्यावहारिक उत्साह ही, जो सबके सुखकी भावनाके उज्ज्वल प्रकाशसे प्रदीप्त होगा, मुख्यतः उनका पथ-प्रदर्शन करेगा। हजारों मजदूर, जिन्हें समय-समयपर खेतोंपर जाकर काम करना होगा, हंसते-खेलते इस लंबे-चौड़े रकबेको लहलहाती फसलोंकी चादर उढ़ा देंगे।

दो-तीन महीनेमें ही, समयसे कुछ पहले, नयी फसल तैयार हो जायगी, जिससे लोगोंकी प्रधान आवश्यकताओंकी पूर्ति और उनके भोजनका प्रबंध हो जायगा जो शताब्दियोंतक आशा लगाये रहनेके बाद अंतमें भर-पेट और यथा-रुचि भोजन पा सकेंगे।

जनताकी बुद्धि ही क्रांति करती और अपनी आवश्यकताको समझती है। वह इस बीच खेतीकी नयी-नयी विधियोंके प्रयोग करेगी। वे विधियां बीज-रूपमें आज भी विद्यमान हैं और अनुभवका बल मिलते ही सर्वत्र फैल जायंगी। आजकल प्रकाशकी गरमीसे याकुटस्क जैसे ठंडे प्रदेशमें भी ४५ दिनमें जौ पक जाते हैं। पर क्रांतियुगमें तो प्रकाशकी शक्तिके और भी प्रयोग होंगे। पौधोंको जल्दी बढ़ानेमें केन्द्रित या कृत्रिम प्रकाशसे गरमीका काम लिया जायगा। भविष्यमें कोई आविष्कारक ऐसा यंत्र बना देगा जिससे सूर्यकी किरणोंको हम चाहे जहां एकत्र कर सकें और उनसे काम ले सकें। तब कोयलेके रूपमें जमीनके अंदर

इकट्ठी होनेवाली सूर्यकी गरमीकी भी हमें आवश्यकता न रहेगी। पौधोंको खूराक मिलने और मिट्टीके तत्वोंको अलग-अलग करने और हजम करनेके लिए जिन जीवाणुओंकी आवश्यकता हुआ करती है उनको पानीके साथ जमीनमें पहुंचानेकी बात हालमें ही सोची गयी है। उस समय इसके भी प्रयोग होंगे।

कितने ही नये-नये प्रयोग किये जायंगे। पर हम कल्पनामें प्रवेश नहीं करना चाहते, अनुभव-सिद्ध बातोंतक ही रहना चाहते हैं। खेती के जो तरीके आजकल काममें आ रहे हैं और जो उद्योग-धंधों से मुकाबला करनेमें विजयी हुए हैं उन्हें बड़े पैमानेपर काममें लाकर हम रुचिकर श्रमके द्वारा अपने आराम और शौककी सारी आवश्यकता पूरी कर सकते हैं। विज्ञानकी नयी-नयी खोजोंसे जिन नये तरीकोंकी झलक हमें मिली है उनकी व्यावहारिकता जल्दी ही सिद्ध हो जायगी। हमारे लिए तो मनुष्यकी आवश्यकताओं और उनकी पूर्तिके साधनों के अध्ययनका नया रास्ता खोल देनाभर काफी होगा।

क्रांतिमें एक ही बातकी कमी रह सकती है, और वह है क्रांति करनेवालोंमें नये रास्तेपर पहला कदम उठानेके साहसकी कमी।

जवानीकी उम्रमें ही हमारे विचार संकुचित हो जाते हैं और प्रौढ़ अवस्था में पहुंचनेपर मन पिछले अभ्यासों-संस्कारोंका गुलाम हो जाता है, इस कारण हममें स्वतंत्र विचारका साहस नहीं रह जाता। जब कोई नया विचार हमारे सामने आता है तो उसपर अपनी राय देनेका साहस करनेके पहले हम सौ साल-पहलेकी धूल चढ़ी हुई किताबोंके पन्ने उलटकर यह देख लेना जरूरी समझते हैं कि पुराने विद्वानोंका इस विषयमें क्या मत था।

क्रांतिमें यदि सोचने और नये रास्तेपर पहला कदम उठानेके साहस की कमी न होगी तो भोजनकी कमी उसे नहीं पड़ सकती।

फ्रांसकी क्रांतिके गौरवमय दिनोंमें सबसे सुंदर और सबसे महान दिन वही था जिस दिन पेरिसमें आये हुए सारे फ्रांसके प्रतिनिधि 'शां दे मार्स'की भूमिपर फावड़ा लेकर जुट गये थे और संघोत्सव के लिए उसे हमवार करने लगे थे।

उस दिन फ्रांसमें एकता थी, उसमें नया उत्साह भर रहा था और लोगोंको उस भविष्यकी झलक मिल रही थी जब सब मिलकर खेतपर काम करेंगे।

और मिलकर जमीनपर काम करनेसे ही स्वतंत्रता-प्राप्त समाज अपनी एकताको पा सकेंगे और उस घृणा तथा अत्याचारकी चिता जला सकेंगे जिसने अबतक उन्हें अनेक वर्गों-समुदायोंमें बांट रखा था।

यह एकताकी भावना महान शक्ति है जो मनुष्यकी कार्यशक्ति और उत्पादन-शक्तिको सौगुना कर देती है। और इस भावनासे भरकर ही नया समाज जवानीके जोशके साथ भविष्यपर विजय-प्राप्तिके लिए प्रयाण करेगा।

उस समय अज्ञात खरीदारोंके लिए माल बनाना बंद हो जायगा और समाज अपनी ही आवश्यकताओं तथा इच्छाओंकी पूर्तिकी ओर ध्यान देगा। वह प्रत्येक व्यक्तिके जीवित और सुखसे रहनेके लिए आवश्यक सामग्री मिलनेकी पक्की व्यवस्था करेगा, साथ ही उस नैतिक संतोष और जीवनके उस आनंदकी प्राप्तिकी भी जो स्वतंत्रतापूर्वका चुने हुए कामको स्वतंत्रताके साथ कर सकने और दूसरोंको हानि या कष्ट पहुंचाये बिना जीवन यापन करनेसे मिला करता है।

उस समय एकताके अनुभवसे उत्पन्न नये साहससे प्रेरित हो सब मिलकर ज्ञान और कला-सृष्टिके उच्च आनंदोंकी प्राप्तिके लिए आगे बढ़ेंगे।

जिस समाजमें यह भावना, यह जोश होगा वह न भीतरी मत-भेदों से डरेगा, न बाहरी शत्रुओंसे।

भूत कालकी कृत्रिम एकताओंके मुकाबलेमें यह समाज एक नयी मैत्री प्रस्तुत करेगा। इसके हर आदमीमें नयी बात करनेकी सूझ और हौसला होगा, हर आदमीमें वह साहस होगा जो जनताकी भावनाके जाग्रत होनेसे ही उत्पन्न हुआ करता है।

इस अदम्य शक्तिके सामने "षड्यंत्रकारी बादशाहों"की शक्ति पंगु हो जायगी। उनके लिए इसके सिवा और कोई रास्ता न रहेगा कि उस शक्तिके सामने माथा झुकायें और खुद भी मानव समाजके उस रथमें जुत जायं जो साम्यवादी क्रांतिके द्वारा उन्मुक्त दिशाओंकी ओर तेजीसे बढ़ रहा होगा।

प्रिंस क्रोपाटकिन : चरित्र-चित्रण*

[ए० जी० गार्डनर]

"ओह ! उन दिनों कैसे-कैसे असाधारण-शक्ति-संपन्न प्रतिभाशाली महापुरुष होते थे और अब उन दिग्गजोंके मुकाबिले..." मेरे मित्रने यह अधूरा वाक्य कहते हुए अपने हाथको इस तरह उपेक्षासूचक ढंगसे घुमाया जिसका अभिप्राय यह था कि वर्तमान कालमें महापुरुषोंका अभाव ही है, और उस अभावको प्रकट करनेके लिए उनके पास शब्द भी नहीं ! अपने मित्रके वाक्यको पूरा करते हुए मैंने कहा—"जनाब, उन दिग्गजोंके मुकाबिलेके दिग्गज आज भी पाये जाते हैं।" मेरे मित्रने मानो दृढ़तापूर्वक चुनौती देते हुए मुझसे पूछा—"मिसालके लिए ?" मैंने निवेदन किया—"जरा दबी जबानसे बोलिए, क्योंकि मेरी मिसाल आपके नजदीक ही है।" मित्रने उस ओर देखा जिधर मैंने इशारा किया था कि उनकी निगाह एक प्रौढ़ पुरुषपर पड़ी जो उस वाचनालयमें बात-चीत करनेवाले समूहके बीचमें विद्यमान था। ठीक फौजी ढंगपर कंधोंको फैलाये हुए वह नरपुंगव एक सिपाहीकी भांति चुस्त खड़ा था; पर उसके प्रशस्त ललाट, भरी हुई भौंहें, फैली हुई दाढ़ी तथा विशाल नेत्र यह बता रहे थे कि वह कोई दार्शनिक है। उसकी आंखोंसे बुद्धिमत्ता तथा परोपकारिता टपक रही थी, और वह बड़ी तेजीके साथ बातचीत कर रहा था। ऐसा प्रतीत होता था कि जितनी शीघ्रताके साथ विचार उसके दिमागमें आ रहे हैं उसका मुकाबिला भाषाके मंद चालसे चलनेवाले शब्द नहीं कर सकते। बातचीत करते हुए वह बराबर अपनी चायके प्यालेमें चम्मच चला रहा था, पर प्याला अभी मुंहतक पहुंच नहीं पाया था। मेरे मित्रने पूछा—"आपका

---

* यह चरित्र-चित्रण सन् १९१२ में लिखा गया था, जब प्रिंस क्रोपाटकिन जीवित थे।

मतलब प्रिंस क्रोपाटकिनसे है ?" मैंने कहा—"जी हां।" उन्होंने फिर पूछा—"क्या सचमुच आप ऐसा समझते हैं ?"

हां, सचमुच प्रिंस क्रोपाटकिन एक असाधारण प्रतिभाशाली दिग्गज महापुरुष हैं। यदि जीवन तथा व्यक्तित्वके तमाम विभिन्न पहलुओंपर विचार किया जाय तो निस्संदेह प्रिंस क्रोपाटकिन पुराने जमानेकी वीरता-पूर्ण किस्से-कहानियोंके नायक ही प्रतीत होंगे। यदि वह इतिहासके प्रारंभिक कालमें उत्पन्न हुए होते तो उनकी कीर्ति एजेक्सकी तरह, जिसने अन्यायका जबरदस्त विरोध किया था, गाथाओंमें गायी जाती; अथवा वे प्रोमेथियसके समान होते जो धरतीपर स्वतंत्रताकी अग्नि लानेके अपराध में काकेशस पर्वतसे जंजीरों द्वारा बांध दिया गया था। कवि लोग उनके वीर-कार्योंसे काव्योंकी रचना करते और उनके संकट-भरे जीवन तथा उनके भाग निकलनेकी कथाएं बालक-बालिकाओंको प्रोत्साहन देने और उनकी कल्पना-शक्तिको जाग्रत करनेके काममें आतीं। दरअसल इस जवांमर्दकी जिंदगीके नाटकमें इतना विस्तार और इतनी सादगी है कि उसकी मिसाल आजके जमानेमें मिल नहीं सकती। आज इस समय, जब वह महापुरुष अपनी चायको चलाता और कुछ विश्राम लेता हुआ सा हमारे सामने एक प्रोफेसरके रूपमें विद्यमान है, हमें ऐसा प्रतीत होता है मानो हम रूस देशके महान विस्तार और उसकी दर्द-भरी कहानीको साक्षात् देख रहे हों, अथवा मनुष्यकी आत्मा उठकर कितनी ऊंचाईतक पहुँच सकती है इसका दृष्टांत हमें प्रत्यक्ष दीख पड़ता हो।

प्रिंस क्रोपाटकिनको हम बचपनमें एक अति प्राचीन तथा उच्च राजवंशमें उत्पन्न अपने पिताके साथ देखते हैं। यह समय है अत्याचार रूपी घनघोर अंधकारका। रात अंधेरी है—अन्याय, अंधकारका साम्राज्य है—और रूसी जाग्रतिके सूर्यके निकलनेमें अभी बहुत देर है—ज़ार निकोलस प्रथमका भयंकर पंजा जनताके सिरपर है। गुलामीकी प्रथा का दौर-दौरा है और गरीब जनता उसके जुएके नीचे कराह रही है। बालक क्रोपाटकिनको जीवनके दो भिन्न-भिन्न प्रकारके—परस्पर-विरोधी—अनुभव होते हैं।

जब क्रोपाटकिन आठ वर्षके ही थे, वह सम्राट ज़ारके पार्षद बालक बना दिये गये। उस समय वह महाशक्तिशाली ज़ारके पीछे-पीछे चलते थे, और एक बार तो भावी सम्राज्ञीकी गोदमें सो गये थे! जहां एक ओर उन्हें यह अनुभव हुआ वहां दूसरी ओर उनकी कोमल आत्मा दासत्व-प्रथाके भयंकर अत्याचारोंको अपनी आखों देखकर झुलस गयी। एक दिन प्रिंस क्रोपाटकिनके पिता घरके दास-दासियों पर खफा हो गये, और उनका गुस्सा उतरा मकार नामके नौकरपर जो रसोइयेका सहायक था। उन्होंने मेजपर बैठकर एक हुक्मनामा लिखा—"मकार थानेपर ले जाया जाय और उसे एक सौ कोड़े लगवाये जायं।" यह सुनकर बालक क्रोपाटकिन एकदम सहम गये और उनकी आंखोंमें आंसू आ गये, गला भर आया। वह मकारका इंतजार करते रहे। जब दिन चढ़नेपर उन्होंने मकारको, जिसका चेहरा कोड़े खानेके बाद पीला पड़ गया था और बिलकुल उतर रहा था, घरकी एक अंधकार-भरी गलीमें पड़ा देखा तो उन्होंने उसका हाथ पकड़कर चूमना चाहा। मकारने हाथ छुड़ाते हुए कहा—"रहने भी दो। मुझे छोड़ दो, तुम भी बड़े होनेपर क्या बिलकुल अपने पिताके ही जैसे न बनोगे?" बालक क्रोपाटकिनने भरे गलेसे जवाब दिया—"नहीं, नहीं; हर्गिज़ नहीं!"

नाटकका पर्दा बदलता है। जार निकोलसकी अंधेरी रात बीत गयी है। लेकिन उसके बाद दास-प्रथा बंद होनेके कारण थोड़ी देरके लिए जो उषःकाल आया था उसे प्रतिक्रियाके अंधकारने ढक लिया और रूस फिर पुलिसके अत्याचारोंसे कुचला जाने लगा। सैकड़ों निरपराध आदमी फांसीपर लटका दिये गये और हजारों जेलमें ठेल दिये गये। सारे रूस पर भय और आतंकका साम्राज्य था। लेकिन भीतर ही भीतर रूस जाग्रत हो रहा था। ज़ार एलेकज़ेंडर द्वितीयने अपने शासन-सूत्र पुलिस के दो जालिम अफसरों—ट्रेपोफ और शुवालोफ—को सौंप दिये थे। वे चाहे जिसे फांसीपर लटका देते थे, चाहे जिसे निर्वासित कर देते थे; फिर भी वे क्रांतिकारी गुप्त समितियोंकी कार्रवाइयोंको रोकनेमें सफल नहीं हुए। ये समितियां जनसाधारणमें दनादन स्वाधीनता तथा क्रांति

का साहित्य बांट रही थीं। इस घोर अशांतिमय वायु-मंडलमें भेड़की खाल ओढ़े एक अद्भुत किसान, अदृश्य भूतकी तरह, इधरसे उधर घूम रहा है। उसका नाम बोरोडिन है। पुलिसके अफसर हाथ मल-मल कर कहते हैं—"बस अगर हम लोग बोरोडिनको किसी तरह पकड़ पायें तो क्रांतिकी इस सर्पिणीका सिर ही कुचल दिया जाय; हां, बोरोडिनको और उसके साथी-संगियोंको।" लेकिन बोरोडिनको पकड़ना आसान बात नहीं। जिन जुलाहों और मजदूरोंके बीच वह काम करता है वे उसके साथ विश्वासघात करनेको तैयार नहीं। सैकड़ों पकड़े जाते हैं; कुछको जेलकी सजा मिलती है, कुछको फांसीकी! पर वे बोरोडिनका असली नाम और पता बतलानेके लिए तैयार नहीं।

सन् १८७४ ई०की वसंतऋतु—संध्याका समय है। सेंट-पीटर्सबर्गके सभी वैज्ञानिक और विज्ञान-प्रेमी जियाग्रफिकल सोसाइटीके भवनमें महान वैज्ञानिक प्रिंस क्रोपाटकिनका व्याख्यान सुननेके लिए एकत्र हुए हैं। उसका विषय है फिनलैंडकी यात्राके फल। रूसके जल-प्रलय (Diluge) कालके विषयमें वैज्ञानिकोंने जो सिद्धांत अबतक स्थिर कर रखे थे वे सब एकके बाद दूसरे खंडित होते जाते हैं और अकाट्य तर्कोंके आधारपर एक नवीन सिद्धांतकी स्थापना होती है। सारे वैज्ञानिक जगतमें क्रोपाटकिनकी धाक जम जाती है। इस महापुरुषके मस्तिष्कके विस्तारके विषयमें क्या कहा जाय। उसका शासन भिन्न-भिन्न ज्ञानों तथा विज्ञानोंके समूचे साम्राज्यपर है। वह महान गणितज्ञ है और भूगर्भ-विद्याका विशेषज्ञ; वह कलाकार है और ग्रंथकार (बीस वर्षकी उम्रमें उसने उपन्यास लिखे थे); वह संगीतज्ञ है और दार्शनिक। बीस भाषाओंका वह ज्ञाता है, और सात भाषाओंमें आसानीके साथ बात-चीत कर सकता है। तीस वर्षकी उम्रमें प्रिंस क्रोपाटकिनकी गणना रूसके चोटीके विद्वानों—उस महान देशके कीर्ति-स्तम्भों—में होने लगती है। क्रोपाटकिनको लड़कपन में फौजी काम सीखना पड़ा था, और पांच बरस बाद जब उनके सामने स्थानके चुनावका सवाल आया तो उन्होंने साइबेरियाको चुना। वहां सुधारकी जो योजना उन्होंने पेश की और

आमूरकी यात्रा करके एशियाके भूगोलकी भद्दी भूलोंका जिस तरह संशोधन किया उससे उनकी कीर्ति पहलेसे ही फैल चुकी थी। पर आज तो भौगोलिक जगतमें विजयका सेहरा उन्हींके सिर बांध दिया गया। वह जियाग्रफिकल सोसाइटीके प्राकृतिक भूगोल विभागके सभापति मनोनीत किये गये। भाषणके बाद ज्यों ही गाड़ीमें बैठकर वह बाहर निकले त्यों ही एक दूसरी गाड़ी उनके पाससे गुजरी। एक जुलाहेने उस गाड़ीमेंसे उझककर कहा—"मिस्टर बोरोडिन, सलाम!" दोनों गाड़ियां रोक दी गयीं। जुलाहेके पीछेसे खुफिया पुलिसका एक आदमी उस गाड़ीमेंसे कूद पड़ा और बोला—"मिस्टर बोरोडिन उर्फ प्रिंस क्रोपाटकिन, मैं तुम्हें गिरफ्तार करता हूं।" उस जासूसके इशारेपर पुलिसके आदमी कूद पड़े। उनका विरोध करना व्यर्थ होता; क्रोपाटकिन पकड़ लिये गये। विश्वासघातक जुलाहा दूसरी गाड़ीमें उनके पीछे-पीछे चला।

दो वर्ष बाद

क्रोपाटकिनको पीटर और पालके किलेमें अकेली कोठरीमें रहते हुए दो साल बीत चुके हैं—उस किलेमें जिसका इतिहास रूसके महान-से-महान और उच्च-से-उच्च देशभक्तों तथा कवियोंकी शहादतका इतिहास है, जहां वे अंधेरी कोठरियोंमें पागलपनकी ओर अग्रसर हो रहे थे, जहां वे घुल-घुलकर मर रहे थे और जहां वे जिंदा ही कब्रमें गाड़ दिये गये थे। दो बरस बीत गये और क्रोपाटकिनका मुकद्दमा अब भी पेश न हुआ! बाहरी दुनियासे उनका संबंध बिलकुल नहीं था। मौत-जैसा सन्नाटा था। आखिर तंग आकर कई महीने बाद उन्होंने आसपासकी कोठरियोंमें रहनेवाले कैदियोंसे विचार-परिवर्तनका एक उपाय निकाला। दीवारपर खट-खटकी आवाजकी वर्णमाला बनायी और इस प्रकार संकेतों द्वारा उनसे बात-चीत होने लगी। जेलमें उन्होंने अपनी तन्दुरुस्ती कायम रखनेके लिए कोई-न-कोई व्यायाम करना जरूरी समझा। पर वहां व्यायाम के लिए जगह कहां थी? इसलिए उन्होंने अपनी कोठरीके एक कोनेसे दूसरे कोनेतक कई हजार चक्कर लगाकर २ मील टहलना शुरू किया और

स्टूलकी मददसे जिमनास्टिक करते रहे। उनके भाई अलेकजेंडरने बहुत कुछ आंदोलन करके उन्हें लिखनेका सामान दिलवा दिया था, जिससे वह हिम-युगके विषयमें अपना महान ग्रंथ लिख सके। इसी ग्रंथकी बदौलत वह अपना दिमाग ठिकाने रख सके, नहीं तो कभीके पागल हो गये होते। लेकिन क्रोपाटकिन अपने स्वरकी ध्वनिका अंदाज ही भूल गये, क्योंकि जेलकी कोठरीमें उन्हें गानेकी मनाही कर दी गयी थी। दो बरस बाद वह बीमार पड़ गये और इलाजके लिए फौजी जेलखानेके अस्पतालमें भेज दिये गये। यहां उन्हें तीसरे पहर अस्पतालके सहनमें टहलनेकी इजाजत मिल गयी, यद्यपि हथियारबंद सिपाही बराबर उनके साथ रहते थे; और यहींसे वह भाग निकले। उनका यह भागना अत्यंत आश्चर्यजनक था। ड्यूमाके उपन्यासोंको छोड़कर ऐसा सनसनीखेज किस्सा शायद ही कहीं पढ़नेको मिले। उनके जीवन-चरित्रका वह अध्याय जिसमें इस पलायनका वृत्तांत है हृदयको स्पंदित करनेवाली एक खास चीज है।

क्रोपाटकिनने अपने बाहरके दोस्तोंसे पत्र-व्यवहार करके भागनेकी सारी तरकीब तै कर ली थी। जब लकड़ी लानेवालोंके लिए फाटक खुला उस समय क्रोपाटकिन टोप हाथमें लिये टहल रहे थे। कोई अजनबी आदमी फाटकके सिपाहीको बातोंमें उलझाये हुए था। पड़ोसके घरमें बेला बज रहा था। भागनेकी घड़ी ज्यों-ज्यों नजदीक आती जाती थी त्यों-त्यों बेलाकी ध्वनि भी तेज होती जा रही थी। क्रोपाटकिन भागे, फाटक पार किया, झटसे गाड़ीमें सवार हुए, घोड़े सरपट दौड़े, सेंट-पीटर्सबर्गके सबसे शानदार होटलमें खाना खाया (जब पुलिस उस महानगरीके छिपनेके हरएक स्थानका कोना-कोना ढूंढ़ रही थी), किसीका पासपोर्ट लिया, फिनलैंड होकर स्वीडनकी यात्रा की, और वहां यूनियन जैक (ब्रिटिश झंडा) उड़ानेवाले जहाजपर सवार हो इंगलैंड जा पहुंचे। उनके जीवनकी यह घटना किसी उपन्याससे बढ़कर मनोरंजक है। प्रिंस क्रोपाटकिनका आत्म-चरित हमारे युगका सर्वश्रेष्ठ आत्म-चरित है।

इस महापुरुषका जीवन दो प्रबल भावनाओंसे प्रभावित रहा है।

एक भावना तो है दिमागी दुनियामें विजय प्राप्त करना और दूसरी मानव-समाजकी स्वाधीनताके लिए उद्योग। अंततोगत्वा इन दोनों भावनाओंका स्रोत एक ही है, यानी मानव-समाजसे प्रेम; और इस प्रेमके कारण ही क्रोपाटकिनके व्यक्तित्वमें वैसा ही आकर्षक माधुर्य है जैसा सर्दीसे ठिठुरनेवाले आदमीके लिए सूर्यकी किरणोंमें। क्रोपाटकिनके इस हृदय-ग्राही गुणको देखकर विलियम मारिसकी याद आ जाती है, क्योंकि उनका स्वभाव भी वैसा ही प्रेमपूर्ण और सहृदयतायुक्त था, और वह साम्यवादीकी अपेक्षा अराजकवादी अधिक थे। मैंने इन दो बातोंका उल्लेख इसलिए किया है कि इन दोनोंका संबंध है। साम्यवादी मनुष्यको केवल भावनामें ही देखता है और समाजको कानून द्वारा संचालित एक संस्था मात्र मानता है। साम्यवादीकी इस चिंता-धाराका नतीजा यह होता है कि मनुष्य तथा समाज उसके मस्तिष्कतक ही पहुंच पाते हैं, उसकी मनुष्यताको स्पर्श नहीं कर पाते; पर अराजकवादी, जिसे हद दर्जेका व्यक्तिवादी कहना चाहिए, मनुष्यको साक्षात और साकार रूपमें देखता है और इस कारण उसके प्रति उसके हृदयमें प्रेम उत्पन्न होता है, क्योंकि वह मनुष्यको देख सकता है, उसकी बात सुन सकता है और उसे छू सकता है। हमारे कहनेका अभिप्राय यह है कि अराजकवादी तो व्यक्तिके सुख तथा हित-साधनोंके लिए चिंतित है और साम्यवादीको एक शासन-प्रणालीकी फिक्र होती है।

क्रोपाटकिनके राजनैतिक सिद्धांतोंका स्रोत है उनकी वैज्ञानिक तथा प्रेमपूर्ण विचार-धारामें। उन्होंने अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ Mutual Aid* (पारस्परिक सहयोग) में डार्विनके जीवन-संग्राम-संबंधी उस सिद्धांत का खंडन किया है जिसमें प्रकृतिको खूंख्वार साबित किया गया है, और जिसमें यह बात सिद्ध करनेकी चेष्टा की गयी है कि प्रत्येक प्रकारका विकास जीवन-संग्रामका परिणाम है, एक प्राणीके दूसरेसे प्रतिद्वंद्विता करने का नतीजा है, और "प्रत्येकके लिए सम्पूर्ण समूहसे युद्ध करना अनिवार्य

* इस पुस्तकका अनुवाद 'संघर्ष या सहयोग' नामसे 'मंडल'से प्रकाशित हुआ है।

है।" इस सिद्धांतके मुकाबलेमें क्रोपाटकिनने अपना यह सिद्धांत उपस्थित किया है कि विकास पारस्परिक सहायता, सहयोग और सम्मिलित सामाजिक उद्योगका परिणाम है। क्रोपाटकिन लिखते हैं—"जीवोंमें सबसे अधिक समर्थ वही होते हैं जिनमे सहयोगकी प्रवृत्ति सबसे अधिक पायी जाती है, और इस प्रकार सहयोग-प्रवृत्ति विकासका मुख्य कारण है, क्योंकि प्रत्यक्ष रूपसे वह उस जीव-श्रेणीके हितकी साधक है, क्योंकि वह उसकी शक्तिके क्षयको रोकती है, और अप्रत्यक्ष रूपसे वह उसकी बुद्धिकी वृद्धिके लिए सुविधा उत्पन्न करती है।"

इस सामाजिक भावनासे, जो सब चीजोंको विकसित करती हैं, क्रोपाटकिनने अपना व्यक्तिगत स्वाधीनताका सिद्धांत निकाला है। उनका कहना है कि व्यक्तिगत स्वाधीनताके अबाध प्रयोगसे संपूर्ण मानव-समूह की सेवाका भाव उत्पन्न होता है। उनके शब्द सुन लीजिए—

"अपने दुःखको प्रकट करनेके लिए जितने आंसुओंकी हमें जरूरत है उनसे कहीं अधिक आंसू हमारे पास हैं, और जितना अधिक आनंद न्यायपूर्वक हम अपने जीवनके कारण मना सकते हैं उससे कहीं अधिक आनंद मनानेकी शक्ति हममें विद्यमान है। एकाकी आदमी क्यों दुःखित और अशांत रहता है? उसके दुःख तथा अशांतिका कारण यही है कि वह दूसरोंको अपने विचारों और भावनाओंमें शामिल नहीं कर सकता। जब हमें कोई बड़ी भारी खुशी होती है उस समय हम दूसरोंको यह जतला देना चाहते हैं कि हमारा भी अस्तित्व है, हम अनुभव करते हैं, प्रेम करते हैं।...उल्लासमय जीवन ही विकासकी ओर दौड़ता है।...यदि किसीमें काम करनेकी शक्ति है तो काम करना उसका कर्त्तव्य हो जाता है। 'नैतिक कर्त्तव्य' या धर्मको यदि उसके तमाम रहस्यवादी झाड़-झंखाड़से अलग कर दिया जाय तो वह इस सूत्रमें आ जाता है—"The condition of the maintenance of life is its expansion"—"अर्थात् जीवनका विस्तार जीवनको कायम रखनेकी अनिवार्य शर्त है।" क्या कोई पौधा अपनेको फूलनेसे रोक सकता है? कभी-कभी किसी पौधेके फूलनेका अर्थ होता है उसकी मृत्यु; पर कोई मुजायका नहीं,

उसका जीवन-रस तो ऊपरकी ओर चढ़ता है। यही हालत उस मनुष्यकी होती है जो ओज तथा शक्तिसे परिपूर्ण होता है। वह अपने जीवनका विस्तार करता है। वह विना हिसाब-किताबके दान करता है, क्योंकि विना दानके उसका जीते रहना संभव नहीं। यदि इस दान-कार्यमें उसे अपना जीवन भी देना पड़े—जैसे कि फूलके खिलनेसे उसका अंत हो जाता है—तो भी कोई चिंता नहीं, क्योंकि जीवन-रस तो—यदि वह जीवन-रस है—ऊपरको चढ़ेगा ही।"

इस तर्कके द्वारा प्रिंस क्रोपाटकिन अपने नीतिशास्त्रपर पहुंचते हैं—उस नीतिशास्त्रपर जो किसीपर शासन नहीं चलाता, जो व्यक्तियोंका निर्माण किसी खास 'मॉडल' (ढांचे) पर करनेमें विश्वास नहीं रखता, और जो धर्म, कानून या सरकारके नामपर व्यक्तियोंका अंग-भंग नहीं करना चाहता। क्रोपाटकिनका नीति-शास्त्र व्यक्तिको पूर्ण स्वाधीनता प्रदान करता है। इसी नैतिकताके आधारपर उन्होंने ऐसे समाजकी कल्पना की है जिसमें किसी प्रकारका बाहरी नियंत्रण न होगा, जिसमें न कोई पूंजीवाद होगा और न कोई सरकार, और जिसमें प्रत्येक मनुष्यको अपनी रुचिका कार्य चुनने और करनेका अधिकार होगा। समाजकी भिन्न-भिन्न आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिए स्वाधीन समूह होंगे और इन समूहोंके संघ होंगे। यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं कि बर्गसनकी फिलासफी और सिंडिकैलिज्मके प्रयोगोंका स्रोत प्रिंस क्रोपाटकिनकी शिक्षाओंमें ही पाया जाता है।

क्रोपाटकिन अपने प्रतिपादित नीति-शास्त्रका अक्षरशः पालन करते हैं। वह बड़ी सादगी और स्वाधीनताके साथ अपना जीवन व्यतीत करते हैं। उनके चेहरेपर प्रेमपूर्ण मुस्कराहट सदा खेलती रहती है। न उन्हें रुपये-पैसेकी चाह है, न किसी पद-प्रतिष्ठा की। उन्होंने रूसमें अपनी बड़ी जागीरोंको लात मारकर लुक-छिपकर इधर-उधर भटकनेवाले क्रांतिकारीका फाकेमस्तीका जीवन स्वीकार किया और अपने वैज्ञानिक लेखोंसे जीविका चलाना ठीक समझा। उन्होंने अपने 'राजकुमार'के पदको तिलांजलि देकर गरीब मजदूरोंकी सेवाका व्रत ग्रहण किया, और

आज वह अंतर्राष्ट्रीय मजदूर-सभा तथा उसके आंदोलनोंके केंद्र-स्थान—प्रेरक शक्ति बने हुए हैं। रूस छोड़े उन्हें सैंतीस वर्ष हो चुके, और वह अभीतक वहां लौटकर नहीं गये। पर रूस उन्हें नहीं भूला। रूसी-सरकारने उन्हें स्विट्जरलैंडसे, जहां वह अपने पत्र 'La Revolte' (बगावत) का संपादन करते थे, निकलवा दिया। उसने उन्हें चालाकी से पकड़वा मंगानेका षड्यंत्र भी किया, पर सफल न हुई। सन् १८८७ में जब क्रोपाटकिनने अपना ग्रंथ 'In Russian and French Prisons' (रूसी और फ्रांसीसी जेलखानोंमें) छपाया तो उसकी सारी प्रतियां उड़ा दी गयीं और प्रकाशक महाशयका कारबार ही रहस्यपूर्ण ढंगसे एक-बारगी बंद हो गया!

हां, एक बार रूस-सरकार उनको दंड दिलानेमें सफल हुई। सन् १८८२ में लीऑमें जो बलवा हुआ था उसमें फ्रांसीसी सरकार द्वारा वह पकड़े गये। ऐसा विश्वास किया जाता है कि ये बलवे खुफिया पुलिसवालोंने कराये थे। क्रोपाटकिन उन दिनों लंदनमें थे। यह बात ध्यान देनेयोग्य है कि क्रोपाटकिनने न तो तब और न पहले कभी हिंसात्मक उपायोंका समर्थन किया था; पर उनपर यह इल्जाम लगाया गया कि वे बलवे उन्हींकी प्रेरणासे हुए। वह फ्रांस वापस गये और उन्हें ५ वर्षका कारावास, १० वर्ष पुलिसकी निगरानी तथा अन्य कई दंड दिये गये। रूस सरकार फूली न समायी और जोशमें आकर मुकद्मा चलानेवालोंको पदक दे डाले! उसकी यह भूल विघातक सिद्ध हुई। परिणाम यह हुआ कि संपूर्ण यूरोपमें क्रोपाटकिनके छुटकारेके लिए आंदोलन उठ खड़ा हुआ। फ्रांसकी सरकार अपने हठपर कायम रही; पर उसने क्रोपाटकिनके लिए जेलमें एक सुविधा कर दी,—एक खेत उनको अपने कृषि-संबंधी प्रयोगोंके लिए दे दिया। वहां क्रोपाटकिनने जो प्रयोग किये उन्होंने कृषि-जगतमें क्रांति-सी कर दी। उन प्रयोगोंके आधारपर ही आगे चलकर उन्होंने 'Field, Factories and Workshop' नामकी किताब लिखी। क्रोपाटकिनके छुटकारेके लिए आंदोलन निरंतर जारी रहा। अंतमें फ्रेंच सरकारके एक उच्च पदाधि-

कारीको यह बात खुले तौरपर स्वीकार करनी पड़ी कि "क्रोपाटकिनके छुटकारेमें कुछ राजनैतिक कारण बाधक हैं।" असली भेद आखिर प्रकट हो ही गया ! हरएक आदमीकी जबानपर एक ही बात थी—"क्या रूस-सरकारको खुश करनेके लिए ही क्रोपाटकिन जेलमें रखे जायंगे ?" जब फ्रेंच सरकारको यह चुनौती दी गयी तो उसके पावं उखड़ गये, और तीन वर्ष जेलमें रहनेके बाद क्रोपाटकिन छोड़ दिये गये।

रूस-सरकारने इस दुःखद समाचारको सुनकर क्या किया, सो भी सुन लीजिए। इस घटनाके बाद सेंट-पीटर्सबर्ग-स्थित फ्रांसीसी राजदूतके साथ ऐसा दुर्व्यवहार किया गया कि वह इस्तीफा देकर पेरिस लौट आये।

× × ×

फिर मैंने अपने मित्रसे पूछा—"कहिये जनाब, अब आपकी राय क्रोपाटकिनके बारेमें क्या है ?" मैंने उनका परिचय क्रोपाटकिनसे करा दिया था, और जब हम उनसे मिलकर लौटे तब भी उन्हें चायके प्याले में चम्मच चलाते हुए ही छोड़ आये !

मेरे मित्रने उत्तर दिया—"यह तो मैं नहीं कह सकता कि क्रोपाटकिन दिग्गज महापुरुष है या नहीं, पर इतना जरूर कहूंगा कि वह महात्मा हैं।"

पुनश्च

[श्रीबनारसीदास चतुर्वेदी]

४२ वर्ष विदेशमें रहकर सन् १९१७ में रूसकी राज्य-क्रांतिके बाद क्रोपाटकिन अपनी मातृभूमिको लौटे। जनताने उनका हृदयसे स्वागत किया। जिस ट्रेनसे वह रूसमें यात्रा कर रहे थे उसको प्रत्येक स्टेशनपर लोगोंकी भीड़ घेर लेती थी, और 'क्रोपाटकिन आ गये,' 'क्रोपाटकिन आ गये,' ये शब्द हर आदमीकी जबानपर थे।

रूसमें क्रांति हो जानेके बाद जब लेनिनका शासन प्रारंभ हुआ उन दिनों क्रोपाटकिन मास्कोके निकट डिमिट्रोफ नामक ग्राममें रहते थे। गोकि उनका स्वास्थ्य खराब था—वह ७५ वर्षके हो चुके थे—फिर भी उन्हें उतना ही भोजन सोवियट सरकारकी शाखाकी ओरसे

दिया जाता था जितना बूढ़े आदमियोंके लिए नियत था। उन्होंने एक गाय रख छोड़ी थी, और अपनी स्त्री तथा पुत्रीके साथ वह इस कठिन परिस्थितिमें रहा करते थे। यार लोगोंने उनके गाय रखनेपर भी एतराज किया! जरा कल्पना कीजिए, जिसने अपने देशकी स्वाधीनताके लिए ५० वर्षतक कार्य किया उसके लिए बुढ़ापेमें, बीमारीकी हालतमें, एक गाय रखना भी आक्षेपका विषय समझा जाता है!

क्रोपाटकिन तो सरकारी शासन-प्रणालीके खिलाफ थे, इसलिए सरकारसे शिकायत करना उनके सिद्धांतके विरुद्ध था, और शिकायत उन्होंने की भी नहीं। पर उनके कुछ मित्रोंको यह बात बहुत अखरी, और उन्होंने स्थानीय सोविएटके अधिकारियोंसे शिकायत कर ही दी; पर उसका परिणाम कुछ न निकला। आखिरकार यह खबर लेनिनके कानों तक पहुंचायी गयी। लेनिन क्रोपाटकिनके प्रशंसक थे। उन्होंने तुरंत स्थानीय सोविएटको हुक्म लिख भेजा कि क्रोपाटकिनके भोजनकी मात्रा बढ़ा दी जाय और उन्हें गाय रखने दिया जाय। क्रोपाटकिनकी पुत्रीके पास लेनिनके हाथका लिखा हुआ यह पर्चा अब भी मौजूद है।

यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि लेनिन और प्रिंस क्रोपाटकिनके सिद्धांतोंमें जबरदस्त मत-भेद था। एक लेखकने लिखा है—"यद्यपि क्रोपाटकिन बोल्शेविक लोगोंके द्वारा क्रांतिका जो विकास हो रहा था उसमें व्यावहारिक रूपसे कोई भाग नहीं ले सकते थे, तथापि उन्हें इस बातकी चिंता अवश्य थी कि बोल्शेविक लोग दमनकी जिस नीतिका आश्रय ले रहे हैं वह स्वयं क्रांतिके लिए हानिकारक है, और मनुष्यता की दृष्टिसे भी वह अनुचित है। लेनिनने अपने एक मित्रके द्वारा, जो क्रोपाटकिनके भी मित्र थे, उनके पास यह संदेश भेजा कि मैं आपसे मिलनेको उत्सुक हूं और आपसे बात-चीत करनेके लिए आपके ग्राम डिमिट्रोफ भी आ सकता हूं। क्रोपाटकिन राजी हो गये, और दोनोंकी बातचीत हुई। यद्यपि लेनिन सहृदयतापूर्वक मिले और उन्होंने क्रोपाटकिनके विचारोंको सहानुभूतिके साथ सुना भी, पर इस बातचीतका परिणाम कुछ भी न निकला।"

प्रिंस क्रोपाटकिन उच्च कोटिके आदर्शवादी थे। वह अपने सिद्धांत पर समझौता करना जानते ही न थे। सोवियट सरकारने उनसे कहा था कि वह अपनी पुस्तक 'फ्रांसकी राज्यक्रांति'का अधिकार बहुत-सा रुपया लेकर सरकारको दे दें, क्योंकि वह उसे अपने स्कूलोंमें पाठ्य-पुस्तक नियत करना चाहती थी; पर उन्होंने इस प्रस्तावको अस्वीकार कर दिया, क्योंकि वह एक सरकारकी ओरसे आया था। कैंब्रिज यूनिवर्सिटीने उन्हें भूगोल-शास्त्रकी अध्यापकीका काम करनेके लिए निमंत्रण दिया, पर साथ-ही-साथ यह भी कह दिया कि हमारे यहां अध्यापक होनेके बाद आपको अपने अराजकवादी सिद्धांतोंका प्रचार बंद कर देना पड़ेगा। आपने इस नौकरीको धता बता दी। अराजकवादके प्रचारार्थ उन्होंने जो कार्य किया उसके बदलेमें एक पैसा भी किसीसे नहीं लिया। जब वह अत्यंत गरीबीकी हालतमें इंगलैंडमें रहते थे उन दिनों लोगोंने उन्हें दान देना चाहा; किसी-किसीने उन्हे रुपया उधार भी देना चाहा, पर आपने उसे भी नामंजूर कर दिया। घोर आर्थिक संकटके समय भी जो लोग उनके पास आते थे उन्हें वह जो कुछ उनके पास होता था उसमेंसे दे देते थे।

एक बार सुप्रसिद्ध करोड़पती एंड्रू कारनेगीने क्रोपाटकिनको अपने घरपर किसी पार्टीमें निमंत्रण दिया। क्रोपाटकिनने उस निमंत्रण-पत्रके उत्तरमें लिखा—"मैं उस आदमीका आतिथ्य स्वीकार नहीं कर सकता जो किसी भी अंशमें मेरे अराजकवादी बंधु बर्कमैनको जेलमें रखनेके लिए जिम्मेदार है।"

पाठक पूछ सकते हैं, क्रोपाटकिनको अपने अंतिम दिन कैसे व्यतीत करने पड़े? ७५ वर्षकी उम्रमें वह अपनी 'नीति-शास्त्र' (Ethics) नामक अंतिम पुस्तक लिख रहे थे। किताबोंके खरीदनेके लिए उनके पास पैसा नहीं था। जब कभी मित्र लोग थोड़ा-सा पैसा भेज देते तो एक-आध आवश्यक पुस्तक खरीद लेते। पैसेकी कमीके कारण ही वह कोई क्लर्क या टाइपिस्ट नहीं रख सकते थे, इसलिए अपने ग्रंथकी पांडुलिपि बनाने और चीजोंकी नकल करनेका काम उन्हें खुद ही करना पड़ता था। भोजन भी उन्हें पुष्टिकर नहीं मिल पाता था, जिससे उनकी कम-

जोरी बढ़ती जाती थी, और एक धुंधले दियेकी रोशनीमें उन्हें अपने ग्रंथकी रचना करनी पड़ती थी।"

यह बर्ताव किया गया स्वदेशमें, उस महापुरुषके साथ, जिसने लाखों की धन-संपत्तिपर लात मारकर अत्यंत गरीबीकी हालतमें बढ़ईगीरी तथा जिल्दसाजी करके गुजर करना उचित समझा; जारके पार्षद और गवर्नर-जेनरलके सेक्रेटरी होनेके बजाय जिसने किसानों तथा मजदूरोंका सखा होना अधिक गौरवयुक्त माना, संसारके वैज्ञानिकोंमें अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान होनेपर भी जिसने वैज्ञानिक अनुसंधानोंके कार्यको भारतवर्षके एकांत-वासी मोक्षाभिलाषी संन्यासियोंकी स्वार्थ-भावनाके समान समझ कर तिलांजलि दे दी, और अराजकवादके प्रचारके लिए जिसने अपने जीवनको बीसियों बार खतरेमें डाला, जिसने न केवल अपने देश रूस की स्वाधीनताके लिए वरन् इंगलैंड और फ्रांस आदि देशोंके मजदूरोंके संगठनके लिए भी अपनी शक्ति अर्पित कर दी, जो ४२ वर्षतक अपने देशसे निर्वासित रहा, जो दरअसल ऋषि था—द्रष्टा था, और जिसके सिद्धांत कभी मानव-समाजके स्थायी कल्याणके कारण बनेंगे!

इसमें किसीको दोष देना अनुचित होगा, क्योंकि शासनके मोहमें फंस कर मानव अपनी मनुष्यता खोकर मशीन बन ही जाते है। सच है—'प्रभुता पाइ काहि मद नाहीं।'

८ फरवरी सन् १९२१ को ७८ वर्षकी उम्रमें प्रिंस क्रोपाटकिनका देहांत हो गया। सोविएट सरकारने कहा कि हम गवर्नमेंटकी ओरसे उनकी अंत्येष्टि-क्रिया करना चाहते हैं; पर उनकी पत्नी तथा लड़कीने इसे अस्वीकार कर दिया। अराजकवादियोंने मजदूर-संघके भवनसे उनके शवका जुलूस निकाला। २० हजार मजदूर साथ-साथ थे। सर्दी इतने जोरोंकी थी कि बाजेतक बर्फके कारण जम गये! लोग काले झंडे लिये हुए थे और चिल्ला रहे थे—"क्रोपाटकिनके साथी-संगियों को—अराजक-वादी बंधुओंको—जेलसे छोड़ो।"

सोविएट सरकारने डिमिट्रोफका छोटा-सा घर क्रोपाटकिनकी विधवा पत्नीको रहनेके लिए दे दिया और उनका मास्कोवाला मकान उनके

मित्रों और भक्तोंको दे दिया, जहां उनके ग्रंथ, कागज-पत्र, चिट्ठियां तथा अन्य वस्तुएं सुरक्षित हैं। क्रोपाटकिनके जो मित्र तथा भक्त संसारमें पाये जाते हैं उन्हीं की सहायतासे इस संग्रहालयका संचालन हो रहा है।

स्वाधीनताका यह अद्वितीय पुजारी युग-युगांतरतक अमर रहेगा। उसका व्यक्तित्व हिमालयके सदृश महान और आदर्शवादिता गौरीशंकर-शिखरकी तरह उच्च है!